प्रकाशक—
शेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी,
ऑनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावक मंडल,
चौकसी चेम्बर, खाराकुवा जौहरी बाजार, बम्बई न. २



मुद्रक—
रघुनाथ दीपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६ केलेवाड़ी, बम्बई न. ४

प्रशमरतिप्रकरणकी विषय-सूची।

प्रकाशकका निवेदन ।



श्रीमदुमास्वातिका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र' (मोक्षशास्त्र) रा० च० जैनशास्त्रमाला बहुत पहले प्रकट कर चुकी है, अब उनकी यह दूसरी सुन्दर रचना प्रशमरतिप्रकरणके प्रकाशित करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

इस ग्रंथकी भी दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें मान्यता है। इसका उल्लेख धवलाटीकामें श्रीवीरसेनाचार्यने किया है।

इस ग्रंथपर दो संस्कृत टीकायें श्वेताम्बराचार्यकृत अभीतक मुद्रित हुई हैं। इसमें प्राचीन टीका श्रीहरिभद्रसूरिकी है, जो इसमें मुद्रित है। यह टीका जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगरसे वीर सं० २४३६ में मुद्रित हुई थी, जो अब अप्राप्य है। दूसरी टीका देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंडसे १० वर्ष पहले छपी है, जो प्राप्य है।

लगभग ५।६ वर्ष पहले इस ग्रंथका अनुवाद स्याद्वाद महाविद्यालय काशीके प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शुरू किया था, पर पं० जीको अवकाश न होनेसे साहित्याचार्य पं० राजकुमारजी शास्त्रीने पूरा किया। पं० जीने मुद्रित प्रति और ४–५ हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे मूल और संस्कृतटीकाका संशोधन सम्पादन बड़े परिश्रमसे किया है, भाषाटीका भी बहुत सुन्दर और सरल लिखी है। इसलिए दोनों विद्वानोंको जितना धन्यवाद दिया जावे थोड़ा है।

प्रोफेसर राजकुमारजी इस ग्रन्थकी एक विस्तृत प्रस्तावना लिख रहे हैं, ग्रन्थको शीघ्र प्रकाशमें लानेकी दृष्टिसे वह इस ग्रन्थके साथ नहीं दी जा सकी है। महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना पूर्ण होते ही उसे पृथक् प्रकाशित करके पाठकोंके मँगानेपर भेज दी जायगी।

जैनधर्मप्रसारक सभाके साहित्यसेवी मंत्री स्व० शेठ कुँवरजी आणंदजी और देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंडके ट्रस्टी शा० जीवनचन्दजी साकरचन्द्रजी जौहरीने अप्राप्य मुद्रित प्रतियाँ देनेकी कृपा की, इसलिए इन्हें भी धन्यवाद है। रायचंद्रजैनशास्त्रमालामें २–३ नये ग्रंथोंका प्रकाशन हो रहा है, जो अगले वर्षतक प्रकट होंगे।

जौहरी बाजार
रक्षाबन्धन सं० २००७

निवेदक
—मणीलाल जौहरी



नमो वीतरागाय

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायां

श्रीमदुमास्वातिविरचितं

प्रशमरतिप्रकरणम्

श्रीहरिभद्रसूरिविरचितटीकाङ्कितं

हिन्दीभाषानुवादसहितञ्च ।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्

[1]प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः ।
तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे ॥ १ ॥

प्रशमरतिप्रकरणारम्भे मङ्गलाभिधानं विवक्षितप्रकरणार्थस्याप्रत्यूहेन परिसमाप्त्यर्थमित्याह—

कारिका—नाभेयाद्याः सिद्धार्थराजसूनुचरमाश्चरमदेहाः ।
पञ्चनवदश च दशविधधर्मविधिविदो जयन्ति जिनाः ॥ १ ॥

संस्कृत टीका—नाभिः कुलकरः । नाभेरपत्यं नाभेयः ऋषभनामा आदिदेवः, स आद्यो येषां तीर्थकृतां ते नाभेयाद्याः । सिद्धार्थो राजा, तस्य सूनुर्वर्धमानाख्यः, स चरमः पश्चिमो[2] येषां ते सिद्धार्थराजसूनुचरमाः । चरमः पश्चिमो देहो येषां ते चरमदेहाः । ततः परं संसृतेरभावादन्यशरीरग्रहणासंभवः, कर्माभावात् पञ्चेन्द्रियादिप्राणदशकाभावः, तदभावाच्च शरीराभावः, ततः सांसारिकसुखातीता एकान्तिकात्यन्तिकानतिशया निरावाधस्वाधीनमुक्तिसुखभाजः संवृत्ता इत्यर्थः । कियन्तस्ते पुनः ? इति संख्यां निरूपयति–' पञ्चनवदश च ' इति, कृतद्वन्द्वसमासाः चतुर्विंशतिः ' इत्यर्थः । अन्ये तु पञ्चादिषु त्रिष्वपि पदेषु प्रथमाबहुवचनं विदधति । ' च ' समुच्चये । ' सर्वे च ते शास्तारो भव्यसत्त्वानामुपदेष्टारो धर्मस्य दशविधस्य क्षमादेर्ब्रह्मचर्यावसानस्य ' इत्याह–'दशविधधर्मविधिविदः ' इति । विधिः प्रकारः क्षमादिस्तं विदन्तीति । स चोपरिष्टाद्वक्ष्यते–' सेव्यः[3] क्षान्तिर्मार्दव ' इत्यादिना । विदित्वा[4] च केवलज्ञानेनोपादिशन्ति

१ प्रशमस्थितेन प० । २ पश्चिमो वर्द्धमानाख्यो–प० पश्चिमाख्यो–मु० । ३ सेव्य प० । ४ विदित्वा के-मु० ।

मुमुक्षुभ्यः सत्त्वेभ्यः त एवंविधा जयन्ति सर्वान् अन्यतीर्थकृतोऽभिभूय त एव जयन्ति नान्ये। यथाह आचार्यः सिद्धसेनः—[1]

"अन्येऽपि मोहविजयाय निपीड्य कक्षामभ्युत्थितास्त्वयि विरूढसमानमानाः।
अप्राप्य ते तव गतिं कृपणावसानास्त्वामेव वीर शरणं ययुरुद्वहन्तः॥१॥"

के पुनस्ते नाभेयाद्याः सिद्धार्थराजसूनुचरमाः? इत्याह—'जिनाः' इति। रागद्वेषजेतारो जिनाः। रागद्वेषौ वक्ष्यमाणौ मोहनीयकर्मप्रकृतेर्भेदौ, तद्ग्रहणाच्च सकलमोहप्रकृतिभेदग्रहणम्, तज्जये च ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणि क्षयमुपयान्तीति। अतो घातिकर्मचतुष्टयक्षयात् केवलज्ञानभास्कराविर्भावः। अतो रागद्वेषग्रहणं सूचनमात्रमिति॥१॥

भाषाटीकाकारका मङ्गलाचरण

सूरिः श्रीमदुमास्वाती, राजतां मे चिदम्बरे।
सन्मार्गदर्शिका यस्य, मुमुक्षूणां सदुक्तयः॥

दोहा-मङ्गलमय मङ्गलकरन, मङ्गल-सिद्धि-निधान।
मेरे मन-मन्दिर बसो, उमास्वाति भगवान॥

इस प्रशमरति नामके प्रकरणके प्रारम्भमें इसकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए ग्रन्थकार मङ्गलाचरण करते हैं:—

अर्थ—नाभिरायके पुत्र श्रीवृषभदेवको आदि लेकर राजा सिद्धार्थके पुत्र श्रीवर्धमानस्वामी पर्यन्त दश प्रकार धर्मकी विधिके जाननेवाले चरमशरीरी चौबीस जिनदेव जयवन्त हैं।

भावार्थ—श्रीवृषभदेव इस युगके प्रथम तीर्थंकर हैं और श्रीवर्धमानस्वामी अन्तिम तीर्थंकर हैं। सभी तीर्थंकर चरमशरीरी होते हैं। तीर्थंकरके भवके बाद उनके संसारका अन्त होनेके कारण वे अन्य शरीर धारण नहीं करते। तथा कर्मोंका अभाव होनेसे इन्द्रिय और प्राण भी उनके नहीं रहते। अतः उनके नये शरीरका अभाव हो जाता है। और शरीरका अभाव हो जानेसे सांसारिक सुखसे मुक्त होकर एकान्तिक, आत्यन्तिक, निरतिशय और बाधारहित मुक्तिके सुखका अनुभवन करते हैं। वे तीर्थंकर ५+९+१०=२४ हैं। वे सभी क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश धर्मोंको जानकर मोक्षके इच्छुक भव्य जीवोंको उनका उपदेश देते हैं, अतः वे धर्मकी दस विधियोंके ज्ञाता कहे जाते हैं। तथा राग और द्वेषके जीतनेवाले होनेके कारण वे सभी जिन कहलाते हैं। राग और द्वेष मोहनीय कर्मके भेद हैं। उनके ग्रहणसे मोहनीयके सब भेदोंका ग्रहण समझना चाहिए। और मोहनीयको जीत लेनेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म नष्ट हो जाते हैं। अतः चार घातिकर्मोंके क्षय हो जानेसे केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हो जाता है। इस प्रकारके वे तीर्थंकर अन्य मतोंके तीर्थंकरोंको परास्त करके जयवन्त होते हैं। क्योंकि अन्य तीर्थंकरोंमें ये सब गुण नहीं पाये जाते। जैसा कि आचार्य सिद्धसेनने कहा है:—

"भगवन्! अन्य देव आपके उत्कर्षको सहन न करके मोह-विजयके लिए तैयार हुए; परन्तु वे

---

[1] द्वा० २ का० १०

मोहको नहीं जीत सके। उन्हें आपका पद प्राप्त नहीं हो सका। उनका प्रयत्न निष्फल गया और अन्तमें वे आपकी ही सफल शरणमें आगये।"

भरतक्षेत्रसंभूततीर्थकृच्चतुर्विंशतेः प्रकरणकारो नमस्यां विधाय संम्प्रति समस्तकर्मभूमिवर्तिनो जिनादीन् प्रणिधित्सुराह—

भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए चौबीस तीर्थकरोंको नमस्कार करके अब समस्त कर्मभूमिके तीर्थंकर आदिको नमस्कार करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार कहते हैं:—

जिनसिद्धाचार्योपाध्यायान् प्रणिपत्य सर्वसाधूंश्च।
प्रशमरतिस्थैर्यार्थं वक्ष्ये जिनशासनात् किञ्चित् ॥२॥

टीका—पूर्वोक्तलक्षणा जिनाः, तीर्थकृतः सामान्यकेवलिनो वा। सिद्धास्तु निष्ठितसकलप्रयोजनाः सकेल कर्मविनिर्मोक्षाल्लोकशिखराध्यासिनः स्वाधीनसुखाः साद्यपर्यवसानाः। पञ्चविधाचारस्थास्तदुपदेशदानादाचार्याः परमार्षप्रवचनार्थनिरूपणे निपुणाः। उपेत्य उपगम्य यतोऽधीयन्ते शिष्याः इति उपाध्यायाः सकलदोषरहितसूत्रसंप्रदाः। अत्र द्वन्द्वसमासस्तान्। ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणाभिः पौरुषेयीभिः शक्तिभिर्मोक्षं साधयन्तीति साधवः। सर्वग्रहणाद्येऽप्यन्ये प्रतिपन्नाः समस्तसावद्ययोगविरतिलक्षणं सामायिकं तेऽपि प्रणिपाताही इति दर्शयति। अथवा सर्वशब्दः सर्वानेवापेक्षते मध्यवर्तित्वात्। 'सर्वान् जिनान् सर्वान् सिद्धान्, सर्वानाचार्यान्, सर्वानुपाध्यायान्, सर्वसाधूंश्च प्रणिपत्य' इति प्रत्येकमभिसम्बन्धः।

एवमिष्टदेवतोद्देशेनाभिहितः प्रणिपातः। तदनन्तरमारादुपकारित्वादाचार्यादीनपि प्रणम्य अन्वर्थसंज्ञायुक्तप्रकरणक्रियां प्रतिजानीते, प्रतिविशिष्टप्रयोजनं च दर्शयति कारिकार्द्धेन—'प्रशमरतिस्थैर्यार्थम्' इति।

अर्थ—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओंको नमस्कार करके 'प्रशमरति' अर्थात् वैराग्यमें प्रीतिको दृढ करनेके लिए जिनशासनके आधारपर कुछ कहूँगा।

भावार्थ—जिनका लक्षण पहले कह आये हैं। तीर्थंकरोंको अथवा सामान्य केवलियोंको जिन कहते हैं। जिनके सभी प्रयोजन पूरे हो चुके हैं, अर्थात् जो कृतकृत्य हैं। जिन्हें कुछ करना बाकी नहीं है। तथा समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जानेसे जो लोकके अग्र भागमें विराजमान हैं, जिनका सुख स्वाधीन है और जो सादि होते हुए भी अन्तरहित है, वे सिद्ध हैं। जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाँच आचारोंका स्वयं आचरण करते हैं और दूसरोंको उनका उपदेश देते हैं, वे आचार्य हैं। ये परमार्थके लिए लाभकारी शास्त्रके अर्थ करनेमें निपुण होते हैं, अर्थात् जिनागमके ज्ञाता और कुशल व्याख्याता होते हैं। जिनके समीपमें जाकर शिष्यवर्ग सकल दोषोंसे रहित सूत्र-ग्रन्थोंका अध्ययन करता है, वे

१ साम्प्रतं मु०। २ सर्वक-मु०। ३—श भावाद्वा प०। ४ पारमर्षप्र—प०। ५ सूत्रप्रदाः प०। ६—द्येप्यद्यप्र-मु०। ७ सर्वोपाध्यायान् मु०।

उपाध्याय हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी अपनी शक्तिके द्वारा जो मोक्षकी साधना करते हैं, वे सर्वसाधु हैं। साधुके पहले 'सर्व' विशेषण लगानेसे ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि जिन्होंने आज ही समस्त पापमयी प्रवृत्तियोंके त्यागरूप सामायिक संयमको धारण किया है, वे भी नमस्कार किये जानेके योग्य हैं। अथवा सर्व शब्द मध्यमें होनेके कारण पाँचोंके साथ लगाया जाता है। अर्थात् सब[1] तीर्थंकरोंको, सब सिद्धोंको, सब आचार्योंको, सब उपाध्यायोंको और सब साधुओंको नमस्कार करके इत्यादि।

इस प्रकार इष्ट देवताके उपदेशसे अरहन्त और सिद्धोंको तथा निकट उपकारी होनेके कारण आचार्य वगैरहको भी नमस्कार करके कारिकाके 'प्रशमरतिस्थैर्यार्थम्' इत्यादि उत्तरार्द्धसे ग्रन्थके नामकी सार्थकता तथा प्रयोजनको बतलाते हुए ग्रन्थकार ग्रन्थ बनानेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

अरक्तद्विष्टता प्रशमो वैराग्यमिति। वक्ष्यति उपरि 'माध्यस्थ्यं वैराग्यम्' इत्यत्र। तत्र वैराग्यलक्षणे प्रशमे रतिः शक्तिः प्रीतिः तस्यां स्थैर्यं निश्चलता प्रशमरतिस्थैर्यम्। अर्थशब्दः प्रयोजनवचनः। 'प्रशमरतौ कथं नाम स्थिरो मुमुक्षुर्भव्यः स्यात्' इत्यतो वक्ष्ये प्रकरणम्। तच्च जिनशासनादेव वक्ष्यामि, अन्यत्र प्रशमाभावात्। यतः सर्वाश्रवनिरोधैकरसं हि जैनं शासनम्। न चान्यदेवंविधमस्ति। प्रशमकारि प्रवचनं शासनं द्वादशाङ्गमाचारादिदृष्टिवादपर्यन्तम्, तच्च रत्नाकरवदनेकाश्चर्यनिधानम्, तस्मात् किञ्चिद् मनाक् वक्ष्ये। समस्ताभिधाने यद्यपि शक्तिर्नास्ति, तथापि ग्रहणधारणार्थावधारणपरिदुर्बलानां भव्यानां स्वल्पोऽपि प्रशमामृतबिन्दुर्हृदयेषु पातितो महान्तमुपकारं प्रसूते उपकर्तुश्च भव्योपकारः स्वपरहितप्रतिविशिष्टफलदायी जायत इति तदाह—'वक्ष्ये जिनशासनात् किञ्चित्'॥ २॥

राग और द्वेषके अभावको प्रशम कहते हैं। इसीका नाम वैराग्य है, जैसा कि ग्रन्थकार 'माध्यस्थ्यं वैराग्यम्' इत्यादि कारिकासे आगे बतलावेंगे। उस वैराग्य रूप प्रशममें जो रति अर्थात् प्रीति, उसमें जो निश्चलता अर्थात् वैराग्यमें प्रीतिका स्थिर रहना सो 'प्रशमरतिस्थैर्यम्' है। तथा 'अर्थ' से अभिप्राय प्रयोजनका है। जिससे ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि 'प्रशमरति' में—वैराग्यके प्रेम में—मुमुक्षु भव्य जीव किस प्रकार स्थिर हों, इसी प्रयोजनसे मैं इस ग्रन्थको कहूँगा। तथा जो कुछ कहूँगा वह जिनशासनके आधारसे ही कहूँगा, क्योंकि अन्य धर्मोंमें प्रशमका अभाव है। जिनशासनका यदि कोई एक रस है तो वह सब प्रकारके आस्रवोंका रोकना ही है। किन्तु अन्य मतोंमें यह बात नहीं है।

आचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवादपर्यन्त समस्त द्वादशाङ्गरूप प्रवचन प्रशम—वैराग्यको करनेवाला है तथा रत्नाकर—समुद्रकी तरह अनेक अचरजभरी बातोंका आकर—खानि है। उससे लेकर कुछ

१ सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोकशब्दावन्तदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादिदेवताप्रणमनार्थम्।" [पाँचों परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें इस णमोकार मंत्रमें जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं, वे अन्तदीपक हैं। अतः सम्पूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहन्त आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिए।] धवला टीका, प्रथमखण्ड, पृ० स० ५२

२ करणार्थावकरणा—प०।

कहूँगा। यद्यपि समस्त द्वादशाङ्गके कथन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, तथापि ग्रहण, धारण और अर्थका निश्चय करनेमें भी जीव अत्यन्त दुर्बल हैं। अर्थात् जो समस्त अर्थको न तो ग्रहण कर सकते हैं, न अपनी स्मृतिमें रख सकते हैं, और न उनका अर्थ ही समझ सकते हैं, उन जीवोंके हृदयोंमें गिराई गई प्रशमरूपी अमृतकी दो-चार बूँदें भी महान् उपकार करती हैं और उपकार करनेवालेका यह उपकार अपने और दूसरोंके हितके लिए विशेष फलदायक होता है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि जिनशासनसे लेकर कुछ कहूँगा।

'वक्ष्ये' इत्युक्तम्। अबहुश्रुतानां तु संकष्टस्तत्र प्रवेश इति आर्याद्वयेनाह—

अल्पज्ञानियोंका जिनशासनमें प्रवेश करना कठिन है, यह बात दो कारिकाओंसे कहते हैं:—

यद्यप्यनन्तगमपर्ययार्थहेतुनयशब्दरत्नाढ्यम्।
सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुमबहुश्रुतैर्दुःखम् ॥३॥

टीका—समस्ताभिधानमशक्यं यद्यपि बहुश्रुतेनास्मद्विधेन सर्वज्ञशासनपुरप्रवेशाभावादेव। तद्धि परमदुर्गं दुरवगाहम् अनन्तगमपर्यायार्थत्वात्। तथा चोक्तम्—'अणंतगमपज्जवं सुत्तम्' इति। अर्थो हि अनन्तैर्गमैः पर्यायैश्च यस्य सर्वज्ञशासनपुरस्य तदनन्तगमपर्यायार्थम्। गमाः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सप्त विकल्पाः। पर्यायास्तु प्रकृतवस्त्वपेक्षाः सूत्रपदस्यैकस्यार्था बहवः। हेतुः कारणमात्रम्, अन्वयव्यतिरेकवान् वा। अनेकरूपज्ञेयालम्बना अध्यवसायविशेषा नैगमसंग्रहादयो नयाः हस्तिदर्शनेऽन्धानामध्यवसायवत् उत्तरोत्तरसूक्ष्मदर्शनात्। शब्दप्राभृताभिहितलक्षणाः साधुशब्दाः प्राकृताः संस्कृताश्च। शब्दप्राभृतं च पूर्वान्तःपाति, यत इदं प्राकृतव्याकरणं संस्कृतव्याकरणं चाकृष्टम्। अनन्तगमपर्यायार्थहेतुनय शब्दा एव रत्नानि व्याख्यातुर्गिरां मण्डनानि भूषणानि, एभिराढ्यं ऋद्धिमत्। आढ्यशब्दः प्रभूतवचनः। अनन्तशब्दो वा सर्वत्राभिसम्बध्यते—अर्थस्यानन्त्याद्धेतवो नयाः शब्दाश्चानन्ताः। तथा आढ्यशब्द आकुलवचनः, तैराढ्यम् 'आकुलं गहनम्' इति। तदेवंविधं सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुम्-अन्तर्निपत्य ज्ञातुम्, अबहुश्रुतैः—अनधिगतसकलपूर्वार्थैः, दुःखम्—अशक्यमेव, 'वर्तते' इति शेषः, प्रवेष्टुमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अर्थ—यद्यपि अनन्त भङ्ग, पर्याय, अर्थ, हेतु, नय और शब्दरूपी रत्नोंसे भरपूर सर्वज्ञ-शासन रूप नगरमें अल्पज्ञानियोंका प्रवेश करना दुष्कर है।

भावार्थ—जिनशासन एक नगरके समान है। जैसे दुर्ग वगैरहके कारण नगरमें प्रवेश करना कठिन होता है, वैसे ही अनन्त भङ्ग, पर्याय वगैरहसे भरपूर होनेके कारण मेरे जैसे अल्प ज्ञानी उस जिनशासन नगरमें प्रवेश नहीं कर सकते। वस्तु कथञ्चित् है, कथञ्चित् नहीं हैं, इत्यादि सात भङ्गोंको गम कहते हैं। एक वस्तुमें काल-क्रमसे होनेवाली हालतोंको पर्याय कहते हैं। जैसे मिट्टीकी पर्याय घड़ा वगैरह। शब्दोंके

१ नास्ति वाक्यमिदं प० प्रतौ। २ पर्यायार्थ प०। ३ दुर्ग-दुर—मु०। ४ पर्ययैश्च मु०। ५ पर्ययार्थम् मु०। ६ पर्ययास्तु मु०।

भावको अर्थ कहते हैं। कारणके अथवा साध्यके साथ जिसकी व्याप्ति हो उसे हेतु कहते हैं। जिस प्रकार अन्धे मनुष्योंको हाथीके एक एक अङ्गका ज्ञान होता है, उसी प्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तुके एक एक धर्मको लेकर जो ज्ञानविशेष होते हैं, उन्हें नय कहते हैं। उनके भेद नैगम, संग्रह वगैरह हैं। इनका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता है। चौदह पूर्वोंके अन्तर्गत शब्दप्राभृतमें जिनका लक्षण कहा गया है, उन संस्कृत और प्राकृतके शुद्ध शब्दोंको शब्द कहते हैं। शब्दप्राभृतके आधारपर ही संस्कृत और प्राकृतके व्याकरण बने हैं। अनन्त शब्द प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए। इस तरह सर्वज्ञदेवका शासन अनन्त भङ्गोंसे, अनन्त पर्यायोंसे, अनन्त अर्थोंसे, अनन्त हेतुओंसे, अनन्त नयोंसे और अनन्त शब्दोंसे बडा गहन हो गया है। उसमें जो बहुश्रुत नहीं है, जिन्होंने अङ्ग-पूर्वरूप सकल शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है, उनका प्रवेश पाना अशक्य ही है।

'यद्यपि' इति अपेक्षमाण इदमाह—

तथापि—

श्रुतबुद्धिविभवपरिहीणकस्तथाप्यहमशक्तिमविचिन्त्य ।
द्रमक इवावयवोञ्छकमन्वेष्टुं तत्प्रवेशेप्सुः ॥४॥

[1]यद्यपि अशक्यप्रवेशं सर्वज्ञशासनपुरमस्माद्विधेन तथापि [2]श्रुतबुद्धिविभवपरिहीणोऽपि अधिगतसकलपूर्वार्थविभवस्तेन परिहीनः परित्यक्तः, तथा बुद्धिविभवपरिहीणकश्च—बुद्धेर्विभवः कोष्ठबुद्धित्वं बीजबुद्धित्वं पदानुसारित्वमित्यादि[3]। 'अहम्' इति आत्मानं निर्दिशति प्रकरणकारः। [4]अशक्तिमात्मगतामविचिन्त्य अनपेक्ष्य अनादृत्यात्मनोऽसामर्थ्यं सोऽहं समुद्यतः कर्तुं द्रमक इव। द्रमको निःस्वो रङ्कः। स हि देवताबलिसिक्थान्यप्युच्चित्योच्चित्य[5] विप्रकीर्णानि पोषमात्मनः करोति-लूनकेदारिक इव व्रीहिकणान् भुवि निपतितान् उच्चित्य शरीरस्थितिं विधत्ते। तेषां विप्रकीर्णानां संचयनमुञ्छमेव उञ्छकम्। एवमहमपि पूर्वपुरुषसिंहैर्महामतिभिराकृष्यमाणे प्रवचनार्थेऽनेकशो यदवयवजातमाकर्षतां शटितं किञ्चित् तदन्वेष्टुं गवेषयितुं सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुमिच्छामि। परिशटितावयवोच्चयनमात्रकेण सर्वज्ञशासनपुरप्रवेशमाप्तुमिच्छामीत्यर्थः। [6]आर्याद्वयस्य उपनयो यथा—यद्वद् रत्नाढ्यपुरमन्तःप्रवेष्टुमविभवैः सकष्टं तद्वत् सर्वज्ञशासनमवबोद्धुं सकष्टं वर्तत इत्यर्थः॥४॥

अर्थ—शास्त्राभ्यास और बुद्धिकी सम्पदासे बिलकुल हीन होनेपर भी मैं अपनी असमर्थताको न विचार कर, जैसे कोई रङ्क मनुष्य धान्यके कणोंको बीननेके लिए नगरमें प्रवेश करना चाहता है, वैसे ही प्रवचनके कणोंको खोजनेके लिए मैं सर्वज्ञ-शासनरूपी नगरमें प्रवेश करना चाहता हूँ।

भावार्थ—मैंने न तो समस्त शास्त्रोंका ही पूरा पूरा अभ्यास किया है, और न मेरी बुद्धि ही अलौकिक है। अतः मेरे पास न तो शास्त्रकी सम्पदा है और न कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी

१ यद्यपीत्यारभ्य 'अस्मद्विधेन' पर्यन्तः पाठो नास्ति मु० प्रतौ। २ श्रुतविभव—प०। ३—नुचारि—प०। ४ अहमश—प०। ५—न्यप्युचित्य वि—प०। ६ 'आर्याद्वयस्य' यत्यारभ्य 'वर्तते इत्यर्थः' पर्यन्तः पाठो नास्ति प० प्रतौ।

वगैरह बुद्धिकी ही सम्पदा है। फिर भी जिस प्रकार कोई दीन-हीन मनुष्य देवताको चढाये गये प्रसादके इधर-उधर पड़े हुए कणोंको बीन बीन कर अपना पेट भरता है, या खेतोके काट लिए जानेपर जमीनमें गिरे हुए धान्यके कणों (सिला)से अपना निर्वाह करता है, उसी प्रकार मैं भी–पूर्वश्रेष्ठ पुरुषोने अपनी बुद्धिसे अनेक वार प्रवचनके जिस अर्थका आलोडन किया है और ऐसा करते समय प्रवचनके अर्थके जो कुछ कण इधर-उधर छिटक गये हैं—उन्हें खोजनेके लिए सर्वज्ञ-शासनरूपी नगरमें प्रवेश करना चाहता हूँ। अर्थात् जिनशासनके अन्दर घुसकर उसके रहस्योको निकालना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है; किन्तु दूसरोने उसमें घुसकर जो कुछ सोचा है, उनकी खोजके फलस्वरूप पड़े हुए कुछ ज्ञानके कण शायद मुझे भी मिल जावें, इसी लिए मैं जिनशासनमें प्रवेश करना चाहता हूँ। सारांश यह है कि जिनशासनको समझना बड़ा कठिन है।

तामेवोञ्छवृतितामात्मनो दर्शयति कारिकाद्वयेन—

दो कारिकाओंसे अपनी उसी पूर्व वृत्तिको दर्शाते हैं:—

बहुभिर्जिनवचनार्णवपारगतैः कविवृषैर्महामतिभिः ।
पूर्वमनेकाः प्रथिताः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयः ॥ ५ ॥

टीका—'जिनवचनमर्णव इव, पारगमनाशक्यत्वान्मन्दमतिभिः। महामतिभिस्तु बुद्धिविभवप्राप्तैः सुगमपारः' इति दर्शयति। जिनवचनार्णवपारगतैर्बहुभिर्महामतिभिश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः शास्त्रप्रतिबद्धकाव्यकरणनिपुणैः सत्कविभिः शब्दार्थदोषरहितकाव्यकारिभिः कविवृषैः कविप्रधानैर्मत्तैः पूर्वं प्रथमतरमेव अनेका बह्वयः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयः प्रथिताः प्रकाशिताः। प्रशमो वैराग्यम्, स जन्यते येन शास्त्रेण तत् प्रशमजननशास्त्रम्, तस्य पद्धतयो रचना 'वैराग्यवीथयः' इत्यर्थः। तैर्महामतिभिर्या विरचिताः शास्त्रपद्धतयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन वचनरूप समुद्रके पारको प्राप्त हुए महामति कविवरोंने पहले वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले अनेक शास्त्र रचे हैं।

भावार्थ—जिनभगवान्के वचन समुद्रके समान हैं, क्योंकि मन्दबुद्धिवाले जीव उनका पार नहीं पा सकते। पर बुद्धिकी सम्पदासे युक्त महामति पुरुष उसे सुगमतासे पार कर सकते हैं। यही बात दर्शाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि मुझसे पहले चौदह पूर्वके जाननेवाले और शास्त्रके विषयको लेकर काव्य बनानेमें निपुण अनेक श्रेष्ठ कवियोने वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले शास्त्रोंकी रचना की है।

द्वितीयकारिकां वक्ति—दूसरी कारिकाको कहते हैं.—

ताभ्यो विसृताः श्रुतवाक्पुलाकिकाः प्रवचनाश्रिताः काश्चित् ।
पारम्पर्यादुच्छेषिकाः कृपणकेन संहृत्य ॥ ६ ॥

टीका—ताभ्यो विसृता विनिर्गता श्रुतग्रन्थानुसारिण्यो वाचः प्रधानार्थप्रतिबद्धाः या विप्लु-(प्रु)ष इव पुलाकिका पुलओरूपा निस्सारा या. शटिताः प्रधानार्थाः। प्रवचनानुसारिण्यो द्वादशाङ्गार्थानुगताः। तत्रापि काश्चिदेव न सर्वाः संभाविताः। पारम्पर्यादुत्सेपिका इति गणधर-शिष्यैश्चतुर्दशादिपूर्वधरैरेकादशाङ्गविद्भिश्च प्रवचनाभ्यवहारं[1] कुर्वद्भिरुत्सेपिकाः परिशाटीप्रायाः[2] कृताः, कृपणकेन रङ्केन इव[3] संहृत्य संपीड्य ॥ ६ ॥

अर्थ—उनसे निकले हुए श्रुतवचनरूप कुछ कण द्वादशाङ्गके अर्थके अनुसार हैं। परम्परा-से वे बहुत थोड़े रह गये हैं, परन्तु मैंने उन्हें रङ्कके समान एकत्रित किया है।

भावार्थ—उन महामति आचार्योंने जो शास्त्र रचे हैं, उनमेंसे जो शास्त्र-वचनरूपी कण निकले हैं, उन कणोंमेंसे कुछ जिनशासनके अनुसार हैं, क्योंकि उन्हीं शास्त्रोंकी कुछ बातोको लेकर मिथ्यादृष्टियोंने भी अपने आगम बना डाले हैं। अतः उनसे निकले हुए सभी वचन-कण जिन-शासनके अनुसारी नहीं हैं। गणधरोंकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परासे उन वचन-कणोंको जब प्रवचनका रूप मिला तो वे और भी संक्षिप्त हो गये। गरीब रङ्कके समान उन्हीं कणोको एकत्र करके मैंने यह शास्त्र रचा है।

'किं कृतम्' इत्याह—क्या किया ? सो कहते हैं—

तद्भक्तिबलार्पितया मयाप्यविमलाल्पया स्वमतिशक्त्या।
प्रशमेष्टतयाऽनुसृता विरागमार्गैकपदिकेयम् ॥ ७ ॥

टीका—यैस्ता श्रुतवाक्पुलाकिका विसृता मुक्तास्तेषु भक्तिः प्रीतिसेवा[4] तासु, वा श्रुतवाक्-पुलाकिकासु भक्तिस्तावन्मात्रेणैव परितोषात्, तद्भक्तेर्बलं सामर्थ्यं तेन तद्भक्तिबलेन अर्पिता उपनीता स्वमतिशक्तिः विशेषात्तद्भक्तिरेव बलात्प्रोत्साहयति मे स्वमतिशक्तिं जनयति वा, तया तद्भक्तिबलार्पितया स्वमतिशक्त्या, मयाऽपि तदुक्त्यनुसारेण प्रथिता। पुनः तस्या एव विशेषणम्, 'प्रविमलाल्पया' इति। ज्ञानावरणकर्मकलुषितत्वादविमला, अल्पा स्तोका। यतश्चतुर्दशपूर्वधरा अपि षट्स्थानपतिता भवन्ति किं पुनरस्मदादयः ? कः पुनरयं नियोगोऽवश्यतया प्रकरणं कर्तव्यम् ? इत्याह-प्रशमेष्टतया। इष्टस्य भाव इष्टता, प्रशमस्येष्टता प्रशमेष्टता प्रशमवल्लभता, तया हेतुभूतया, विरागमार्ग एव एकपदं यस्या विरागपथं स्थानम् आश्रयो यस्याः सेयं विरागमार्गैकपदिका कृतेति ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रुतवचन रूप धान्यके कणोंमें मेरी जो भक्ति है, उस भक्तिके सामर्थ्यसे मुझे जो अवि-मल—मलसहित और थोड़ी बुद्धि प्राप्त हुई है, अपनी उसी बुद्धि-शक्तिके द्वारा वैराग्यके प्रेमवश मैंने वैराग्य-मार्गकी पगडंडीरूप यह रचना की है।

१ प्रवचनाव्यवहा—ब। २ नास्ति पदमिदं प० प्रतौ। ३ इव च स—ब०। ४ प्रीतिः सेवा मु०। ५ नास्ति पदद्वयमिदं प० प्रतौ। विशेष्यात्त-मु०। ६ एकं पदं मु०।

भावार्थ—मुझे जो कुछ बुद्धि प्राप्त हुई है वह, जिनसे श्रुतवचनरूप धान्यके कण निकले हैं, उनमें अथवा श्रुतवचनरूप धान्यके कणोंमें मेरी जो भक्ति-श्रद्धा है, उसीका प्रसाद है। तथा ज्ञानावरणसे कलुषित होनेके कारण मेरी बुद्धि निर्मल भी नहीं है और थोड़ी भी है। जब चौदह पूर्वके पाठियोंका ज्ञान भी षट्स्थानपतित हानि वृद्धिको लिए हुए होता है, तब हमारे जैसे प्राणियोके ज्ञानकी कथा ही क्या है?

शङ्का—क्या यह कोई नियोग है कि ग्रन्थ अवश्य बनाना ही चाहिए।

समाधान—मुझे वैराग्य बहुत प्रिय है। अत बुद्धि और शक्ति अल्प होनेपर भी उसी प्रेमवश मैंने वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली यह छोटीसी रचना की है।

ननु च उच्छिष्टाः श्रुतवाक्पुलाकिकाः परिगृह्य या रचिता, कथं सा सतां सम्मता भविष्यतीत्याह—

दूसरोके द्वारा छोड़े गये जिनवाणीके कणोंको लेकर की गई रचना सज्जनोको कैसे मान्य होगी? इस आशंकाका समाधान करते हैं:—

यद्यप्यवगीतार्था न वा कठोरप्रकृष्टभावार्था।
सद्भिस्तथापि मय्यनुकम्पैकरसैरनुग्राह्या ॥८॥

टीका—अवगीतोऽनादृतः परिभूतोऽर्थो यस्याः सा अवगीतार्था यद्यपि। कथं पुनरवगीतार्थत्वमाशङ्कते? यतो न वा कठोरप्रकृष्टभावार्था। वा शब्दोऽवधारणार्थः। नैवं कठोर आक्षेपपरिहारपरिशुद्धः प्रकृष्टो वाचकैः शब्दैः प्रतिपाद्य 'नातः परमन्योऽर्थोऽस्ति' इति सकलकारककलापसाध्यः प्रकर्षभावापन्नोऽर्थो नैव यस्याम्। सद्भिः तथापि सुजनैर्गुणदोषविद्भिः मय्यनुकम्पैकरसैरनुग्राह्या। 'मयि' इति उत्सेषिकामात्रसंघट्टनशीले कृपणके द्रमकभूतेऽनुकम्पार्हे। अनुकम्पैव एको रसः स्वभावो येषां सज्जनानां तै अनुकम्पैकरसैः। इयमनुग्रहीतव्या 'अनुग्रहार्हा' इत्यर्थः। सन्तो हि करुणापात्रमवलोक्यावश्यंतयाऽनुग्रहं कुर्वन्तीति ॥ ८॥

अर्थ—यद्यपि इसमें जो कुछ कहा गया है, वह आदरके योग्य नहीं है और न उसका भाव ही गंभीर और ऊँचे दर्जेका है, तथापि दयालु सज्जनोको मुझपर अनुग्रह करना चाहिए।

भावार्थ—इस ग्रन्थमें न तो तर्क-वितर्क उठाकर शङ्कासमाधानपूर्वक आक्षेपोका परिहार ही किया गया है, और न इसमें जो अर्थ कहा गया है वह इतने उत्कृष्ट भावको लिये हुए है, कि यह कहा जा सके कि इसमें कहे हुए अर्थसे बाकी कोई अर्थ कहनेके लिए नहीं है। इसलिए कहा हुआ अर्थ आदरके योग्य नहीं है। फिर भी मै चावलके कणोको बीननेवाले रङ्क मनुष्यके समान दयाका पात्र हूँ, और सज्जनोंका स्वभाव दया करनेका ही होता है, अतः वे मुझपर कृपा करके मेरी इस रचनापर भी अवश्य ही कृपा करेंगे।

'अयमेव स्वभाव सज्जनानाम्' इति दर्शयन्नाह—

सज्जनोका यही स्वभाव है, यह बतलाते हैः—

१ न च क—मु०।
२ प्र०

कोऽत्र निमित्तं वक्ष्यति निसर्गमतिसुनिपुणोऽपि वा ह्यन्यत् ।
दोषमलिनेऽपि सन्तो यद् गुणसारग्रहणदक्षाः ॥ ९ ॥

टीका—निसर्गः स्वभावः। स्वाभाविकी मतिः सहजा निःकृत्रिमा। सा किल, अमोघा भवति। तया मत्या सुष्ठु निपुणोऽपि कुशलोऽपि कः खलु अत्र सतां सौजन्ये निमित्तं कारणमन्यद् वक्ष्यति स्वभावादृते ? न खलु मालतीपुष्पाणामाधेयः सुरभिगन्धः केनापि ? स्वभावजत्वात्। हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्मात् सुनिपुणोऽपि स्वभावमन्तरेण नान्यन्निमित्तं वर्णयितुं समर्थः, तस्मात् 'स्वभाव एवायं सतां परगुणोत्कीर्तनं दोषाभिधाने च मूकत्वम्' इति पश्चार्द्धेन दर्शयति—दोषमलिनेऽपि दोषयुक्तेऽपि परकीयवचसि गुणान् सारभूतान् गृह्णन्ते[१] सन्तः परगुणग्रहणनिपुणाः ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वाभाविक बुद्धिसे कुशल मनुष्य भी इसमें दूसरा क्या कारण बतलावेगा कि सज्जन पुरुष दोषयुक्त वस्तुमेंसे भी सारभूत गुणोंको ही ग्रहण करनेमें निपुण होते हैं।

भावार्थ—स्वाभाविक बुद्धि अकृत्रिम होनेके कारण अव्यर्थ होती है। अर्थात् स्वाभाविक बुद्धिसे जो बात जानी जाती है वह बिल्कुल ठीक होती है। ऐसी बुद्धिवाला मनुष्य भी सज्जनोंकी सज्जनतामें स्वभावके सिवाय दूसरा क्या कारण बतला सकता है ? मालतीके फूलोंमें जो सुगन्ध होती है, उसका भी स्वभावके सिवाय दूसरा क्या कारण हो सकता है ? यतः बुद्धिमान्से बुद्धिमान् आदमी भी इसमें स्वभावके सिवाय दूसरा कारण नहीं बतला सकता, अतः दूसरोंके गुणोंको कहना और दोषोंको न कहना यह सज्जनोंका स्वभाव है। इसी बातको कारिकाके उत्तरार्द्धसे ग्रन्थकार कहते हैं, कि सज्जन पुरुष दूसरोंके गुण-ग्रहण करनेमें निपुण होते हैं, अतः वे दूसरोंके दोषयुक्त वचनमें भी सारभूत गुणोंको ही ग्रहण करते हैं।

जानाम्येवाहं पूर्वपुरुषोत्सेपिकाः पुलाकिकाः समुच्चित्य रचितेयं विरागमार्गपदिका, अतो न सम्मता विदुषाम्, तथापि—

मैं जानता हूँ कि पूर्वाचार्योंकी बची खुची बातोंको लेकर मैंने वैराग्य-मार्गकी यह पगडण्डी तैयार की है, अतः यह विद्वानोंको सम्मत नहीं हो सकती। फिर भी—

सद्भिः सुपरिगृहीतं यत् किञ्चिदपि प्रकाशतां याति ।
मलिनोऽपि यथा हरिणः प्रकाशते पूर्णचन्द्रस्थः ॥१०॥

टीका—सन्तः सुजनास्तैः। सुपरिगृहीतम् आदरेण प्रतिपन्नम्। यत्किञ्चिदपि दोषवदपि निःसारमपि वा। प्रकाशतां याति, लोके प्रथते, 'विदुषां सुजनानां सम्मतमेतत्' इति परिगृहीतगुणेन प्रख्यातिमेति विद्वत्समाजेषु। तद्दर्शयति 'मलिनोऽपि' इत्यादिना। चन्द्रमण्डलमध्यवर्ती

१ गृह्णन्ति प०, गृह्णते मु०। २ नास्ति पदद्वयमिदं प० प्रतौ।

कुरङ्गः कृष्णिमानमपि बिभ्रन् प्रकाशते शोभते पूर्णचन्द्रस्थः। आश्रयगुणो हि अयं यन्मलिनोऽपि हरिणो भ्राजते। एवं यदेव सद्भिः परिगृह्यते निस्सारमपि तत्सदाश्रयादेव भ्राजत इति ॥१०॥

अर्थ—सज्जन जिस वस्तुको आदरके साथ ग्रहण कर लेते हैं, वह निःसार होनेपर भी प्रकाशमें आ जाती है। जिस प्रकार पूर्णमासीके चन्द्रमाके बिम्बके बीच रहनेवाला हिरन काला होनेपर भी प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—यह आश्रयका ही गुण है कि चन्द्रमामें रहनेवाला काला हिरन भी सुन्दर माल्म देता है। इसी प्रकार सज्जन पुरुष जिस वस्तुको स्वीकार कर लेते हैं, वह निःसार होनेपर भी सज्जनोंका आश्रय पाकर सुन्दर लगने लगती है।

तथाऽन्यदपि [२]अमुष्मिन्नेव सुजनव्यतिकरे प्रकरणकार[३] उदाहरति—

सज्जनोंके इसी व्यतिकरके सम्बन्धमें ग्रन्थकार दूसरा उदाहरण देते हैं—

बालस्य यथा वचनं काहलमपि शोभते पितृसकाशे।
तद्वत्सज्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयाति ॥ ११ ॥

टीका—बालः शिशुः अनभिव्यक्तवर्णवचनः। [४]तस्य वचनं काहलम्-ऋजु स्खलदक्षरगद्गदम्, पितु समीपे विराजते परितोषजनकत्वात् कौतुकमाधत्ते, पुनः पुनश्च तदेवानुबध्नाति पिता। 'तद्वत्' इति बालकाहलवचनवत् सज्जनानां मध्ये प्रलपितम्-असम्बद्धम् अपि प्रसिद्धिं प्रख्यातिमुपयातीति ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बालककी अस्पष्ट बोली भी माता-पिताके पासमें प्यारी लगती है, उसी प्रकार सज्जनोंके बीचमें बकवाद भी प्रसिद्धि पा जाता है।

भावार्थ—जब बालक बोलना शुरू करता है, तो उसकी तुतलाती हुई सीधी गद्गद् वाणी माता-पिताको बड़ी मीठी और प्यारी लगती है। इसी प्रकार सज्जनोंके बीच जो कुछ कहा जावे वह असम्भव और व्यर्थकर ही प्रलाप क्यो न हो, गुण-सम्पन्न सज्जनोको अच्छा ही माल्म होता है, और इससे उसे ख्याति ही मिलती है। सारांश यह है कि सज्जनोंका आश्रय पाकर मेरी असम्बद्ध रचना भी प्रसिद्ध हो जावेगी।

अत्राह[५] परः—यदि पूर्वमनेकाः प्रथिताः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयो महामतिभिः तत्कोऽयं प्रशमरतिप्रकरणकरणे पुनरादरः? ता एवाभ्यस्यनीयाः प्रशमकांक्षिणा। उच्यते—

कोई कहता है—जब महामति आचार्योंने वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले अनेक शास्त्र रचे हैं, तो इस 'प्रशमरतिप्रकरण' को बनानेमें आपका इतना आदर क्यों है? वैराग्यके इच्छुक सज्जनोंको उन्हीं पूर्व शास्त्रोका अभ्यास करना चाहिए। इसका समाधान कहते हैं:—

---

१ बिम्बं प्र—मु०। २ अस्मिन्नेव प०। ३ प्रकरणकारमुदा—मु०। ४ तद्वचन का—मु०। ५ नास्ति वाक्यमिदं प० प्रतौ।

ये तीर्थकृत्प्रणीता भावास्तदनन्तरैश्च परिकथिताः ।
तेषां बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव ॥ १२ ॥

टीका–प्रागर्थतस्तीर्थकरैः प्रणीताः । तदनन्तरा गणधराः साक्षाच्छिष्या भगवताम्, तैश्च सूत्रप्रतिबन्धेन परिकथिताः । भूयस्तदनन्तरैर्गणधरशिष्यैस्तच्छिष्यैश्च पारम्पर्येणाख्याताः । 'भावाः' इति जीवादयः पदार्था लक्षणविधानानुयोगद्वारप्रक्रमेण प्ररूपिताः । तेषां भावानाम्, बहुशः अनेकशः, पश्चात् कीर्तनम् अनुकीर्तनं मनोवाक्कायैर्बन्धमोक्षप्रक्रियानुग्रहणतया पुष्टिकरमेव भवति । पुष्टिरुपचयो ज्ञानदर्शनचारित्राणाम् । तदुपचयाच्च कर्मनिर्जरणम्, ततो मोक्ष इति नास्ति कश्चिद्दोषः ॥ १२ ॥

अर्थ—तीर्थंकरोने जिन पदार्थोंको बतलाया है और उनके पश्चात् गणधर वगैरहने जिनका विवेचन किया है, उनका बार बार कथन करना भी उनकी पुष्टि ही करता है ।

भावार्थ—पहले तीर्थंकरोने जीवादिक पदार्थोंका अर्थरूपसे कथन किया । उसके पश्चात् उनके साक्षात् शिष्य गणधरोंने उन्हें सूत्ररूपमें कहा । उसके पश्चात् गणधरोंके शिष्योंने तथा उनके शिष्योंके भी शिष्योने परम्परासे लक्षण अनुयोगद्वार वगैरहके क्रमसे उनका कथन किया । उन पदार्थोंका मन, वचन और कायके द्वारा अनेक बार कथन करना, बन्ध और मोक्षकी प्रक्रियाका अनुग्राहक होनेसे पुष्टिका ही करनेवाला है । अर्थात् यदि उन पदार्थोंका मनमें चिन्तन किया जाय, वचनसे उनका कथन किया जावे, और कायसे उनका आचरण किया जावे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी वृद्धि ही होती है, और उनकी वृद्धि होनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है, और कर्मोंकी निर्जरा होनेसे मोक्ष होता है । अत. पूर्वाचार्योंके द्वारा वैराग्यके अनेक शास्त्रोंके रचे जानेपर भी इस 'प्रशमरति' को बनानेमें कोई दोष नहीं है ।

'पुनरुक्तदोषोऽपि न ढौकते, प्रकारान्तरेण वैराग्यभ्यासादारोग्यार्थिनो भैषजोपयोगवत्' इत्याह—

तथा इसमें पुनरुक्त दोष भी नहीं है, क्योंकि आरोग्यके इच्छुक मनुष्यको औषधिके सेवनकी तरह इसमें प्रकारान्तरसे वैराग्यके अभ्यास करनेका ही कथन किया है । यही बात कहते हैं—

यद्वदुपयुक्तपूर्वमपि भेषजं सेव्यतेऽर्तिनाशाय ।
तद्वद् रागार्त्तिहरं बहुशोऽप्युनुयोज्यमर्थपदम् ॥ १३ ॥

टीका—लब्धप्रत्ययमुपयुक्तमौषधं प्रथमं पुनःपुनस्तदेवोपयुञ्जते । तदुपयोगाच्च अभ्यसतः प्रतिदिनं व्याधेरुपशमप्रकर्षविशेषसमासादनं दृष्टम् । व्याधिकृतं दुःखम् अर्तिः–वेदना । 'उपयुक्तपूर्वमपि' इत्यनेन लब्धप्रत्ययत्वमाचष्टे । तद्वत् तथा । रागार्तिहरम्–रागग्रहणं द्वेषादीन्

१ नास्ति पदमिद प० प्रतौ ।

पिशुनयति। रागद्वेषोपात्तकर्मोदयप्रसूतायास्तीव्रादिवेदनार्तेरपहारकारि पुनः पुनरभ्यस्यमानमप्यदुष्टमव अर्थप्रधानं पदमदोषम्, अनुयोज्यम् अनुयोजनीयं वाक्प्रपञ्चेनानेकश इति ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पहले सेवन की हुई भी औषधको पीडा दूर करनेके लिए फिरसे सेवन करते हैं, उसी प्रकार रागसे उत्पन्न हुई पीड़ाको दूर करनेवाले उपर्युक्त पदोका भी अनेक बार प्रयोग करना चाहिए।

भावार्थ—जिस औषधपर विश्वास हो जाता है, दुबारा भी उसीका सेवन किया जाता है। उसका सेवन करनेसे प्रतिदिन रोगकी अधिक अधिक शान्ति देखी जाती है। उसी तरह राग–द्वेषसे बँधे हुए कर्मोंके उदयसे होनेवाली आन्तरिक पीड़ा जिन सारवान् वचनोंसे दूर होती है, उनका बार-बार भी दोहराना लाभदायक ही है।

तथा—

यद्वद्विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति।
तद्वद् रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥ १४ ॥

टीका—वृश्चिकादिदष्टानामपमार्जनं कुर्वन्तो मन्त्रवादिनः तद्विषजनितवेदनाविघातं विधित्सन्त पुन पुनस्तान्येव मन्त्रपदानि आवर्तयन्ति। दृष्टश्च प्रतिक्षणं विषविघातः। तद्वद् रागविषघ्नं वैराग्याग्निसन्धुक्षणेप्रवणमनेकशोऽभ्यस्यमानं रागद्वेषविषविघातित्वात् न पुनरुक्तदोषमासजतीति ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विषको दूर करनेके लिए मन्त्रका बार-बार उच्चारण करनेमें पुनरुक्त दोष नहीं है, उसी प्रकार रागरूपी विषको घातनेवाले दोषरहित अर्थपदका बार–बार कथन करनेमें भी पुनरुक्त दोष नहीं है।

भावार्थ—जिन लोगोंको साँप बिच्छू आदि काट लेते हैं, उनका विष उतारनेके लिए मन्त्रवादी लोग बार बार मन्त्रके उन्हीं पदोको दोहराते हैं, और जैसे–जैसे वे मन्त्रको दोहराते जाते हैं, विष उतरता जाता है, अत दोहराना व्यर्थ नहीं है। इसी प्रकार रागरूपी विषको जलानेको वैराग्यरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेमें समर्थ वचनोंके बार-बार अभ्यास करनेमें भी पुनरुक्त दोष नहीं है। क्योंकि उनका निरन्तर चिन्तन आदि करनेसे राग-द्वेषका घात होता है।

तथा परमप्युदाहरति अस्मिन्नेवार्थे—

इसी बातके समर्थनमें एक और भी उदाहरण देते हैं:—

वृत्त्यर्थं कर्म यथा तदेव लोकः पुनः पुनः कुरुते।
एवं विरागवार्ताहेतुरपि पुनः पुनश्चिन्त्यः ॥१५॥

१ नास्ति पदमिदं प० प्रतौ। २ वैराग्याग्निक्षणमनेक—प०। ३ रागद्वेषविषा—मु०।

टीका–वर्तनं वृत्तिः–आत्मनः कुटुम्बस्य वा पोषणम्। तदर्थं कृष्यादिकं कर्म करोति लोकः समुचितधनधान्योऽपि प्रतिवर्षं महतीं सम्पदमिच्छन् प्रकर्षवतीम्। एवं विरागवार्ता—वृत्तिरस्यां विद्यत इति वार्ता, वैराग्यवृत्तिः वैराग्ये वर्तनम्। तस्यां विरागवार्तायां यो हेतुः कारणं स पुनः पुनश्चिन्त्यः अभ्यसनीयः। स च हेतुः वैराग्यप्रख्यापकानि शास्त्राणि। यानि आलोच्य आलोच्य प्रतिक्षणं परित्यज्य रागादीन् वैराग्यमेवालम्बत इति ॥ १५॥

अर्थ—जिस प्रकार आजीविकाके लिए लोग बार-बार उसी धंधेको करते हैं, इसी प्रकार वैराग्यके कारणका भी बार-बार चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—धन-धान्यसे भरपूर होनेपर भी लोग जिस प्रकार प्रतिवर्ष खूब धनी बननेकी इच्छासे अपने अथवा अपने कुटुम्बके पोषणके लिए बार बार खेती वगैरहका रोजगार करते हैं। इसी प्रकार जिस कारणसे वैराग्यमें प्रवृत्ति हो, उसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए। वह कारण वैराग्यका कथन करनेवाले शास्त्र ही हैं, जिनकी आलोचना कर करके प्रतिसमय रागादिकको छोड़कर वैराग्यका ही सहारा लिया जाता है।

'तच्च वैराग्यमविच्छेदेन यथा न त्रुट्यत्यन्तराल एव तथाऽनुष्ठेयम्' इत्याह—

वह वैराग्य बराबर बना रहे, बीचमें ही न छूट जावे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। यही बात ग्रन्थकार बतलाते हैं—

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन।
तस्मिंस्तस्मिन् कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः॥ १६॥

टीका–वैराग्यवासना प्रातिदिनं येन येन भावेन जन्मजरामरणशरीराद्युत्तरकारणालोचनादिना न विच्छिद्यते, दृढतामेवोपैति, तत्र तत्र अभ्यासः कार्यः कायमनोवाग्भिः। अथवा 'येन येन भावेन' इति मनःपरिणामेन अत्यर्थं [१]निर्वेदसंवेगरूपेण भाव्यमानेन दृढीभवति वैराग्यं तत्र विधेयोऽभ्यास इति ॥ १६॥

अर्थ—जिस जिस भावसे वैराग्यभावना दृढ़ताको प्राप्त होती है, मन, वचन, और कायसे उस उसमें अभ्यास करना चाहिए।

भावार्थ—जन्म, बुढ़ापा, मरण और शरीर आदि उत्तर कारणोंकी आलोचना करना इत्यादि जिस जिस भावसे वैराग्यभावना प्रतिदिन मजबूत होती जाती है, मनसे, वचनसे, और कायसे उस उस भावका अभ्यास करना चाहिए। अथवा मनके जिस निर्वेद और संवेग परिणामकी भावना करनेसे वैराग्य दृढ होता है, उसका अभ्यास करना चाहिए।

सुखावबोधग्रन्थरचनार्थं वैराग्यवाचिनः पर्यायशब्दानाचष्टे—

ग्रन्थकी रचना सुखपूर्वक समझमें आनेके लिए वैराग्यके अर्थवाची पर्याय शब्दोंको कहते हैं—

---

१ निर्वेदरूपेण प०।

माध्यस्थ्यं वैराग्यं विरागता शान्तिरुपशमः प्रशमः।
दोषक्षयः कषायविजयश्च वैराग्यपर्यायाः ॥ १७ ॥

टीका—अरागद्वेषवृत्तिर्मध्यस्थः, तस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम्। विगतरागद्वेषता वैराग्यम्। विगतरागो विरागः, तद्भावो विरागता। शमः शान्तिः—तेषामेव रागादीनामनुदयाद्यवस्था। वैराग्यस्य सामीप्येन शम उपशमः। प्रकृष्टः शमो रागादीनामेव प्रशमः। दूषयन्तीति दोषा. अपूर्वकर्मोपादानेन जीवं कलुषयन्ति, त एव रागादयः, तेषां क्षयः—आत्यन्तिक उच्छेदः। कृष्यन्तेऽस्मिन् जीवा इति कषः संसारः, तस्य, आया[1] उपादानकारणानि इति कषायाः, तेषां विजयः—अभिभवो निराकरणम्। एवमेते सर्व एव वैराग्यपर्यायाः कथिताः ॥ १७ ॥

अर्थ—माध्यस्थ्य, वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम, प्रशम, दोष-क्षय और कषाय-विजय—ये सब वैराग्यके नामान्तर है।

भावार्थ—जिसकी प्रवृत्ति राग और द्वेषसे रहित होती है, उसे मध्यस्थ कहते हैं और उसके भाव अथवा कार्यको माध्यस्थ्य कहते है। राग और द्वेषके चले जानेको वैराग्य कहते हैं। रागरहितको विराग कहते हैं, और विरागके भावको विरागता कहते हैं। शम शान्तिको कहते हैं, अर्थात् उन्हीं रागादिकका उदय वगैरह न होना क्षय है। वैराग्यकी समीपतामें जो शान्ति होती है, उसे उपशम कहते हैं। रागादिकके ही उत्कृष्ट शमको उपशम कहते हैं। नये नये कर्मोंको लाकर जो जीवको दूषित अर्थात् कलुषित करते हैं, उन्हें दोष कहते हैं। वे दोष रागादिक ही है। उनका बिल्कुल नष्ट हो जाना, दोष-क्षय है। जिसमें जीव कषें उसे 'कष्' अर्थात् संसार कहते हैं, और ससारके उपादानकारणोको कषाय कहते हैं। उनका जीतना कषाय-विजय है। ये सभी वैराग्यके नामान्तर हैं।

विगतो रागश्च विरागः। कः पुनरयं रागो नाम ? तमपि पर्यायद्वारेणाचष्टे—

रागरहितको विराग कहते हैं। अतः रागको समझानेके लिए ग्रन्थकार उसके भी नामान्तर कहते हैं:—

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥ १८ ॥

टीका—इच्छा-प्रीतिः, रमणीयेषु योषिदादिषु आत्मपरिणामः। मूर्च्छा बाह्यवस्तुभिः सह एकीभवनाध्यवसायलक्षणः[2] परिणामः। कामः प्रार्थनाविशेष इष्टस्य वस्तुनः। स्नेहः प्रतिविशिष्टप्रेमादिलक्षणः। गृद्धता गार्ध्यम्-अभिकांक्षाऽप्राप्तवस्तुविषया। 'ममेदंवस्तु,

---

१ तस्याय उपा— ब०, आया—नि इति प०। २ लक्षणपरिमाणः मु०।

अहमस्य स्वामी ' इति चित्तपरिणामो ममत्वम्। इष्टवस्तुप्राप्तौ परितोषोऽभिनन्दः। अभिलषणमभिलापः-इष्टप्राप्त्यर्थं मनोरथः। एवमेभिः पर्यायशब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते स रागः॥१८॥

अर्थ—इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गार्ध्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष इत्यादि अनेक रागके पर्यायवाची नाम हैं।

भावार्थ—सुन्दर स्त्री आदिमें जो प्रीति होती है, उसे इच्छा कहते हैं। बाह्य वस्तुओंके साथ एकमेक होने रूप जो परिणाम होता है, उसे मूर्च्छा कहते हैं। इष्ट वस्तुकी अभिलाषाको काम कहते हैं। विशिष्ट प्रेम वगैरहको स्नेह कहते हैं। अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करनेको गार्ध्य कहते हैं। यह वस्तु मेरी है, इसका मैं स्वामी हूँ, ऐसे मनके भावको ममत्व कहते हैं। इष्ट वस्तुके मिलनेपर जो सन्तोष होता है, उसे अभिनन्द कहते हैं। इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए जो मनोरथ है, उसे अभिलाषा कहते हैं। ये सब शब्द रागके ही पर्यायान्तर हैं।

'दोषक्षयो वैराग्यम्' इत्युक्तम्। तत्र पर्यायकथनेन दोषं निरूपयति—

दोष-क्षयको वैराग्य कहा है। अतः दोषके पर्याय नाम कहते हैं :—

ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेषः परिवादमत्सरासूयाः।
वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्यायाः॥ १९॥

टीका–' परविभवादिदर्शनाच्चित्तपरिणामो जायते वियुज्यतामेष एतेन विभवेन, ममैवास्तु विभवोऽन्यस्य मा भूत्' इति ईर्ष्या। तथा सौभाग्यरूप-लोकप्रियत्वादिविषयरोषः[1] क्रोधः। दूषयतीति दोषः। अप्रीतिलक्षणो द्वेषः परदोषोत्कीर्तनं परिवादः। मां छादयति[2] छद्मयति सद्धर्मात्[3] इति मत्सरः। असूया तु अक्षमा। परस्परवधादिजनितकोपसमुत्थं वैरम्। प्रकृष्टं चण्डनं प्रचण्डनं प्रकोप शान्तस्यापि कोपाग्नेः संधुक्षणम्। एवमाद्या बहवोऽन्येऽपि द्वेषपर्यायाः॥ १९॥

अर्थ—ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर और प्रचण्डन इत्यादि अनेक द्वेषके पर्याय नाम हैं।

भावार्थ—दूसरेकी सम्पत्ति वगैरहको देखकर मनमें ऐसा भाव होता है कि इसकी यह सम्पत्ति नष्ट हो जावे, मेरे पास ही सम्पत्ति रहे, अन्य किसीके भी पास सम्पत्ति न रहे, इस भावको ईर्ष्या कहते हैं। दूसरेका सौभाग्य, रूप, और लोकप्रियता आदिको देखकर जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे रोष कहते हैं। जो दूषित करे वह दोष है। प्रीतिके न होनेको द्वेष कहते हैं। दूसरेके दोषोंको कहना परिवाद है। जो अपनेको सच्चे धर्मसे अलग करे, वह मत्सर है। दूसरोंके गुणोंको न सह सकना असूया है। आपसमें मार-पीट होनेसे उत्पन्न हुए क्रोधसे जो भाव पैदा होता है, वह वैर है। अत्यन्त तीव्र गुस्सेको अर्थात् शान्त हुई कोपाग्निको भी भड़काना प्रचण्डन है। इत्यादि अन्य भी अनेक द्वेषके नामान्तर है।

---

१ विषयबाध्यो रोष' मु०। २ सारयति प०। ३ सधर्मात् प०।

'काः पुनः क्रियाः कुर्वन्नयमात्मा रागद्वेषवशगो भवति?' इति कारिकात्रयेण कुलकमाह—
किन किन कामोंके करनेसे यह आत्मा राग और द्वेषके अधीन हो जाता है, तीन कारिकाओंसे यह बतलाते हैं:—

रागद्वेषपरिगतो मिथ्यात्वोपहतकलुषया दृष्ट्या ।
पञ्चाश्रवमलबहुलार्तरौद्रतीव्राभिसन्धानः ॥ २० ॥
कार्याकार्यविनिश्चयसंक्लेशविशुद्धिलक्षणैर्मूढः ।
आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाकलिग्रस्तः ॥ २१ ॥
क्लिष्टाष्टकर्मबन्धनबद्धनिकाचितगुरुर्गतिशतेषु ।
जन्ममरणैरजस्रं बहुविधपरिवर्तनाभ्रान्तः ॥ २२ ॥
दुःखसहस्रनिरन्तरगुरुभाराक्रान्तकर्षितः करुणः ।
विषयसुखानुगततृषः कषायवक्तव्यतामेति ॥ २३ ॥

टीका—पर्यायद्वारेणोक्तौ रागद्वेषौ, ताभ्यां परिगतः—तादृशपरिणामयुक्तः । मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्, अभिगृहीताऽनभिगृहीत-सन्देहभेदात् त्रिविधम् । अभिगृहीतं त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां पाखण्डिशतानाम् । अनभिगृहीतम् अप्रतिपन्नदेवतापाखण्डरूपम् । सन्दिग्धम् एकस्याप्यक्षरस्य पदस्य वाऽप्यरोचनान्मिथ्यादर्शनम् । तेनोपहतत्वात् कलुषा दृष्टिः बुद्धिः 'मलिना' इत्यर्थः । तया इत्थंभूतया दृशा बुद्ध्या कारणभूतया । पञ्चाश्रवा पञ्चेन्द्रियाणि प्राणातिपातादीनि वा । आश्रवन्ति-आददते कर्म इति आश्रवाः । पञ्चाश्रवोपात्तकर्मणैव मल-बहुल उपचितकर्मराशिः । आर्तं चतुर्धा । अमनोज्ञविषयसंम्प्रयोगे सति तद्वियोगैकतानो मनो-निरोधो ध्यानम् । तथाऽसद्वेदनायाः । तथा मनोज्ञविषयसंम्प्रयोगे तदविप्रयोगैकतानश्चित्त-निरोध तृतीयमार्तम् । चक्रवर्त्यादीनामृद्धिदर्शनात् 'ममाप्यमुष्य तपसः फलमेवंविधमेव स्यादन्यजन्मनि' इति चित्तनिरोधश्चतुर्थमार्तं निदानकरणमात्रमिति । ऋतमिति दुःखं संक्लेशः, तत्र भवमार्तमिति । रुद्रः क्रूरो नृशंसः, तस्येदं रौद्रम् । तदपि चतुर्धा । तत्र प्रथमं हिंसानुबन्धि अनेनानेन च उपायेन गलकूटपाशयन्त्रादिना प्राणिनो व्यापाद्या इति । तत्रैकतानो मनो-निरोधो रौद्रं ध्यानम् । द्वितीयमनृतानुबन्धि-येन येन उपायेन परो वञ्च्यते कूटसाक्षिदाना-दिना तत्रैकतानं मनो रौद्रम् । तृतीयं स्तेयानुबन्धि—येन येन प्रकारेण परस्वमादीयते घुर्घुरुक-कर्तरिकाछेदकखात्रखननादिना तत्रैकतानं मनो रौद्रम् । धनधान्यादिविषयसंरक्षणैकतानं मनो दिवानिशि तुरीयं रौद्रम् । अभिसन्धानमभिसन्धिः अभिप्रायः । स च आर्तरौद्रध्यान-योस्तीव्रः प्रकृष्टोऽभिसन्धिः । पञ्चाश्रवमलबहुलश्चासौ आर्तरौद्रतीव्राभिसन्धानश्चेति ॥ २० ॥

१ विशोधिल मु० । २ करुक्षात्र-ख —मु० ।

कार्यं जीवरक्षादिकम्। अकार्यं जीववधादिकम्। तयोर्विनिश्चयो निर्णयः स तथा। संक्लेशः कालुष्यम्। विशुद्धिः नैर्मल्यम्। तयोः क्लिष्टचित्ततानिर्मलचित्ततारूपयोर्लक्षणानि परिज्ञानानि। तथा तानि चेति समासः। तैः करणभूतैर्मूढः—मुग्धः। तथा आहारभयपरिग्रह मैथुनसंज्ञा प्रसिद्धरूपाः। ता एव कलयः कलहाः कलिहेतुत्वात्। तैर्ग्रस्तः—आघ्रात इति ॥ २१॥

गतिशतेषु बह्वीषु गतिषु पुनः पुनरावृत्त्या भ्रमणात्, क्लिष्टमष्टाभिः कर्मभिर्बन्धनं तेन बद्धः, बद्धनिकाचितत्वात् गुरुः, जन्मजरामरणानि तैरजस्रं पुनः पुनः, बहुविधपरिवर्तनमनेकाकारम्, अतो भ्रान्तः परिवर्तनेन ॥ २२ ॥

दुःखसहस्रमिति। बाहुल्यप्रतिपादनार्थं सहस्रग्रहणम्[2]। दुःखसहस्राण्येव निरन्तराणि-अव्यवछिन्नानि। नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु गुरुर्भारः, तेनाक्रान्तत्वात्-अवष्टब्धत्वात्, कर्षितः कृशतां नीतो 'दुर्बलतां गतः' इति यावत्। करुणास्पदत्वात् करुणः। तृष्यतीति तृषः पिपासितः। विषया शब्दादयः, तज्जनितं सुख विषयसुखमातदनुगतः तत्रासक्तः। विषयसुखानुगतश्चासौ तृषश्चेति विषयसुखानुगततृषः। उपजातविषयसुखोऽपि पुनस्तृष्यति 'विशिष्टतरमभिलषति' इत्यर्थः। एवंविधो जीवः कषायाणां क्रोधादीनां वक्तव्यतामेति—क्रोधी, मानी, मायावी, लोभवांश्चेति। उलक्षणः कषायशब्दः। कषायैर्वक्तव्यः क्रोधादिभिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो राग और द्वेषसे युक्त है, जिसकी बुद्धि मिथ्यात्वसे ग्रस्त होनेके कारण मलिन है और मलिन बुद्धिके कारण पाँच इन्द्रियो अथवा हिंसादि पाँच पापोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंके आगमनसे जिसकी आत्मामें खूब कर्ममल इकट्ठा होगया है, जिसके आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान रूप तीव्र परिणाम होते हैं।

भावार्थ—राग और द्वेषके नामान्तर पहले बतला आये हैं। जो उनसे युक्त है, वही राग और द्वेषके अधीन होता है। तत्त्वार्थके श्रद्धान न करनेको मिथ्यात्व कहते हैं। वह तीन प्रकारका है—गृहीत, अगृहीत और सन्देह। तीनसौ त्रेसठ पाखण्डिमत गृहीत मिथ्यात्व हैं; क्योकि दूसरोके उपदेश वगैरहसे लोग उन्हें ग्रहण करते हैं। किसी पाखण्डी देवताको उपदेशपूर्वक ग्रहण न करना, अर्थात् जन्मसे ही उसमें अभिरुचि होना अगृहीत मिथ्यात्व है। श्रुतज्ञानके एक भी अक्षर अथवा पदमें रुचि न होनेसे सन्दिग्ध मिथ्यात्व होता है। जिसके मिथ्यात्व होता है, उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है, और बुद्धिके मलिन हो जानेसे वह पाँचों इन्द्रियोके विषयोंमें आसक्त हो जाता है। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन पाँचों पापोंको करता है। इससे उसके कर्मोंका आस्रव होता है, और कर्मोंके आस्रव होनेसे उसकी आत्मामें कर्म-मलकी राशि इकट्ठी हो जाती है। ऐसा जीव भी राग और द्वेषके अधीन होता है।

तथा आर्त्तध्यान चार प्रकारका है—अप्रिय वस्तुके सम्बन्ध हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो रात-दिन चिन्ताका कारण है, वह पहला आर्त्तध्यान है। कोई रोग हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए

१ स एव स–प०, स एव च स—ब०। २ पदमिदं प० प्रतौ नास्ति।

रात-दिन चिन्ता करते रहना, दूसरा आर्त्तध्यान है। इष्ट वस्तुके विछोह हो जानेपर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्ता करना तीसरा आर्त्तध्यान है। चक्रवर्त्ती आदिकी सम्पत्तिको देखकर मुझे भी इस तपका फल परलोकमें इसी रूपमें मिले, ऐसा सोचते रहना निदान नामका चौथा आर्त्तध्यान है। ऋत दुःख अथवा संक्लेशको कहते हैं, उससे जो ध्यान होता है, वह आर्त्तध्यान है। क्रूर अथवा निर्दयको रुद्र कहते हैं, उसका जो ध्यान होता है, वह रौद्रध्यान है। वह भी चार प्रकारका है:—पहला हिंसानुबन्धि है, अर्थात् हिंसामें आनन्द मानना। झूठी गवाही देना वगैरह अमुक अमुक उपायसे दूसरे ठगे जाते हैं, इत्यादि उपाय सोचनेमें मनका तन्मय होना दूसरा असत्यानन्द रौद्रध्यान है। कैंची, फावड़ा, वगैरह जिन जिन उपायोसे दूसरों का धन हरा जा सकता है, उन उपायोंके चिन्तनमें मनका एकाग्र होना स्तेयानुबंधि नामका तीसरा आर्त-ध्यान है। धन-धान्य आदि परिग्रहके संरक्षणमें रात-दिन मनका लगा रहना विषयानन्दि नामका चौथा रौद्रध्यान है। इन दोनों दुर्ध्यानोमें आत्माके भाव बड़े तीव्र होते हैं, और जिनके वैसे भाव होते हैं, वह राग और द्वेषके अधीन होता है ॥ २० ॥

अर्थ—जो कार्य और अकार्यका निश्चय करनेमें मूढ़ है, संक्लेश और विशुद्धिके स्वरूपको नहीं समझता, आहार-भय-परिग्रह और मैथुन सञ्ज्ञारूपी कलहमें जो फँसा हुआ है।

भावार्थ—जीवकी रक्षा आदि कार्य हैं और जीवकी हिंसा वगैरह अकार्य हैं। कलुषित परिणामोंके होनेको कालुष्य कहते हैं, और निर्मल भावोंके होनेको विशुद्धि कहते हैं। इनको जो नहीं समझता तथा आहार वगैरहकी चाहमें फँसा हुआ है, वह रागादिकके आधीन है ॥ २१ ॥

अर्थ—जो आठ प्रकारके क्लिष्ट कर्मोंके निकाचितबन्धसे भारी हो रहा है, तथा सैकड़ों गतियोंमें बार-बार जन्म लेने और मरनेके कारण अनेक प्रकारके परिभ्रमणके चक्करमें पड़ा हुआ है ॥ २२ ॥

अर्थ—सर्वदा हजारों दुःखोंके गुरु भारसे आक्रान्त होनेके कारण जो दुर्बल हो रहा है, दयाका पात्र है, विषय-सुखमें आसक्त होकर उनकी और चाहना करता है, वह जीव कषायवाला कहा जाता है।

भावार्थ—दुःखकी अधिकता बतलानेके लिए 'हजारों दुःख' कह दिया है। अर्थात् नरकादिक गतियोमें बराबर दुःख सहते-सहते जिसकी आत्मा दुःखोंके भारसे दब गई है, इसी लिए जो दया करनेके योग्य है, तथा जो विषय-सुखमें इतना आसक्त है कि विषय-सुखके मिलनेपर भी उसकी इच्छा शान्त होनेके बजाय और बढ़ती है। जो जीव इस प्रकारके होते हैं, वे राग और द्वेषके अधीन होते हैं। राग और द्वेषका ही नाम कषाय है। अतः वे कषायवाले अर्थात् क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी कहे जाते है ॥ २३ ॥

'स पुनः कषायवक्तव्यतां गत्वा किमवाप्नोति ?' इत्याह—

अब कषायवान् आत्माकी क्या दशा होती है, यह बतलाते हैं.—

स क्रोधमानमायालोभैरतिदुर्जयैः परामृष्टः ।
प्राप्नोति यानमर्थान् कस्तानुद्देष्टुमपि शक्तः ॥ २४ ॥

टीका--स खलु एवंविधः समुपजातकषायपरिणामः क्रोधादिभिः परामृष्टः। अतीव दुर्जयै-रिति। नाल्पसत्त्वैर्जेतुं शक्याः कषाया इति दुर्जयाः, तैः परामृष्टः परिभूतः 'कषायवशंगतः' इत्यर्थः। प्राप्नोति याननर्थान्–आपद्विशेषान् वधबन्धादीन्। कस्ताननर्थान् वचनमात्रेणापि व्याख्यातुं समर्थः? अनर्थभूयसि संसारे कियतोऽनर्थान् तान् नामग्राहं प्रतिपादयितुं शक्येरन् इति।

अर्थ—अत्यन्त दुर्जय क्रोध, मान, माया और लोभ कषायोंके आधीन हुआ जीव जिन जिन कष्टोंको उठाता है, उन्हें कहनेके लिए भी कौन समर्थ है?

भावार्थ—कमजोर प्राणी कषायोंको नहीं जीत सकते, अतः उन्हें दुर्जय कहा है। जो इन दुर्जय कषायोंके चंगुलमें फँस जाता है, उसकी कुशल नहीं है। वह जिन जिन कष्टोंको भोगता है, उन्हें कोई कह भी नहीं सकता। ठीक भी है, जब ससार अनर्थोंका घर है, तो उनमेंसे कितने अनर्थोंके नाम लेकर गिनाया जा सकता है?

'यद्यपि सकलानर्थानाख्यातुमशक्यं तथापि स्थूलतरकतिपयानर्थाख्यानमपायेभ्यो भव्यांश्छोटयत्येव' इत्याह—

यद्यपि सब अनर्थोंको कहना शक्य नहीं है, तथापि कुछ मोटे-मोटे अनर्थोंको बतला देनेसे भव्य जीवोंकी उनसे रक्षा हो सकेगी, अत. उन्हें कहते हैं:—

क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद् विनयोपघातमाप्नोति।
शाठ्यात्प्रत्ययहानिः[2] सर्वगुणविनाशनं लोभात् ॥२५॥

टीका–क्रोधनं क्रोधः—आत्मनः परिणामो मोहकर्मोदयजनितः। तस्मादेवंविधात् परिणामा-दिहलोके एव प्रीतिव्यवच्छेदो भवतीति प्रियतमैरपि साकम्, व्यवच्छिन्नायाश्च प्रीतावनिर्वृति-रात्मनः। मानो गर्वस्तम्भः 'अहमेव ज्ञानी दाता शूरः' इत्यादिक आत्मपरिणामः। तस्माद् विनयोपघातमाप्नोति। विनयमूलश्च धर्मः।

देवगुरुसाधुवृद्धेषु यथायोग्यं विनयः कार्यः। स च उपजातगर्वपरिणामस्य विहन्यते विच्छिद्यते इति दोषः। शाठ्यपरिणामो माया। तस्मात् प्रत्ययहानिः प्रत्ययो लोकव्यवहारप्रसिद्ध्या क्वचित् पुरुषे सत्यवादित्वं न्यासकप्रत्यर्पणश्च इत्यादि। तद्धानिः—असत्यभाषणे शाठ्य-परिणामात् न्यासकापह्नवश्चेति। तृष्णा लोभपरिणाम आत्मनः। तस्माच्च सर्वगुणविनाशभाग् भवति। सर्वे च ते गुणाश्च क्षमामार्दवादयः, तान् लोभाभिभूतः समूलकाषं कषति। 'आप्नोति' इति मध्यवर्तिना क्रियापदेन सर्वत्राभिसम्बन्धः ॥ २५ ॥

अर्थ—क्रोधसे प्रीतिका नाश होता है, मानसे विनयका घात होता है, मायाचारसे विश्वास जाता रहता है, और लोभसे सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

---

१ शक्यम् मु०। २–यहानिं मु०।

भावार्थ—मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए आत्माके क्रोध करनेरूप परिणामको क्रोध कहते हैं। क्रोध करनेसे इसी लोकमे अपने अत्यन्त प्रिय जनोके साथ भी प्रेमका नाता टूट जानेसे आत्माको बहुत दुःख होता है। मैं ही ज्ञानी हूँ, मैं ही दानी हूँ. मै ही शूरवीर हूँ, इत्यादि रूप आत्म-परिणामको घमंड या मान कहते हैं। मान करनेसे विनय नहीं रहती, और धर्मका मूल विनय ही है। देव, गुरु, साधु, और वृद्ध जनोंकी यथायोग्य विनय करनी चाहिए। किन्तु जब मानका उदय होता है, तो वह विनय नष्ट हो जाती है। अमुक मनुष्य सच बोलता है, और उसके पास जो कुछ धरोहर रक्खो उसे वह लौटा देता है, लोक व्यवहारके अनुसार इस तरहकी बातोंको प्रत्यय अर्थात् विश्वास कहते हैं। झूठ बोलनेसे और धरोहरको हड़प जानेसे वह विश्वास उठ जाता है। तथा तृष्णाको लोभ कहते हैं। लोभ करनेसे क्षमा मार्दव आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

सम्प्रति एकैकस्य क्रोधादेः व्यसनोपायं[1] दर्शयन्नाह—

अब क्रोधादिक प्रत्येक कषायको दुःख देनेवाली बतलाते हैं :—

क्रोधः परितापकरः सर्वस्योद्वेगकारकः क्रोधः।
वैरानुषङ्गजनकः क्रोधः क्रोधः सुगतिहन्ता ॥ २६ ॥

टीका—परितापो हि दाहज्वराभिभूतस्यैव क्रोधिनः परिदहनम्–अस्वस्थता। उद्वेगो भयम्। सर्वस्येति नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवाख्यस्यात्मनो भयमुत्पादयति। कुताश्चिन्निमित्तादुत्पन्नो वधबन्धनाभिघातादिसन्तानो वैरम्। तस्य अनुषङ्गः–अनुबन्धः अन्वयः, तं जनयति–उत्पादयति। क्रोधः सुगतिः–मोक्षः, तां हन्ति। मुक्त्यप्रापणसामर्थ्याद् 'हन्ति' इत्युच्यते। क्रोधाविष्टाश्च सुभूमपरशुरामादयः श्रूयन्ते दुर्गतिगामिनः पारमर्षे प्रवचने। तस्मादिहपरलोकयोरपायकारी क्रोध इति युक्तः परिहर्तुम् ॥ २६ ॥

अर्थ—क्रोध परितापको करता है। क्रोधसे सभीको डर लगता है। क्रोध वैरको पैदा करता है और क्रोध सुगतिका घातक है।

भावार्थ—दाहज्वरसे पीड़ित मनुष्यके समान क्रोधीकी अन्तरात्मा क्रोधसे सर्वदा जला करती है। क्रोधीसे सभी गतियोंके जीव भय खाते हैं। क्रोधमें आकर किसीने किसीका वध कर दिया, या उसे जेलखानेमें भिजवा दिया तो उस वैरकी परम्परा पीढ़ी दरपीढ़ी तक चलती रहती है। क्रोध सुगति अर्थात् मोक्षका भी घातक है, क्योंकि क्रोधी मनुष्यकी मुक्ति नहीं होती। शास्त्रोंमें सुना जाता है कि सुभूम और परशुराम वगैरहको क्रोधके कारण दुर्गतिमें जाना पड़ा है। क्रोध इस लोक और परलोक दोनोंमें हानिकारक है। अतः उसे छोड़ना ही योग्य है।

श्रुतशीलविनयसंदूषणस्य धर्मार्थकामविघ्नस्य।
मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात् ॥ २७ ॥

---

१ व्यासेनोपायान् ब०।

टीका—श्रुतम्-आगमः। शीलं च सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारि क्रियानुष्ठानम्। उभयमप्येतद् गर्वो भृशं दूषयति-श्रुतवानप्ययमेवं गर्वितः, 'श्रुतेन तु मानत्यागः कार्यः' इति श्रूयते, अयं तु तेनैव मत्तो मानी जातः। नन्वेवं श्रुतवतो दूषणं कृतं भवति, न श्रुतस्य? उच्यते-श्रुतमपि दूषितं भवति, श्रुतकार्याकरणात्। ज्ञानेन हि मदो निर्मथ्यते, न चासौ निर्मथित इति श्रुतमेव दूषित भवति। अभेदो वा ज्ञानज्ञानिनोरिति न दोषः। एवं शीलमपि वाच्यम्। विनयरहितत्वो ःशील एवायमिति। धर्मार्थकामानां विघ्नकारी मान। धर्मस्य विनयमूलत्वाद् धर्मविघ्नकारी मानः। तदनुष्ठानशून्यत्वादर्थोपादानस्यापि प्रत्यूहकारी। यतो राजादयः सेवकस्यापि विनयत एव अर्थेन सह योजनं कुर्वन्ति, नेतरस्य। कामस्यापि सम्प्राप्तिर्विनयसम्पन्नस्यैव भवति। कुलयोपितां वेश्यानां च चित्तानुरोधलक्षणया चेष्टया कामी सुखभाग् भवतीति। एवंविधस्य गर्वस्यावकाशं-ढौकनमात्मनि क्षणमात्रमपि मतिमान् को दद्यात् इति? 'नैव कश्चिद् गुणदोषज्ञो दद्यात्' इत्यर्थः॥ २७॥

अर्थ—श्रुत, शील, और विनयके दूषणरूप तथा धर्म, अर्थ और कामके विघ्नरूप मानको कौन बुद्धिमान एक मुहूर्तके लिए भी स्थान देगा?

भावार्थ—आगमको श्रुत कहते है। और सर्वज्ञप्रणीत आगमके अनुसार आचरण करनेको शील कहते हैं। गर्व इन दोनोंको ही दूषित कर देता है। शास्त्र-ज्ञानीको घमड करते देखकर लोग कहते हैं—'यह शास्त्र-ज्ञानी होनेपर भी गर्व करता है। शास्त्र पढ़कर तो मानको छोड़ना चाहिए। ऐसा सुना जाता है। परन्तु यह तो उसीसे अभिमानी वन गया है'।

शङ्का—यह तो श्रुतवान्का दूषण है न कि श्रुतका?

समाधान—अपना काम न करनेपर श्रुतको भी दोष लगता है। ज्ञानसे मद दूर होता है, किन्तु यहाँ वह दूर नहीं हुआ, अत. इससे श्रुतको दोष लगता है।

अथवा ज्ञान और ज्ञानीमें अभेद होता है, अतः कोई दोष नहीं है। इसी तरह शीलके बारेमें भी जान लेना चाहिए। अर्थात् यदि कोई शीलवान् भी मान करता है, तो सब यही कहते हैं, कि विनयी न होनेसे यह दु.शील ही है। तथा मान, धर्म, अर्थ और काममें विघ्न करता है। धर्मका मूल विनय है, अतः मान धर्ममें विघ्न करता है। अर्थका उपादान कारण धर्म है, और मानी धर्मके शून्य होता है, अत मान अर्थमें भी विघ्न करनेवाला है। क्योंकि राजा वगैरह सेवककी विनयसे ही प्रसन्न होकर उसे धन देते हैं। कामकी प्राप्ति भी विनयीको ही होती है। कुलस्त्रियों और वेश्याओंके मनके अनुकूल आचरण करनेसे कामीको सुख भोगनेको मिलता है। इस प्रकारके गर्वको अपने अन्दर एक क्षणके लिए भी कौन बुद्धिमान् स्थान देगा? अर्थात् हानि-लाभको समझनेवाला कोई भी स्थान नहीं देगा।

मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम्।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः॥२८॥

१ नास्ति पदमिद ब० प्रतौ। २ चित्तानुरोधजल—प०।

टीका—माया शाठ्यमनार्जवम् । तच्छीलः तत्स्वभाव आत्मा । यद्यपि न किञ्चिदप्य-पराधं करोति मायाजनितम् । संभावितस्य मायावित्वेन पूर्वदृष्टदोषः । सम्प्रति तु विरतस्त-द्दोषात् । तथाप्यात्मीयेनैव दोषेणोपहतो भवति, भुजङ्गवदविश्वास्यः । उद्धृतदंष्ट्रोऽपि भुजङ्गो दूरात् परिह्रियते लोकेनेति । शुकादयो मायाफलभाजः श्रूयन्त एवेति ॥२८॥

अर्थ—यद्यपि मायाचारी मनुष्य कुछ अपराध नहीं करता, तथापि अपने दोषसे उपहत-पीड़ित हुआ, सर्पकी तरह किसीका विश्वासपात्र नहीं होता।

भावार्थ—जो मनुष्य पहले मायाचारी रहा है, बादको यदि वह मायाचारको छोड़ भी दे, तो भी उसकी पहली आदतको स्मरण करके कोई उसका विश्वास नहीं करता है। वह अपने दोषसे ही मारा जाता है, जिस प्रकार साँपका दाँत तोड़ दिये जानेपर भी लोग उससे दूर ही रहते हैं।

सर्वविनाशाश्रयिणः सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य ।
लोभस्य को मुखगतः क्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात् ॥२९॥

टीका—सर्वेषां विनाशानामपायानामायश्रयो लोभः[1] स्थानम्[2] । उपघ्नाश्चौरपारदारिकवैर-सन्तानादयः सर्वे[3] विनाशाश्चौर्यादिनिमित्ताः । सर्वविनाशाश्रयणशीलः सर्वविनाशाश्रयी । सर्वाणि व्यसनानि स्त्रीद्यूतमद्यपानाखेटकवचनदण्डपारुष्यार्थदूषणाख्यानि

हिताद् व्यंसयन्ति पुरुषमिति व्यसनानि । तेषामेष लोभकषाय एको राजमार्गः । सर्वाणि व्यसनानि लोभाभिभूतं योग्यमाश्रयमासाद्य विश्राम्यन्ति । राजमार्गो[4] हि द्विजा-दिभिश्चाण्डालादिभिश्च सर्वैः क्षुद्यते यथा, तथा लोभ एव राजमार्गः सर्वव्यसनैः क्षुद्यते । एवंविधस्य लोभस्य मुखगत-गोचरीभूतः लोभपरिणामभाक् कः खलु दुःखान्तरं सुखं–दुःखा-दन्यत् सुखम् उपेयात्–उपगच्छेत् इति ? प्रतीतिन्यायाद् ग्राह्यं सुखमेवेति । 'नैव कदाचि-त्सुखं प्राप्नुयात्' इत्यर्थः ॥२९॥

अर्थ—लोभ सब विनाशोंका आधार है, और सब व्यसनोंका एक राज-मार्ग है। लोभके मुखमें गया हुआ कौन मनुष्य क्षण भरके लिए भी सुख पा सकता है?

भावार्थ—सब प्रकारके वैर-विरोध और चोरी वगैरह विनाशोका घर लोभ ही है। स्त्री, जुवा, शराब पीना, शिकार, वचन और दण्डकी कठोरता, और अर्थदूषण ये सब व्यसन हैं। जो पुरुषको उसके हितसे दूर करते हैं, उन्हें व्यसन कहते हैं। लोभ कषाय उन व्यसनोका एक राज-मार्ग है। लोभीको पाकर सभी व्यसन उसमें अपना आसन जमाकर बैठ जाते हैं। जिस प्रकार राज-मार्गसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चाण्डाल वगैरह भी बे-रोकटोक आ-जा सकते हैं, उसी प्रकार लोभरूपी राज-मार्ग सभी व्यसनोंके लिए खुला रहता है। ऐसे लोभके मुखमें गया लोभी मनुष्य दुखःके सिवाय और क्या भोग सकता है? अर्थात् उसे क्षणभरके लिए भी सुख नहीं मिलता है।

---

१ नास्ति पदमिदं ब० प्रतौ । २ लोभस्थानम् मु० । ३ सर्वे विनाशाश्चौ—ब० । ४ राजमार्गभूतो हि प०।

सम्प्रति बहुदोषकषायार्थमुपसंहरन्नाह—

अब बहुत दोषोंसे युक्त कषायके वर्णनका उपसंहार करते हैं.—

एवं क्रोधो मानो माया लोभश्च दुःखहेतुत्वात् ।
सत्त्वानां भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारः ॥ ३० ॥

टीका—सर्वं एवैते कषायाः तीव्रस्य प्रकर्षप्राप्तस्य नरकगत्यादिषु दुःखस्य हेतवः जनकाः कारणभूता इति । केषां दुःखहेतवः ? सत्त्वानां प्राणिनाम् । दुःखहेतुत्वाच्च भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारो भवन्ति । भवो नरकादिजन्म, तदेव संसारः पुनः पुनर्गमनागमनाद् दुर्गः—विषमो भयानकः, तस्य यो मार्गः पन्थाः, तस्य प्रणेतारः प्रवर्तका नायका देशका । कः पुनरसौ मार्गः ? हिंसानृताद्याचरणलक्षण ॥ ३० ॥

अर्थ—इस प्रकार दु खोंके कारण होनेसे क्रोध, मान, माया, और लोभ प्राणियोंके चारगतिरूपी भयानक संसारके मार्गके प्रवर्त्तक है।

भावार्थ—ये सभी कषायें नरकादिक गतियोमें प्राणियोंको तीव्र दु खके देनेवाली होनेके कारण भयानक संसारके मार्गको दिखलानेवाली हैं। आशय यह है कि हिंसा, झूठ वगैरह पापोंका करना संसारका मार्ग है, और कषायके वशीभूत प्राणी इन पापोको करता है। अत कषाय संसारको बढाने-वाली हैं।

एषामेव कषायाणामाद्यविकल्पद्वयप्रदर्शनार्थमाह—

इन्हीं कषायोंके दो भेद बतलाते हैं —

ममकाराहङ्कारावेषां मूलं पदद्वयं भवति ।
रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्यायः ॥ ३१ ॥

टीका—ममकारो ममत्वम् 'ममेदं[1] ममेदम्' इति, मायालोभकषाययोर्ग्रहणम् । अहङ्कारो गर्वः, स च अभिमानक्रोधलक्षणः । मायामपि द्रव्योपादानाय वणिजः कुर्वन्ति क्रय-विक्रयादिषु, अतो ममकारान्तःपातिन्येव । क्रोधो हि अभिमानादेव क्रियते–'किमित्ययं मामाक्रोशतीति आहन्ति वा जघन्यः सन्' इति । अतोऽहङ्कार एव । 'एषाम्' इति क्रोधादीनां मूलं बीजमेतदेव पदद्वयं 'ममकारोऽहङ्कार' इति च । तथा च रागद्वेषावपि बीजभूतौ क्रोधा-दीनां द्रष्टव्यौ । तस्यैव पदद्वयस्यापरः पर्यायो ममकार–रागः, अहङ्कार–द्वेष ॥ ३१ ॥

अर्थ—इन कषायोंके मूल दो पद हैं—एक ममकार और दूसरा अहकार। राग और द्वेष भी उन्हींके नामान्तर हैं।

भावार्थ—'यह मेरा है,' इस प्रकारके ममत्वको ममकार कहते हैं। इसमें माया और लोभ कषायका ग्रहण होता है। गर्वको अहंकार कहते हैं। यह मान कषाय और क्रोध कषायका लक्षण है।

१ ममेदमिति मु० ।

धन कमानेके लिए बनिये लोग लेन-देनमें मायाचार भी करते हैं, अतः माया ममकारके ही अन्तर्गत है। क्रोध भी उसी भावसे ही किया जाता है। 'यह मामूली आदमी होकर भी मुझपर क्यो चिल्लाता है? अथवा मुझे क्यों मारता है?' यह अहंकार ही है। अतः इन क्रोधादि कषायोंके मूल अर्थात् बीजके दो ही पद हैं। तथा राग और द्वेष भी क्रोधादिके बीज जानने चाहिए। ये दोनों उन्हीं दो पदोंके नामान्तर हैं। ममकारका नाम राग है, और अहंकारका नाम द्वेष है।

अथैषां क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां को राग., को वा द्वेषस्तादित्याह—

इन क्रोधादि कषायोंमें राग और द्वेषका विभाग करते हैं:—

माया लोभकषायश्चेत्येतद्रागसंज्ञितं द्वन्द्वम्।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः॥ ३२॥

टीका—उक्तलक्षणौ मायालोभौ। तावेव द्वन्द्वं मिथुनम्। रागसंज्ञितं रागनामकम्। क्रोधमानौ चोक्तलक्षणौ। एतदपि द्वन्द्वं द्वयं 'द्वेष' इति निर्दिश्यते संक्षेपतः॥ ३२॥

अर्थ—संक्षेपमें माया और लोभ कषायके युगलका नाम राग है, और क्रोध तथा मान कषायके युगलका नाम द्वेष है।

भावार्थ—माया और लोभको राग कहते हैं, और मान तथा क्रोधको द्वेष कहते हैं।

तौ पुनर्ममकाराहङ्कारौ रागद्वेषौ वा किं केवलावेव ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धे पर्याप्तौ अथान्यमपि कञ्चित्[1] सखायमपेक्षेते? इत्याह—

शङ्का—वे ममकार और अहंकार अथवा राग और द्वेष अकेले ही ज्ञानावरणादिक कर्मोंका बन्ध करानेमें समर्थ है या किसी दूसरेकी सहायता लेते हैं? ग्रन्थकार इसका उत्तर देते हैं:—

मिथ्यादृष्ट्यविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम्।
तदुपगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतू तौ॥ ३३॥

टीका—मिथ्यादर्शनं मिथ्यादृष्टिः। तत्पूर्वमुक्तं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्। अविरमणमविरतिः— अनिवृत्तिः पापाशयात्। विषयेन्द्रियनिद्राविकथाख्य चतुर्विधः प्रमादः। मनोवाक्कायाख्या योगाः। एतांश्चतुरः सहायानपेक्षेते ममकाराहङ्कारौ रागद्वेषौ वा कर्माणि बन्धितव्ये। 'तयोः' इत्येतावेव सम्बध्येते। 'बलम्' इति उपकारकत्वम्। उपकारका मिथ्यादर्शनादयः तयो रागद्वेषयोः। तैश्चोपग्रहीतावेतौ मिथ्यादर्शनादिभी रागद्वेषौ अष्टप्रकारस्य कर्मबन्धस्य हेतुत्वं प्रतिपद्येते इति॥ ३३॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग ये राग और द्वेषकी सेना हैं। उसकी सहायतासे वे दोनों आठ प्रकारके कर्मबन्धके कारण होते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्वका लक्षण 'तत्त्वार्थका श्रद्धान न करना' पहले बतला आये हैं। पाप-कार्योंसे विरति न होनेको अविरति कहते हैं। विषय, इन्द्रिय, निद्रा और विकथा ये प्रमादके भेद हैं। मनोयोग,

---

१ किञ्चित् प०।

बचनयोग, और काययोग- ये तीन योग हैं । कर्मबन्धमें ममकार और अहंकार अथवा राग और द्वेष इन चार सहायकोंकी अपेक्षा करते हैं। उनकी सहायता पाकर ही ये दोनो आठ प्रकारके कर्मबन्धमें हेतु होते हैं।

अष्टविधं बन्धमादर्शयन्नाह—

बन्धनके आठ भेद कहते हैं:—

सज्ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुषां तथा नाम्नः ।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ॥ ३४ ॥

टीका—स खलु तद्धेतुकः कर्मबन्धो ज्ञानावरणीयादिभेदेन अष्टधा भवति। 'ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेद्यं मोहनीयमायुर्नाम गोत्रमन्तरायम्' इति अष्टौ मूलभेदाः। क्षयोपशमजं क्षायिकं च ज्ञानमाव्रियते येन कर्मणा तज्ज्ञानावरणम्। चक्षुर्दर्शनाद्याव्रियते येन कर्मणा तद् दर्शनावरणम्। निद्रादिपञ्चकञ्च, तदपि हि दर्शनमावृणोत्येव। वेद्यं सुखानुभवलक्षणं दुःदुखानुभवलक्षणञ्च। 'मुह्यति अनेन जीवः' इति मोहोऽनन्तानुबन्ध्यादिः। यस्य कर्मणः प्रसादात् 'जीवति' इत्युच्यते, प्राणान् धारयति, तदायुः। नाम्यन्ते प्राप्यन्ते येन गतिजात्यादिस्थानानि तन्नाम। विशिष्टकुलजात्यैश्वर्यादिप्रापणसमर्थमुच्चैर्गोत्रम्। तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्। दानलाभादिविघ्नकारि च अन्तरायमिति। 'मौलः' इति मूले भवो मौलः कर्मबन्धः॥ ३४॥

अर्थ—मूल कर्मबन्धके आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

भावार्थ—उक्त कारणोसे होनेवाला कर्मबन्ध ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ मूल भेद हैं। जो कर्म क्षायोपशमिक और क्षायिकज्ञानको ढाँकता है, वह ज्ञानावरण है। जो कर्म चक्षुदर्शन वगैरहको ढाँकता है, वह दर्शनावरण है। पाँचो निद्राएँ भी दर्शनावरणके ही भेद हैं, क्योंकि वे भी दर्शनको ढाँकती हैं। सुख और दुःखका अनुभव जो कर्म कराता है, वह वेदनीय है। जिस कर्मसे जीव मोहा जाता है, वह मोह है। उसके भेद अनन्तानुबन्धी आदि हैं। जिस कर्मके उदयसे जीव जीता है, अर्थात् प्राणोंको धारण करता है, वह आयु है। जिस कर्मके उदयसे गति जाति वगैरहकी प्राप्ति होती है, वह नाम है। जिस कर्मके उदयसे विशिष्ट जाति तथा ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है, वह उच्च गोत्र है। उससे उल्टा नीच गोत्र है। जो कर्म दान, लाभ, वगैरहमें विघ्न डालता है, वह अन्तराय है।

यद्येष मौलोऽष्टविधः अथोत्तरः कतिविधः? इत्याह—

अब उत्तर कर्मबन्धके भेद कहते हैं:—

पञ्च नव द्व्यष्टाविंशतिकश्चतुःषट्कसप्तगुणभेदः ।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरतः ॥३५॥

टीका—ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतिभेदाः पञ्च मतिज्ञानावरणादयः। दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतयो नव चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टयं निद्रादिपञ्चकञ्च[1]। वेदनीयं द्विविधं सद्वेद्यमसद्वेद्यञ्च। मोहोत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशतिः—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वम्, अनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधादय, अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार, प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः, संज्वलनाश्चत्वारः, हास्यं रतिररतिः भयं शोको जुगुप्सा स्त्रीवेद[2] पुंनपुंसकवेदश्चेति। आयुषश्चतस्र उत्तरप्रकृतयः—नारकायुः, तिर्यगायुः, मनुष्यायुः, देवायुरिति। षट् सप्तगुणा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति। अतो नामकर्मण उत्तरप्रकृतयो द्विचत्वारिंशद्, भवन्ति। प्रतिपदपाठात्तु[3] श्रूयन्ते। तद्यथा—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, बन्धननाम, संस्थाननाम, संघातनाम, संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, वर्णनाम, गन्धनाम, आनुपूर्वीनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, पराघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगतिनाम, प्रत्येकशरीरनाम, साधारणशरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, सूक्ष्मनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम, तीर्थकरनाम चेति। गोत्रस्योत्तरप्रकृतिद्वयम्। उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रञ्च। अन्तरायोत्तरप्रकृतयः पञ्च—दानान्तरायम्, लाभान्तरायम्, भोगान्तरायम्, उपभोगान्तरायम्, वीर्यान्तरायश्चेति। एवमेषामष्टानामपि कर्मणामुत्तरप्रकृतयः सप्तनवतिर्भवन्तीति। नामकर्मणः पुनःश्चतुर्विधा गतिः इत्यादि नामभेदेन सप्तषष्ठिरुत्तरप्रकृतयो भवन्ति। शेषाणां पञ्चपञ्चाशत्। एतदुभयमेकीकृतं द्वाविंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं भवति। तत्रापि विंशत्युत्तरप्रकृतिशतस्य बन्धः, सम्यग्मिथ्यात्वयोर्नास्ति बन्धः। मिथ्यात्वदलिकमेव विशुद्धं सत् सम्यक्त्वमुच्यते, सम्यग्मिथ्यात्वमपि दलविशुद्धं मिथ्यात्वमेवोच्यत इति ॥ ३५॥

अर्थ—पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच इस प्रकार उत्तरकर्मबन्धके ९७ भेद होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरणकी उत्तरप्रकृतियाँ पाँच हैं:—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियाँ नौ हैं:—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि।

मोहकी उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी-क्रोधादि चार, अप्रत्याख्यानावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार, सज्वलन चार, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद।

---

१ निद्रापञ्चकं च मु०। २ जुगुप्सा च, वेदः स्त्रीपुनपुंसकवेदश्चेति मु०। ३ प्रतिपदपाठेऽनुश्रूयन्ते ब०। दर० वि० प०।

आयुकी उत्तरप्रकृतियाँ चार हैं—नारकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

छहको सातसे गुणा करनेपर बयालीस होते हैं। अत. नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ बयालीस होती हैं—गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संस्थान, संघात, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आताप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येकशरीर, साधारणशरीर, त्रस, स्थावर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यश, अयश और तीर्थंकर नाम।

गोत्रकी उत्तरप्रकृतियाँ दो हैं:—उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

अन्तरायकी उत्तरप्रकृतियाँ पाँच हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय।

इस प्रकार इन आठो कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ सत्तानवें होती हैं। नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंके भेदोंको मिलानेसे, जैसे गतिके चार भेद हैं, नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ ६७ होती हैं। और शेष कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ पचपन होती हैं। दोनोंको मिलानेसे १२२ उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं। उनमेंसे भी बन्ध १२० ही प्रकृतियोका होता है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके दलिक ही विशुद्ध होनेपर सम्यक्त्व कहे जाते हैं, तथा उसी मिथ्यात्वके विशुद्ध दलोंको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्याः।
तीव्रो मन्दो मध्य इति भवति बन्धोदयविशेषः॥ ३६॥

टीका—एवमियं प्रकृतिरनेकविधा 'द्वाविंशत्युत्तरशतभेदा' इत्यर्थः। तस्याश्च प्रकृतेः स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धेभ्यः स्थितिबन्धानुभागबन्धप्रदेशबन्धाः तेभ्यः प्रकृतिबन्धविशेषो भवति, तीव्र मन्दः मध्य इति वा। उदयविशेषोऽपि तीव्रादिभेदः प्रकृतीनां भवति। तीव्राशयस्तदाश्रयेषु वर्तमानस्तीव्रं प्रकृतिबन्धं करोति, मन्दाशयो मन्दम्, मध्याशयो मध्यमिति। बन्धविशेषाच्चोदय इति। तत्र स्थितिबन्धो ज्ञानदर्शनावरणवेद्यान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टः। मोहस्य स्थितिबन्ध उत्कृष्ट सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः। नामगोत्रयो स्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्य। प्रकृष्टः स्थितिबन्ध आयुषः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि। वेदनीयस्य जघन्या बन्धस्थितिर्द्वादशमुहूर्ता। नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता। शेषकर्मणामन्तर्मुहूर्तस्थितिः।

अनुभागबन्धो विपाकाख्यः कर्मणः शुभस्याशुभस्य वा बन्धकाल एव रसविशेषं निर्वर्तयति। तस्यानुभवनं विपाकः। स यथा नामकर्मणः[1] गत्यादिस्थानेषु[2] विपच्यमानोऽनुभूयते। प्रदेशबन्धस्तु, एकस्मिन्नात्मप्रदेशे ज्ञानावरणपुद्गला अनन्ताः, तथा शेषकर्मणामपीति॥ ३६॥

---

१ नामकर्मणि मु०। २ गत्यादिषु स्थानेषु मु०।

अर्थ—इस प्रकृतिके अनेक भेद हैं। तथा स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षासे उसके बन्ध और उदयके तीव्र, मन्द और मध्यम भेद होते है।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे उत्तरप्रकृतियोंके एक सौ बाईस भेद होते हैं। स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धकी अपेक्षासे वह प्रकृतिबन्ध तीव्र, मन्द अथवा मध्यम भेद होता है, तथा उसका उदय भी तीव्र, मन्द अथवा मध्यम होता है। तीव्र परिणामोंसे तीव्र प्रकृतिबन्ध होता है, और मध्यम परिणामोंसे मध्यम प्रकृतिबन्ध होता है। बन्धमे विशेषता होनेसे उदयमें भी होती है, आशय यह है कि जब प्रकृतिकी उत्कृष्ट स्थिति होती है, तब उसका अनुभव और प्रदेशबन्ध भी उत्कृष्ट होते हैं, और उससे उस उत्कृष्ट स्थितिमें बन्ध और उदय-दोनों तीव्र होते हैं। इसी प्रकार जब प्रकृतिकी स्थिति जघन्य होती है, तो अनुभव और प्रदेश भी जघन्य होते हैं, और उससे स्थितिका बन्ध-उदय मन्द होता है। इसी तरह मध्यममें जानना चाहिए।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। मोहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। नाम और गोत्रका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। वेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त होता है। नाम और गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त होता है। शेष कर्मोंका अन्तर्मुहूर्त स्थितिबन्ध होता है। विपाकको अनुभागबन्ध कहते हैं। शुभ अथवा अशुभकर्मका जब बन्ध होता है, उसी समय उसमें रस विशेष भी पड़ता है। उस रस विशेषके अनुभवको विपाक कहते हैं। जब गति वगैरह स्थानोंमें कर्मका उदय आता है, तब वह विपाक अपने अपने नामके अनुसार होता है।

कर्मदलिकोंके समूहको प्रदेशबन्ध कहते हैं। जिस प्रकार एक आत्म-प्रदेशमें अनन्त दलिक रहते हैं। तथा अन्यकर्मोंके भी अनन्त दलिक रहते हैं।

बन्धके कारण कहते हैं—

तत्र प्रदेशबन्धो योगात्तदनुभवनं कषायवशात्।
स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण ॥ ३७ ॥

टीका—तत्र तेषु चतुर्षु बन्धभेदेषु प्रदेशबन्धस्तावत् योगात् मनोवाक्कायलक्षणाद् भवति–'आत्मप्रदेशेषु ज्ञानावरणादिपुद्गलोपचयो जायते' इत्यर्थः। तस्य प्रदेशबद्धस्य कर्मणोऽनुभवनं कषायवशाद् 'विपाकः' इत्यर्थः। स्थितिविशेष पाकविशेषश्च तस्य लेश्याविशेषजनितो भवति 'उत्कृष्टः मध्यमः जघन्यः' इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगमें प्रदेशबन्ध होता है, कषायसे अनुभागबन्ध होता है, और लेश्याकी विशेषतासे स्थिति और विपाकमें विशेषता आती है।

भावार्थ—बन्धके चार भेदोमें से प्रदेशबन्ध योगसे होता है। अर्थात् मनोयोग, वचनयोग, और काययोगके कारण आत्माके प्रदेशोंमें ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलोंका संचय होता है, और कषाय-

के कारण उन बँधे हुए कर्मोंका अनुभवन अर्थात् विपाक होता है, तथा जिस प्रकारकी लेश्या होती है, उसी प्रकारका उत्कृष्ट, मध्यम, और जघन्य स्थितिबन्ध होता है, और उसी प्रकारकी उसमें रस-शक्ति पडती है।

तत्र 'लेश्या' इति कः पदार्थः ? कति वा भवन्ति लेश्या इत्याह—

लेश्याका स्वरूप तथा उसके भेद बतलाते हैं.—

ताःकृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामानः ।
श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः ॥३८॥

टीका—षट् लेश्याः-मनसः परिणामभेदा[1]। स च परिणामस्तीव्रो[2]ऽध्यवसायोऽशुभो जम्बूफलबुभुक्षुषट्पुरुषदृष्टान्तादिसाध्यः । अपरे त्वाहुः- 'योगपरिणामो लेश्या । यस्मात् कायवाग्व्यापारोऽपि मनःपरिणामापेक्षस्तीव्र एवाशुभो भवति। अशुभशुभकर्मद्रव्यसदृशाः स्वान्तःपरिणामा जायन्ते प्राणिनां वर्णकाश्चेति। काः (के)? हरितालहिंगुलिकादयः[3], तेषां कुड्यादौ चित्रकर्मणि स्थैर्यमापादयति श्लेषो वर्णाना बन्धे दृढीकरणम्। एवमेता लेश्याः कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः। तीव्रपरिणामाः स्थितिं कर्मणामतिदीर्घा विदधति दुःखबहुलां कृष्णनीलकापोताख्या निकाचनावस्थापनेन । तैजसीपद्मशुक्लनामानः शुभस्य कर्मबन्धस्यानुफलदाः शुभबहुलामेव कर्मस्थितिं विदधति महतीं[4] विशुद्धां विशुद्धतरा विशुद्धतमाश्च उत्तरोत्तरा भवन्तीति ॥ ३८ ॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोत, तैजस, पद्म और शुक्ल—ये लेश्याके छह भेद हैं । जिस प्रकार सरेससे रंग पक्का और स्थायी हो जाता है, उसी प्रकार ये लेश्याएँ भी कर्मबन्धकी स्थितिको दृढ करनेवाली होती है।

भावार्थ—लेश्याओके छह भेद हैं। परिणामविशेषको लेश्या कहते हैं । जामुन खानेके इच्छुक पुरुषोंके दृष्टान्तको लेकर उन पुरुषोंके अपने अपने जैसे तीव्र, मन्द, या मध्यम परिणाम थे, वैसी ही उनकी लेश्या जाननी चाहिए। अन्य आचार्यों का मत है कि योगपरिणामको ही लेश्या कहते हैं । क्योंकि शरीर और वचनका व्यापार मनके परिणामकी अपेक्षासे ही तीव्र होता है, और तीव्र होनेसे अशुभ होता है। आशय यह है कि लेश्या मनमें होनेवाले भावोंकी दशाका नाम है। किन्तु अन्य आचार्य कायिक और वाचनिक क्रियाको भी लेश्या कहते हैं । उनका कहना है कि मनुष्य जब कुछ करता है, या बोलता है, तब भी उसके करने या बोलनेमें मनके भावोंकी ही मुख्यता रहती है । मनमें यदि क्रोध होता है, तो उसकी शारीरिक-क्रिया और वाचनिक-क्रियामें बराबर उसका असर पाया जाता है। अतः योग-

१ षट् लेश्यानां भेदाः। स च परिणामापेक्षः ती—मु० २ परिणामापेक्षस्ती—ब० । ३ हिंगुलकाद—प० । ४ महता विशुद्धा वि० मु० ।

परिणामको लेश्या कहते हैं। जिस प्रकार दीवार वगैरहपर चित्रोंको स्थायी बनानेके लिए रंगोंमें सरेस डाल देते हैं, सरेससे रंग पक्का और स्थायी हो जाता है। इसी प्रकार ये लेश्याएँ कर्मबन्धकी स्थितिको दृढ़ करती है। अर्थात् कृष्ण, नील, और कापोत लेश्यारूप तीव्र परिणामोसे कर्मोंकी स्थिति अति दीर्घ और दुःख देनेवाली होती है। तथा तैजस, पद्म और शुक्ल लेश्यासे शुभ कर्मोंकी स्थिति अधिक और शुभ फल देनेवाली होती है। ये तीनों लेश्याएँ उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम होती है।

'तस्मिन् पुनः कर्मणि बद्धे आत्मसात्कृते किं भवति?' इत्याह—

आत्माके साथ कर्मोंका बन्ध होजानेपर क्या होता है? यह बतलाते हैं—

कर्मोदयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः।
देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे ॥३९॥

टीका—उदिते विपाकप्राप्ते तस्मिन् कर्मणि भवो नरकादिगतयः तत्रोत्पत्तौ भवगतौ सत्यां नरकादिशरीरनिर्वृत्तिः। भवगतिःमूलं बीजं यस्याः सा भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः। देहनिर्वृत्तेश्च[2] स्पर्शनादीन्द्रियनिर्वृत्ति। ततः स्पर्शनादिविषयग्रहणशक्तिः। ततश्चेष्ट विषय-निमित्तः सुखानुभवः, अनिष्टविषयनिमित्तश्च दुःखानुभवः ॥ ३९ ॥

अर्थ—कर्मके उदयसे जीवको नरकादिक गतियोमें जाना पड़ता है। नरकादिक गतियोमें जानेसे शरीर बनता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंमें विषयको ग्रहण करनेकी शक्ति होती है और विषयोके ग्रहण करनेसे सुख-दुःख होते हैं।

भावार्थ—बाँधा हुआ कर्म जब उदयमें आता है, तो वह जीवको नरकादिक गतियोमें ले जाता है। वहाँ शरीर बनता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं, और उनमें विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्ति होती है। इष्ट विषयके भोगसे सुख और अनिष्ट विषयके भोगसे दुःख होता है।

'अत्र च स्वभावादेव सर्वः प्राणी सुखमभिलषति दुःखाच्चोद्विजते। मोहान्धो गुण दोषानविचार्य सुखसाधनाय यतमानो यां यां क्रियामारभते सा साऽस्य दुःखहेतुर्भवति' इति दर्शयति—

इस संसारमें स्वभावसे ही सभी प्राणी सुख चाहते हैं, और दुःखसे डरते हैं। मोहसे अन्धा हुआ जीव भले बुरेका विचार न करके सुखकी प्राप्तिके लिए जो जो काम करता है, वह उसके दुःखके ही कारण होते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार निम्न कारिकासे बतलाते हैं:—

दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः।
यां यां करोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते ॥४०॥

टीका—दुःखं द्वेष्टीति दुःखद्विट्। सुखं लिप्सते तच्छीलश्च सुखलिप्सुः। मोहोऽष्टाविंशतिभेदः, तेनान्धो न गुणं दोषं वा पश्यति। चेष्टा कायिकी वाचिकी मानसी वा क्रिया।

१— कषायसे रंगी हुई योग-प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। २ देहनिर्वृत्तिश्च मु०।

तेन यादृशी[1] या क्रियते क्रिया तया तया दुःखमादत्ते–दुःखमनुभवति। कर्मैव वा दुःखम्, कारणे कार्योपचारात्। तदादत्ते–'दुःखकारणं कर्म बध्नाति' इत्यर्थः ॥ ४० ॥

अर्थ—दुःखका बैरी और सुखका चाहनेवाला प्राणी भले-बुरेका विचार न करता हुआ, मोहसे अन्धा होकर जो जो काम करता है, उससे दुःखको ही भोगता है।

भावार्थ—सुख पानेकी इच्छासे विना विचारे मोहमें पड़कर प्राणी जो कुछ मनसे, वचनसे, और कायसे चेष्टा करता है, वह चेष्टा कर्मबन्धका कारण है, और कर्मबन्ध दुःखका कारण होनेसे दुःखरूप है। अतः कारणमें कार्यका उपचार करके 'चेष्टासे दुःखका अनुभव करता है' ऐसा कह दिया है। वैसे तो उस चेष्टासे कर्मबन्ध करता है, और कर्मबन्ध से दुःख भोगता है।

तत्र पञ्चसु इन्द्रियार्थेषु एकैकविषयप्रवृत्तावपि प्रत्यपायान् पञ्चभिर्दृष्टान्तैर्दर्शयति—

पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय हैं। उनमेंसे एक एक विषयमें भी प्रवृत्ति करनेपर जो आपदाएँ आती हैं, उन्हें पाँच दृष्टान्तोंसे बतलाते हैं—

कलरिभितमधुरगान्धर्वतूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः।
श्रोत्रावबद्धहृदयो हरिण इव विनाशमुपयाति ॥ ४१ ॥

टीका—कला अस्मिन् विद्यन्त इति कलं मात्रायुक्तं ग्रामरागरीत्या युक्तम्। रिभितं मधुरं श्रोत्रसुखम्। गान्धर्वविशेषणान्येतानि। तूर्यं वादित्रविशेषः, तस्य ध्वनिः। योषितां विभूषणानि नूपुररसनाकिंकिणिकादिध्वनितानि, तेषां रवः शब्दः। एवमादिभिर्मनोहारिभिः शब्दैः। श्रोत्रेन्द्रियावबद्धहृदयः–श्रोत्रे श्रोत्रेन्द्रियविषयेऽवबद्धं हृदयं येन स श्रोत्रावबद्धहृदयः। कुरङ्गो विनाशमाशु प्राप्नोति गोचर्याखेटके। तद्वदपरोऽपि प्रमादीति ॥ ४१ ॥

अर्थ—गायकके मनोहर और मधुर संगीत, वाद्य तथा स्त्रियोंके आभूषणोंके शब्द वगैरहसे जिसका हृदय श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें आसक्त है, वह हिरनकी तरह विनाशको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिसमें कला है उसे कल कहते हैं। उतार-चढ़ाव तथा ग्राम-रागकी रीतिसे युक्त कानोको सुख देनेवाला गायकोका संगीत, बाजोकी मधुर ध्वनि, और स्त्रियोके बिछुए, करधनी, घुँघरू आदि आभूषणोंका शब्द—इस प्रकारके मनोहारी शब्दोंको सुनकर जिसका मन कर्णेन्द्रियके विषयमें फँस जाता है, वह उसी प्रकार अपना सर्वनाश करता है, जिस प्रकार शिकारीके संगीतकी ध्वनिमें आसक्त होकर हिरन अपना सर्वनाश कर बैठता है।

गतिविभ्रमेङ्गिताकारहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः।
रूपावेशितचक्षुः शलभ इव[3] विपद्यते विवशः ॥ ४२ ॥

टीका—गतेर्विभ्रमः–मद्धणप्रकारः 'सविकारा गतिः' इत्यर्थः। इङ्गितं निरीक्षितं स्निग्धया दृष्ट्याऽवलोकनम्। आकारः–तन्मुखोरुसंनिवेशविशेषः। हास्यं सविलासं 'सलीलं

१ तादृशा मु०। २ पदमिदं दीर्घसमस्तं नास्ति मु० प्रतौ। ३ इति मु०।

हसितम्', इत्यर्थः। कटाक्ष-अपाङ्गसन्निवेशितदृष्टिः सामर्षा। एभिर्विशेषणैः विक्षिप्तः प्रेरितो वनितारूपादौ निवेशितचक्षुः शलभ इव विपद्यते विनश्यति। शलभो हि दीपशिखावलोकनाक्षिप्तोऽभिमुखः पतितः तत्रैव भस्मसाद् भवतीति ॥ ४२ ॥

अर्थ—मदमाती गति, प्रेमभरी चितवन, मुख, जाँघ वगैरह अवयव, मदभरी हँसी तथा कटाक्षसे पागल हुआ मनुष्य स्त्रीके रूपपर आसक्त होकर पतङ्गकी तरह विपत्तिका शिकार बनता है।

भावार्थ—जिस प्रकार पतङ्ग दीप-शिखापर मुग्ध होकर उसीमें जलकर राख हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी स्त्रीकी प्रेमभरी चेष्टाओ और उसके रूपपर मुग्ध होकर अपना सब कुछ गँवा बैठते हैं।

स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥ ४३ ॥

टीका—कतिपयसुरभिद्रव्यसमाहारः स्नानम्। अङ्गरागः-चन्दनकुंकुमादिविलेपनम्। धूपद्रव्यकृता वर्तिरेव वर्तिका। (सैव धूपो वर्तिकाधूप एवासौ संजायते।) सैव दह्यमाना धूपायते। वर्णकाः कृष्णादयः। अधिवासो मालतीकुसुमादिभिः। पटवासो गन्धद्रव्यचूर्णः। एभिः स्नानादिभिर्गन्धैः भ्रमितम्- आक्षिप्तं मनो यस्यासौ गन्धभ्रमितमनस्कः। मधुकरः शिलीमुख इव विनाश प्राप्नोति। सुरभिणा पद्मगन्धेन आकृष्टश्चञ्चरीकस्तन्मध्यवर्तिगन्धमाजिघ्रन्स्तमिते सवितरि संकुचयत्यपि नलिने नाशमुपयाति। निरुद्धत्वाच्च तत्रैव परासुतां लभत इति।

अर्थ—स्नान, अङ्गराग, धूपवत्ती, सुगन्धित लेप, अधिवास और पटवासकी सुगन्धसे पागल हुआ मनुष्य भौंरेके समान मृत्युको प्राप्त होता है।

भावार्थ—इसमें कुछ सुगन्धित द्रव्योंको गिनाया गया है। चन्दन, केशर वगैरहका लेप करनेको अङ्गराग कहते हैं। धूपकी बनाई गई वत्तीको धूपवत्ती कहते हैं। उसे जब जलाते हैं तब वह धूपकी ही तरह सुगन्ध देती है। किसी चीजको मालती वगैरहके फूलोकी सुगन्धसे सुवासित करनेको अधिवास कहते हैं। कपड़ोंको सुवासित करनेके लिए तैयार किये गये सुगन्धित चूर्णको पटवास कहते हैं। इनकी सुगन्धसे जिनका मन चंचल हो उठता है, वह भौंरेकी तरह नाशको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार भौंरा कमलकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर उसके भीतर बैठकर उसकी गन्ध लिया करता है। जब सूर्य डूब जाता है, तो कमल बन्द हो जाता है। कमलके बन्द होते ही वह उसके अन्दर बद हो जाता है। और उसके बन्द होनेसे वह वहीं मर जाता है।

मिष्टान्नपानमांसोदनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा।
गलयन्त्रपाशबद्धो मीन इव विनाशमुपयाति ॥ ४४ ॥

---

१ सन्निवेशिता द—मु०। २ वर्तिः सैव धूपो ब०।

टीका—मिष्टमत्यन्तस्वादु सर्वदोषरहितं भक्षभोज्यं विविधम् । पानकादि मद्यं प्रसन्नादि वा पानम् । मांसं छागहरिणशूकरभशशलावकादीनाम् । शाल्योदनादि च । मधुरो रसः खण्डशर्करादि च । स एव विषयो रसनायाः । तस्मिन् गृद्धः सक्त आत्मा यस्य । लोहांकुशको गलः । यन्त्राणि जालादि–मर्माणि सिंहव्याघ्रद्वीपिमूषिकादिव्यापादनहेतो क्रियन्ते । तन्तुमया पाशा तित्तिरलावकमयूरादिव्यापत्तये निक्षिप्यन्ते । अथवा यन्त्रमानायः स एव पाशः तेन बद्धो वशीकृतो मीन पृथुरोमा मृत्युमुखमाविशति ॥ ४४ ॥

अर्थ—मीठा स्वादिष्ट भोजन, मदिरा अथवा कोई अन्य मधुर पेय, मांस, सुगन्धित चावलोंका भात तथा खाँड-शक्कर वगैरह, रसना इन्द्रियके विषयोंमें जिसकी आत्मा आसक्त है, वह लोहेके यंत्र अथवा जालमें फँसे हुए मीनके समान नाशको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—लोहेके बने हुए यन्त्रको गल-यन्त्र कहते हैं, और उससे शेर व्याघ्र, चूहे वगैरह पकड़े जाते हैं। धागोंका बना पाश होता है। यह तीतर, लावा, मोर वगैरह पक्षियोंके पकड़नेके काम आता है। जिस प्रकार धीवर लोहेके काँटेको जलमें डालता है और उसमें लगे हुए मांसके खानेके लोभमें आकर मछली मृत्युके मुखमें चली जाती है, उसी प्रकार रसना इन्द्रियके विषयोंके लोभमें पड़कर यह प्राणी भी विपत्तिमें फँस जाता है।

शयनासनसंवाहनसुरतस्नानानुलेपनासक्तः ।
स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः ॥ ४५ ॥

टीका—शयनं स्वप्रमाणा शय्या तुल्योपधानकप्रच्छादनपटसनाथा । आसनमपि आसंदकादि व्यपगतोपद्रवं मृदुवध्रुपट्टादियुतम् । संवाहनम्–अङ्ग-मर्दनम् । सुरतं कोमलगात्रयष्टेः प्रियायाः चुम्बनालिङ्गनादि । स्नानानुलेपने पूर्वोक्ते । तेषु सक्तो–व्यसनी । शय्यादिसंस्पर्शेन प्रियाङ्गस्पर्शेन च व्याकुलितमति—मोहितबुद्धिः गजेन्द्र इव गणिकाकरिणीभिः कराग्रैः संस्पर्शमान—वीज्यमानश्च सत्कुसुमैः पल्लवैः कांश्चित् सूप ? कांश्चित् दन्तकाण्डेन प्रेरयन्, कांश्चिदग्रेकृत्वा, कांश्चित् पृष्ठतो विधाय, पार्श्वतश्चान्या स्वच्छन्दचारी क्रीडन्ननेकविधा-(कधा) वारि[11] (री) पञ्जरमध्यमानीतः, ततश्चाधोरणेनाधिरूढस्तीक्ष्णाङ्कुशाग्रग्राहग्रस्तमस्तकः परवशोऽनेकप्रकारं दुःखमनुभवतीति ॥ ४५ ॥

अर्थ—बिछावन, तकिया वगैरहसे सुसज्जित शय्या, कोमल आसन, अंगमर्दन, संभोग, स्नान और अनुलेपनमें आसक्त हुआ मनुष्य, प्रियाके शरीरके आलिङ्गनसे पागल हुए मूर्ख हाथीके समान बन्धको प्राप्त होता है।

---

१ भक्षमन्न मो—प० । २ पानकादिकम—ब० । ३ छागहतहरिण—प० । ४ शूकरशश—प० । ५ गलोयन्त्राणि आ० । ६ छागादिगात्राणि आ० । ७ स्नायुम—प० म० । ८ प्रमाणा शय्या मु०, आत्मप्रमाणा भ० आ० । ९ नास्ति पदमिदं भ० आ० पुस्तकयोः । १०—विधावा—मु० ११ वारी भ० आ० ।

भावार्थ—हाथीको पकड़नेके लिए अनेक हथिनियाँ छोड़ी जाती है। वे उसे अपनी सूँड़ोसे छूती हैं, फूलों और पत्तोंसे भरी टहनियोंको सूँड़में दबाकर उसके ऊपर ढोरती हैं। उनके स्पर्शसे मोहित हुआ हाथी किसी हथिनीको स्पर्श करता है, किसीको दाँतोंसे धक्का देता है। किसीको आगे करता है, किसीको पीछे करता है, और किसीको अपनी बगलमें करता है। इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए उस हाथीको वे हथिनियाँ हाथी पकड़नेके स्थानपर ले जाती है, वहाँ उसके पकड़े जानेपर हाथीवान् उसपर सवार हो जाता है और उसके मस्तकमें अङ्कुश गड़ागड़ाकर उसे वशमें कर लेता है। इसी प्रकार स्पर्श इन्द्रियके फेरमें पड़कर मनुष्यको भी बहुत दुःख सहना पड़ता है।

'इत्थमेकेन्द्रियविषयगृद्धानामपायद्वारमात्रमुक्तम्' इति उपसंहरति—

इस प्रकार एक एक इन्द्रियके विषयोंमें आसक्त हुए जीवोंके दुःखोका संकेतमात्र करके उसका उपसहार करते हैं:—

एवमनेके दोषाः प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम् ।
दुर्नियमितेन्द्रियाणां भवन्ति बाधाकरा बहुशः ॥ ४६ ॥

टीका—एवम्-उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्य एकैको दोषः प्रदर्शितः। तद्द्वारेण च परलोकेऽप्यनिवृत्तविषयसङ्गानां बहवो दोषा नारकतिर्यग्योनिभवादिषु भवन्ति। केषामेते दोषाः? प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम्। शिष्टा विवेकिनः परलोकपथप्ररूपणानुष्ठाननिपुणाः, तेषामिष्टा दृष्टिचेष्टा। दृष्टिः सन्मार्गोपदेशि ज्ञानम्। चेष्टा क्रियानुष्ठानम्। उभयावेते शिष्टेष्टदृष्टिचेष्टे प्रणष्टे येषां ते प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टाः, तेषाम्। दुर्नियमितेन्द्रियाणाम्—दोषेषु न नियमं ग्राहितानि इन्द्रियाणि यैः—श्रोत्रादिविषयव्यसनानि दोषाः-तेषां दुर्नियमितेन्द्रियाणाम्। बाधाकराः पीडाकराः शारीरमानसाशर्मकारिणोऽनेकशः संसारोदधौ परिवर्तनमाचरतामिति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिनके शिष्ट जनोके योग्य ज्ञान और चारित्र नहीं हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं हैं, उनमें इस प्रकारके पीड़ा पहुँचानेवाले प्रायः अनेक व्यसन पाये जाते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार उक्त रीतिसे इन्द्रियोके विषयोमें आसक्त करनेकी एक एक बुराई बतलाई है, जो प्रत्यक्षगोचर है। जो समझदार मनुष्य परलोकके उपयोगी मार्गका कथन और आचरण करनेमें निपुण होते हैं उन्हें शिष्ट कहते हैं। उन्हें सन्मार्गका उपदेश करना और स्वय उसका आचरण करना प्रिय होता है। जो ऐसे नहीं है और विषयोके संगसे विरत नहीं हुए है, उन्हें उनके कारण नरक, तिर्यञ्च आदि योनियोमें अनेक शारीरिक और मानसिक पीड़ाएँ भोगनी पड़ती है।

'अपि चैते कुरङ्गादयो विनाशभाजः संवृत्ता[2] एकैकविषयासक्ताः। यः पुनः पञ्चस्वपि इन्द्रियार्थेषु सक्तः स किल यज्जीवति तदेव चित्रम्' इति उपसंहरन्नाह—

---

१ इत्थमेवेन्द्रिय—मु०। २ सम्प्राप्ता मु०।

तथा ये हिरन वगैरह एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त होकर विनाशको प्राप्त होते हैं, किन्तु जो पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होकर भी जीता है, उसका जीना अचरजकी ही बात है। उपसंहार करते हुए इसी बातको कहते हैं:—

एकैकविषयसंगाद् रागद्वेषातुरा विनाशास्ते ।
किं पुनरनियतात्मा जीवः पञ्चेन्द्रियवशार्तः ॥ ४७ ॥

टीका—शब्दाद्येकैकविषयसंगाद् रागद्वेषवशगतत्वादातुरास्ते कुरङ्गादयो विनाशं गताः। मान्द्याभिभूतापथ्याश्यातुरवत् । 'किं पुनरनियतात्मा ?' इति । नात्मा नियमं ग्राहितः—न निवारितः शब्दादिविषयेषु प्रीतिमनुबध्नन् पञ्चानामिन्द्रियाणां वशवर्ती । अत एव आर्तः— अप्राप्तान् विषयानभिलषन् प्राप्तांश्चावियोगतश्चिन्तयन्नति ॥ ४७ ॥

अर्थ—जब राग और द्वेषसे पीड़ित वे हिरन वगैरह एक एक विषयके सम्बन्धसे विनाशको प्राप्त हुए तब पाँचों इन्द्रियोंकी पराधीनतासे पीड़ित असंयमी जीवका कहना ही क्या है ?

भावार्थ—मन्दाग्निसे पीड़ित अपथ्यसेवी बीमारकी तरह, राग और द्वेषसे पीड़ित उक्त हिरन वगैरह जन्तु शब्दादिक एक एक विषयके ससर्गसे मृत्युके मुखमें चले जाते हैं, तब जो शब्दादिक विषयोंमें प्रीति करनेसे अपनी आत्माको नहीं रोकता है तथा पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-तृष्णासे पीड़ित होकर अप्राप्त विषयोंकी इच्छा करता है, और प्राप्त विषयोंके विछोह न होनेकी चिन्ता करता है, उसका तो कहना ही क्या है ?

'न च कश्चिच्छब्दादिर्विषय[1] समस्ति योऽभ्यस्यमानः सर्वथा तृप्तिं करिष्यति' इत्येतद् प्रदर्शयन्नाह—

अब यह बतलाते हैं कि ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसके बार-बार सेवन करनेसे सर्वथा तृप्ति होती हो—

न हि सोऽस्तीन्द्रियविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतृषितानि ।
तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षाण्यनेकमार्गप्रलीनानि ॥ ४८ ॥

टीका—नैवास्ति इन्द्रियविषयः स शब्दादिः, येनाभ्यस्तेन-पुनः पुनरासेव्यमानेन, नित्यतृषितानि[2]-नित्यमेव साभिलाषाणि सपिपासानि तृप्तिं प्राप्नुयुः अक्षाणि-इन्द्रियाणि, अनेकस्मिन् मार्गे शब्दादावनेकभेदे प्रकर्षेण लीनानि तन्मयतां गतानि तदासक्तानि, पुनः पुनराकांक्षन्त्येव स्वविषयान् ॥ ४८ ॥

अर्थ—इन्द्रियका ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसके बार-बार सेवन करनेसे सर्वदाकी प्यासी और अनेक विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंकी तृप्ति हो सकती हो ।

१ विषयेषु समस्तेषु अभ्य—भ० आ० । २ नित्य तृ—भ० आ० ।

भावार्थ—ये इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोमें एकरस नहीं हैं। अपने विषयोको भोगते हुए भी इनकी विषयोंकी चाह बनी ही रहती है।

'अपि च, एतानि इन्द्रियाणि स्वविषयेषु नैकरसानि, यस्मादिष्टमप्यनिष्टमनिष्टमपीष्टं मन्यते' इति दर्शयन्नाह—

अब यह बतलाते हैं कि इष्ट विषय भी अनिष्ट लगने लगता है, और अनिष्ट विषय भी इष्ट लगने लगता है:—

कश्चिच्छुभोऽपि विषयः परिणामवशात्पुनर्भवत्यशुभः।
कश्चिदशुभोऽपि भूत्वा कालेन पुनः शुभीभवति॥ ४९॥

टीका—इष्टोऽपि कश्चिद्विषयो वेणुवीणागायनादीनां यथा ध्वनिः, बुभुक्षार्तस्य पिपासितस्य वा रागपरिणामवशात् प्रागिष्ट पश्चात् द्वेषपरिणामादनिष्ट आपद्यते। स एव पुनरशुभ कालान्तरेण रागपरिणामादिष्टो जायत इति। अनवस्थितप्रेमाणीन्द्रियाणि इति। अतस्तज्जनितं सुखमनित्यमिति॥ ४९॥

अर्थ—परिणामोंके वशसे कोई इष्ट भी विषय अनिष्ट हो जाता है, और कोई अनिष्ट भी होकर कालान्तरमें पुनः इष्ट हो जाता है।

भावार्थ—बाँसुरी, गायन आदिकी ध्वनि पहले मीठी लगती है, बादको भूख अथवा प्याससे पीड़ित होनेपर वही मधुर ध्वनि कर्णकटु लगने लगती है। सारांश यह है कि इन्द्रियोंका प्रेम अस्थिर है, अतः उनसे होनेवाला सुख भी अनित्य है।

'तस्मात् प्रयोजनापेक्षाणि व्यापार्यन्ते जीवेन' इत्याह—

अतः जीव प्रयोजनके अनुसार इन्द्रियोका व्यापार करता है, यह बतलाते हैं:—

कारणवशेन यद्यत् प्रयोजनं जायते यथा यत्र।
तेन तथा तं विषयं शुभमशुभं वा प्रकल्पयति॥ ५०॥

टीका—रागाध्मातमानसो गीतध्वनिमाकर्णयिषुः[2] श्रोत्रं व्यापारयति। एवमभीष्टरूपालुलोकयिषया चक्षुर्व्यापारयति। एवं शेषेन्द्रियविषयेष्वपि प्रयोजनवशाद् व्यापारयति घ्राणादीनि। तेन प्रयोजनेन तथा तथा उत्पन्नेन तं विषयं शब्दादिकमिष्टतयाऽनिष्टतया वा रागद्वेषवशात् परिकल्पयति।

अर्थ—कारणके वशसे जहाँ जैसा जो जो प्रयोजन होता है, उस प्रयोजनके अनुसार वैसा ही उस विषयको इष्ट अथवा अनिष्ट कल्पना कर लेता है।

---

१ एकः कश्चिद्राग—मु०। २–माविकर्णयिषुः भ० आ०।

भावार्थ—संगीतकी ध्वनिको सुननेका इच्छुक कोई मनुष्य मनको रागसे भरकर अपने कानोको उधर लगाता है। जब अभीष्ट रूपको देखनेकी इच्छा होती है तो उधर आँखें फेरता है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियाँ भी प्रयोजनके वशसे घ्राण आदि इन्द्रियोंका व्यापार करती हैं। इस तरह जैसा जैसा प्रयोजन होता है, उसके अनुसार उस विषयमें लोग इष्ट अथवा अनिष्टकी कल्पना कर लेते हैं।

अन्येषां यो विषयः स्वाभिप्रायेण भवति पुष्टिकरः।
स्वमतिविकल्पाभिरतास्तमेव भूयो द्विषन्त्यन्ये ॥ ५१ ॥

टीका—विवक्षितपुरुषाद्येऽन्ये, तेषां यो विषय शब्दादिः, स्वाभिप्रायेण उल्वणरागाणां स्वमनःपरिणामवशात् परितोषमाधत्ते । अपरे तु स्वमतिविकल्पाभिरता प्रबलद्वेषवशात् स्वमनोविकल्पशिल्पघटनया तमेव विषयं पुनरनिष्टतया द्विषन्ति ॥ ५१ ॥

अर्थ—किन्हींको अपने अभिप्रायके अनुसार जो विषय अच्छा लगता है, उसी विषयसे दूसरे लोग अपने अभिप्रायके अनुसार द्वेष करते हैं।

भावार्थ—ससारमें ऐसा नहीं है कि जो विषय एक मनुष्यको अच्छा लगता है, दूसरेको भी वह अच्छा लगना चाहिए और जो एकको बुरा लगता है, दूसरेको भी वह बुरा लगना चाहिए, वास्तवमें विषयकी अच्छाई-बुराई मनुष्यके प्रयोजनके ऊपर निर्भर है। यदि मनुष्यका किसी पदार्थसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है तो वह उस पदार्थसे राग करता है, और दूसरेका यदि उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता है तो वही पदार्थ उसे अरुचिकर हो जाता है।

' एवमनवस्थितप्रेमाणो विषयाः परमार्थतो न वाऽप्रियाः ' इति दर्शयन्नाह—

इस प्रकार अस्थिर प्रेमवाले विषय वास्तवमें न इष्ट होते हैं और न अनिष्ट, यह बतलाते हैं—

तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य ।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ॥ ५२ ॥

टीका—तानेव इष्टान् शब्दादीन् द्विषतो विषयभुजस्तानेव च द्वेष्याननुप्रलीयमानस्य तन्मयतां गच्छतः समुपजातरागस्य, निश्चयतः—परमार्थतो नैकान्तेनैवास्य संभवति किञ्चिदिष्टमनिष्टं वा ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह जीव उन्हीं विषयोंसे द्वेष करता है और उन्हीं विषयोंसे राग करता है। अतः निश्चयसे इसका न कोई इष्ट है और न कोई अनिष्ट है।

भावार्थ—मनुष्य जिन विषयोंसे राग करता है, उन्हींसे द्वेष भी करता है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये विषय इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं हैं। मनुष्य ही अपनी रागद्वेषमयी परणतिके कारण अपने प्रयोजनके अनुसार उनमें इष्ट अथवा अनिष्ट बुद्धि रखते हैं। यदि यह विषय ही इष्ट अथवा अनिष्ट होते तो जो विषय एक मनुष्यको इष्ट होता, वह सभीको इष्ट ही होना चाहिए और जो एकको

अनिष्ट होता वह सभीको अनिष्ट ही होना चाहिए। परन्तु लोकमें ऐसा नहीं देखा जाता। एक पदार्थमें भी दो मनुष्य अपने अपने प्रयोजनके अनुसार इष्ट और अनिष्टकी कल्पना किया करते हैं।

'इहलोकपरलोकयोश्च कर्मबन्धाद् ऋते न कश्चिदपि गुणः संभाव्यते रागिणो द्वेषिणो वा' इति दर्शयन्नाह—

अब 'रागी और द्वेषी जीवके इस लोक और परलोकमें कर्मबन्धके सिवाय अन्य किसी गुणकी संभावना नहीं की जा सकती,' यह कहते हैं:—

रागद्वेषोपहतस्य केवलं कर्मबन्ध एवास्य।
नान्यः स्वल्पोऽपि गुणोऽस्ति यः परत्रेह च श्रेयान् ॥ ५३ ॥

टीका—रागद्वेषाभ्यामुपहतमानसस्य विभाव्यते नापरः श्रेयान् गुणः परलोके कश्चिदिहलोके वा विद्यत इति ॥ ५३ ॥

अर्थ—राग और द्वेषसे युक्त जीवके केवल कर्मबन्ध ही होता है। इसके सिवाय कोई थोड़ा भी गुण ऐसा नहीं होता, जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी हो।

भावार्थ—रागी और द्वेषी मनुष्य अपनी राग-द्वेषमयी परणतिके कारण निरन्तर कर्मबन्ध ही किया करता है। कर्मबन्धके कारण उसका संसार-वास हल्का नहीं हो पाता, और वह सदैव सांसारिक कष्टों का ही सामना किया करता है। इस राग-द्वेषपूर्ण परिणतिसे उसका तनिक भी कल्याण नहीं होता।

'कथं पुनः कर्मबन्धादन्यो गुणो नास्ति ?' इति विभावयन्नाह—

कर्मबन्ध होनेके सिवाय अन्य गुण न होनेका कारण बतलाते हैं:—

यस्मिन्निन्द्रियविषये शुभमशुभं वा निवेशयति भावम्।
रक्तो वा द्विष्टो वा स बन्धहेतुर्भवति तस्य ॥ ५४ ॥

टीका—शब्दादिके विषये भावं-चित्तपरिणामं शुभमिष्टं रागयुतो निवेशयति। अशुभं वाऽनिष्टं भावं द्वेषयुतः स्थापयति। स स भावस्तस्यात्मनो ज्ञानावरणादिकर्मणोऽष्टविधस्य बन्धहेतुर्भवति। 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः' इति वचनात् ॥५४॥

अर्थ—जिस इन्द्रियके विषयमें इष्ट अथवा अनिष्ट भावको करता है, राग अथवा द्वेषसे युक्त होनेके कारण उसका वह भाव बन्धका ही हेतु होता है।

भावार्थ—तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है कि—'जीव कषायसे युक्त होनेके कारण कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, इसीको बन्ध कहते है।' अतः जब जीव किसी इन्द्रियके विषयमें राग अथवा द्वेष करता है तो उसके कर्मबन्धके सिवाय ओर क्या हो सकता है ?

'कथं पुनरात्मप्रदेशेषु कर्मपुद्गला लगन्ति ?' इत्याह—

आत्माके प्रदेशोंसे कर्मपुद्गल किस प्रकार चिपटते हैं। यह बतलाते हैं:—

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति नातिसूक्ष्मस्थूलाः, तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहार्द्रस्य ज्ञानावरणादिवर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेलकी मालिशकी गई है, उसके शरीरपर धूलिके कण आकर चिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे भीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है।

भावार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म आते है, यह पहले बतला आये हैं। और आये हुए कर्म जीवके राग और द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर आत्मासे उसी तरह चिपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर आनेवाले धूल-कण चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेव उपसंहरन्नाह—

अब राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसहार करते हैं.—

एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तलक्षणौ रागद्वेषौ। मोह—मोहनीयम्। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम् । अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रवेभ्यः । एभिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादपञ्चकसहितैर्मनोवाक्काययोगानुगतैः कर्म आदीयते—गृह्यते, 'स्वप्रदेशेषु आत्मना विधीयते' इत्यर्थः । ततश्च घटीयन्त्रन्यायेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंको ग्रहण करता है ।

भावार्थ—राग वगैरहका लक्षण पहले कह आये हैं। विकथादि पाँच प्रमादो और मनोयोग तथा काययोगसे सहित रागादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है। रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है । रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं।

अतः—

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसंततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं तिर्यक्त्व मनुष्यत्वं देवत्वम्। नारकादिरूपसंसारकारणं दुःखं शारीरं मानसं वा। न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति एवमितरत्रापि। तस्माद् रागद्वेषादय पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवसन्ततेः भवपरम्परायाः मूलं बीजं प्रतिष्ठेति ॥५७॥

अर्थ—यह संसार कर्ममय है और संसारके निमित्तसे दुःख होता है। इसलिए राग-द्वेष वगैरह संसारकी परम्पराके मूल हैं।

भावार्थ—यह संसार चार गतिरूप है और चारों गतियाँ कर्मोंके उदयसे ही होती हैं। गतियोंमें जानेसे शारीरिक और मानसिक दुःख होता है। उससे राग-द्वेष होते हैं। राग-द्वेष आदिसे पुनः गति होती है। गतिमें सुख-दुःख होता है, उससे राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष वगैरह संसारकी जड़ हैं।

'कः पुनरस्य रागद्वेषादिजनितस्य संसारचक्रस्य भङ्गोपायः?' इत्याह—

अब राग-द्वेषसे उत्पन्न हुए संसार-चक्रके तोड़नेका उपाय बतलाते हैं :—

एतद्दोषमहासंचयजालं शक्यमप्रमत्तेन।
प्रशमस्थितेन घनमप्युद्वेष्टयितुं निरवशेषम् ॥ ५८ ॥

टीका—दोषाणां रागाद्वेषादीनां तज्जनितकर्मणाञ्च महासञ्चयः—उपचयः। दोषमहासञ्चय एव जालम्। जालमिव जालम्। यथा मीनमकरादीनामादायकं जालं जीवनापहारि, तद्वदेतदपि जन्मान्तरेषु सत्वानामनेकदुःखसंकटावतारणे प्रत्यलं जीवितापहारि चेति। तदेतच्छक्यमप्रमत्तेन उद्वेष्टयितुं-विनाशयितुम्। प्रमादः कषायनिद्रादिः, तद्रहितेन, प्रशमस्थितेनेति, प्रशमार्पितमनसा प्रशमैकरसेन, घनं गहनम्, एतत् जालं निरवशेषम्-आमूलादुद्धर्तुमिति ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो अप्रमादी है और वैराग्यमें स्थित है, वह इस रागादि दोषोंके महान् संचयरूप घने जालको पूरी तरहसे नष्ट करनेमें समर्थ है।

भावार्थ—जिस प्रकार मगर मच्छको पकड़नेके लिए बनाया हुआ जाल जीव-घातक होता है, वैसे ही राग-द्वेष वगैरह तथा उनसे संचित कर्मोंका यह जाल भी जन्मान्तरोंमें प्राणियोंको अनेक दुःखपूर्ण संकटोंमें डालनेवाला है। जो कषाय-निद्रा वगैरह प्रमादोंसे रहित है तथा जिसका मन वैराग्यके रसमें डूबा हुआ है, वही इस घने कर्म-जालको छिन्न-भिन्न कर सकता है।

अस्य तु मूलनिबन्धं ज्ञात्वा तच्छेदनोद्यमपरस्य।
दर्शनचारित्रतपःस्वाध्यायध्यानयुक्तस्य ॥ ५९ ॥
प्राणवधानृतभाषणपरधनमैथुनममत्वविरतस्य।
नवकोट्युद्गमशुद्धोञ्छमात्रयात्राधिकारस्य ॥ ६० ॥
जिनभाषितार्थसद्भावभाविनो विदितलोकतत्त्वस्य।
अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारणे कृतप्रतिज्ञस्य ॥ ६१ ॥

परिणाममपूर्वमुपागतस्य शुभभावनाध्यवसितस्य ।
अन्योऽन्यमुत्तरोत्तरविशेषमभिपश्यतः समये ॥ ६२ ॥
वैराग्यमार्गसंस्थितस्य संसारवासचकितस्य ।
स्वहितार्थाभिरतमतेः शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता ॥ ६३ ॥

टीका—पञ्चभिः कारिकाभिः कुलकम् । अस्य महादोपसञ्चयजालस्य मूलनिवन्धं मौलं कारणं विज्ञाय । तच्छेदने उद्यमः-उत्साहः परो यस्य 'मयैतन्महाजालं छेतव्यम्' । दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणम् । चारित्रं सामायिकादि । तपोद्वादशभेदमनशनादि । स्वाध्यायः पञ्चप्रकारो वाचनापृच्छनादि । ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणं धर्म्यं शुक्लं च । धर्मादनपेतं धर्म्यम्, आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयभेदाच्चतुर्विधम् । शुक्लमप्यत्यन्तविशुद्धाशयस्यपृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियालक्षणं चतुर्द्धा[1] । एभिः सम्यग्दर्शनादिपरिणामैर्युक्तस्य ॥ ५९ ॥ तथा—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं प्राणवधः । अनृतभाषणं सद्भूतनिन्हवः 'नास्त्यात्मा' इति, असद्भूतोद्भावनं 'सर्वगत आत्मा' इति, विपरीतकटुकसावद्यादिवचनं च । गामश्वं भाषमाणस्य विपरीतम् । कटुकं परुषमाक्रोशादि । सावद्यवचनम् 'अनेन मार्गेण मृगपशुयूथं गतम्' इति लुब्धकायाचष्टे । चौर्यबुद्ध्या परस्वमात्मसात्करोति परधनहरणम् । मैथुनं द्वयोर्योग सचित्तयोः सचित्ताचित्तयोर्वा । मिथुनस्य भावो मैथुनं स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयादासेवनम् । ममत्वलक्षणः परिग्रहः 'ममेद स्वम्' अहमस्य स्वामी इति । 'मूर्छा परिग्रह (तत्त्वार्थसूत्र १२ सू० अ० ७) इति वचनात् । एभ्यः प्राणिवधादिभ्यो विरतस्य । निशिभोजनं तु परिग्रहलक्षणेनादत्तादानलक्षणेनचान्तर्भावितम्[2] । एवं मूलगुणानभिधाय उत्तरगुणानभिधित्सुराह—

कोटिः—अंशम्, यथा पट्कोटिस्तम्भः षडश्रिः 'षडंशः' इत्यर्थः । 'न स्वयं हन्ति, नान्येन घातयति, घ्नन्तमन्यं[3] नानुमोदते,' एतास्तिस्रः कोटयः । तथा 'न स्वयं पचति, न पाचयति, पच्यमानं नानुमोदते,' इत्येता अपि तिस्रः कोटयः । तथा 'न स्वयं क्रीणाति, न क्रापयाति, क्रीणानमन्यमपि नानुमोदते' इत्येताश्चान्यास्तिस्र । एकत्र समाहता नव कोटयः पुनरिमा द्विधा भिद्यन्ते—अविशुद्धकोटयो[4] विशुद्धकोटयश्च[5] । आद्या षडविशुद्धकोटयः[6] पाश्चात्यास्तिस्रो भवन्ति विशुद्धकोटयः[7] । उद्गम —अन्वेपणम्, यथा 'उग्गम सेअ पुच्छिज्जा' इत्यादि । तेन शुद्धमुद्गमशुद्धम् । उञ्छमिव उञ्छम्, लूनकेदारपतितव्रीहिकणाद्युच्चयनमुञ्छं न कस्याचित् कृपीवलादे पीडाकारि । तथा अकृताकारितासंकल्पितानुमतमनिसृष्टं[8] कल्पनीयमादीयमानं

१—स्य पृथक्त्वैकत्ववितर्क सविचारसूक्ष्म-प० ।—स्यापृथक्त्वैकत्ववितर्कमविचार सूक्ष्मा—फ० व० । २ चान्तर्भावितम्—मु० । ३ घ्नन्ति—मु० । ४ अविशुद्धकोटिः—मु० । ५ विशुद्धकोटिश्च—मु० । ६ षडविशुद्ध कोटिः—मु० । ७ विशुद्धकोटिः—मु० । ८ निसृष्ट—मु० ।

न कंचन सत्वमपहन्ति । उञ्छमेव उञ्छमात्रम्, तेन तादृशा यात्रायामधिकारो यस्य स उञ्छमात्रयात्राधिकारः । यात्रा तु अहोरात्राभ्यन्तरे विहितक्रियानुष्ठानम्, तत्राधिकृतस्य 'नियुक्तस्य' इत्यर्थः ॥ ६० ॥

जिनैर्भाषितोऽर्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तो जीवादिः सप्तविधः । स गणधरैः सूत्रेण सूचितः । तस्यार्थस्यसद्भावं भावयति तच्छीलस्य[1] । एवमेतत्-'तद्यथा भगवद्भिरुक्तं गणधरैर्दृष्टं तथैवायम्, नान्यथा' इति जिनभाषितार्थसद्भावभाविनः । विदितम्-अवगतं लोकतत्त्वं येनासौ विदितलोकतत्त्वः । जीवाजीवाधारक्षेत्रं लोकः, तस्य तत्त्वं परमार्थ —नास्त्यत्र वालाग्रप्रमाणोऽपि प्रदेशो यत्र त्रसत्वेन स्थावरत्वेन वा नोत्पन्नो मृतो वा यथासंभवम् । अथवा अधोमुखमल्लकाकृतिः, मध्ये स्थालाकारः उपरि मल्लकसमुद्गाकारो नारकतिर्यग्मानुष देवाधिवासो जन्मजरामरणोपद्रवबहुलः । अष्टादशाङ्गशीलाङ्गसहस्रधारणे[2] कृतप्रतिज्ञस्य-अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि उपरि वक्ष्यमाणानि 'धर्माद्भूम्यादीन्द्रिय' इत्यस्यां कारिकायाम् । 'अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि धारयितव्यानि यावज्जीवं मया' इति आरूढप्रतिज्ञस्य ॥ ६१ ॥

विशुद्धिप्रकर्षयोगादपूर्व परिणाम उच्यते मनसः[3], तमनुप्राप्तस्य । शुभभावनाध्यवसितस्य । अध्यवसितमध्यवसायः । शुभभावनाः-पञ्चानां महाव्रतानां पञ्चविंशतिर्भावनाः परिपठिताः, अनित्यत्वादिका[4] वा वक्ष्यमाणा द्वादश भावनाः, तदध्यवसायस्य । समये-सिद्धान्ते । अन्योन्यम्-परस्परम् । 'द्वयोर्विशेषयोरयमुत्तरः प्रधानम्, अमुष्मादप्ययं विशेषः प्रधानतरः' इत्यादिविशेषमतिशयं पश्यतो भावनामयेन ज्ञानेनेति ॥ ६२ ॥

वैराग्यपथप्रस्थितस्य । सम्यग्दर्शनादित्रयं वैराग्यमार्गः । संसारवासचकितस्य 'त्रस्तस्य' इत्यर्थः । स्वहितम्-ऐकान्तिकादिगुणयुक्तं मुक्तिसुखम्, तदेवार्थः । स्वहितार्थे आभिमुख्येन रता बद्धा प्रीतिर्मतिर्यस्य तस्यैवप्रकारस्य शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता । 'इयम्' इति वक्ष्यमाणा, निर्जराहेतुत्वात् शुभा, जायते चिन्ता । अत्र कुलकपरिसमाप्तिः ॥ ६३ ॥

अर्थ—इस दोष-जालके मूल कारणको जानकर जो उसको छेदनेमें युक्त है, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, तप, स्वाध्याय और ध्यानसे युक्त है, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और ममत्वसे विरक्त है, नवकोटि और उद्गमसे शुद्ध अल्प आहार मात्रसे अपना निर्वाह करता है, जिनभगवान्के द्वारा कहे गये जीवादि तत्त्वोंके अस्तित्वको मानता है, लोकके स्वरूपको जानता है, शीलके अट्ठारह हजार भेदोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा ले चुका है, अपूर्व परिणामवाला है, शुभ भावनाओंमें निश्चल है, आगमके विषयमें परस्परमें जो उत्तरोत्तर विशेषता है, उसे जानता है, वैराग्यके मार्गमें स्थित है, ससारके निवाससे भयभीत है, और अपने हित-मोक्षमें लवलीन है, उसीको आगे कही गई शुभ चिन्ता उत्पन्न होती है।

भावार्थ—पहली कारिकामें जो दोषोका जाल बतलाया गया है, उसके मूल कारणको जानकर जो उसके छेदनेमें उत्साह करता है कि 'मुझे यह महाजाल छिन्न-भिन्न करना चाहिए' तथा जिसमें ऊपर कही अन्य बातें पाई जाती हैं, उसको ही आगे कही गई शुभ चिन्ता उत्पन्न होती है।

---

१ तच्छीलस्य—मु० । २ अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः—मु० । ३ शुद्धम-मु० । ४ मनस्त-मु० । ५ अनित्यत्वादिका वक्ष्य-मु० ।

तत्त्वार्थका श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। सामायिक वगैरहको, चारित्र कहते हैं। तपके अनशन वगैरह बारह भेद हैं। स्वाध्यायके वाचना पृच्छना वगैरह पाँच भेद हैं। किसी वस्तुमें मनके एकाग्र करनेको ध्यान कहते हैं। धर्म्य और शुक्ल शुभ ध्यान हैं। धर्मविषयक एकाग्र चिन्तनको धर्म्यध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं—अज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। अनन्तविशुद्ध परिणामी जीवके शुक्लध्यान होता है। उसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

प्रमादके योगसे किसीके घात करनेको हिंसा कहते है। असत्यवचन अनेक प्रकारका होता है—१ सत्को असत् कहना, जैसे, आत्मा नहीं है। २ असत्को सत् कहना, जैसे–आत्मा व्यापक है। ३ विपरीत वचन, जैसे, गायको घोड़ा कहना। ४ कडुवे वचन बोलना। ५ सावद्य वचन—इस मार्गमें हिरनोंका झुण्ड गया है, ऐसा शिकारीको बतला देना। हिंसाके कारण होनेसे कटुक सावद्य वचन भी असत्य ही कहे जाते हैं। चुरानेकी बुद्धिसे परके धनको हरना चोरी है। स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुसक-वेदके उदयसे रमण करनेको मैथुन कहते हैं। 'यह मेरी वस्तु है,' 'मैं इसका स्वामी हूँ' इस तरह-के ममत्वको परिग्रह कहते हैं, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ममत्वको ही परिग्रह कहा है। परिग्रह अथवा चोरीके लक्षणमें रात्रिभोजनका अन्तर्भाव कर लिया गया है। क्योंकि रात्रिभोजन अति लालसाका सूचक है। इस प्रकार मूलगुणोंको कहकर उत्तरगुणोंको कहते हैं:—

न स्वयं मारता है, न दूसरेसे मरवाता है और न दूसरेको मारता हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये तीन कोटियाँ हैं। तथा, न स्वयं पकाता है, न दूसरेसे पकवाता है और न किसीको पकाता हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये भी तीन कोटियाँ हैं। तथा, न स्वयं खरीदता है, न दूसरेसे खरीदवाता है और न दूसरेको खरीदते हुए देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये भी तीन कोटियाँ हैं। इस प्रकार मिलकर ये नौ कोटियाँ होती हैं। ये दो प्रकारकी होती हैं:—एक अविशुद्ध कोटि और दूसरी विशुद्ध कोटि। आदिकी छह कोटियाँ अविशुद्ध कोटियाँ हैं और अन्तकी तीन विशुद्ध कोटियाँ हैं।

आहारके खोजनेको उद्गम कहते हैं। जो आहार उससे शुद्ध होता है वह उद्गमशुद्ध है। काटे गये खेतमें पड़े हुए धान्यके कणोंके चुगनेको उञ्छ कहते हैं। जिस प्रकार उञ्छ किसी किसान वगैरहको कष्टदायक नहीं होता, वैसे ही जो आहार न स्वय बनवाया गया है, न गृहीताके सकल्पसे बनाया गया है और न उसकी उसमें अनुमति ही है, उस आहारको लेनेसे किसी प्राणीके घातका भय नहीं रहता। इस प्रकारके आहारसे जीवन-यात्रा करनेमें जिसका अधिकार है, अर्थात् जिनभगवान्ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त जीवादि सात पदार्थोंका कथन किया है। और गणधरदेवने उन पदार्थोंको द्वादशांगरूपमें सकलित किया है। जैसा भगवान्ने कहा है और गणधरोंने अवधारण किया है—'जीवादि सात तत्त्व वैसे ही हैं, अन्यथा नहीं हैं' इस प्रकारसे जो उनका सद्भाव मानता है।

जहाँपर जीव और अजीव द्रव्य रहते हैं, उसे लोक कहते हैं। उसके तत्त्वको अर्थात् इस लोकमें बालकी नोकके बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ त्रस और स्थावररूपसे यह जीव

उत्पन्न हुआ और मरा न हो। अथवा नीचा मुख किये हुए मल्लकके आकार अधोलोक है। थालीके आकार मध्यलोक है। ऊपर मुख किये हुए मल्लकके आकार ऊर्ध्वलोक है। इस लोकमें नारक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव बसते हैं, तथा जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि उपद्रवोंसे यह व्याप्त है। लोकके इस तत्त्वको जो जानता है। शीलके अट्ठारह हजार भेदोको आगे कहेंगे। जिसने उनके धारण करनेकी प्रतिज्ञा की है। शुद्धिका प्रकर्ष होनेसे जिसके परिणाम अपूर्व हैं। पाँच महाव्रतोंकी पचीस भावनाएँ बतलाई गई है। अथवा आगे अनित्यत्व आदि बारह भावनाओंका कथन करेंगे। उन भावनाओंका जो चिन्तन करता रहता है। तथा आगममें वर्णित अमुक बात प्रधान है और अमुक बात उससे भी प्रधान है, इत्यादि विशेषको जो जानता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्ररूप वैराग्यके मार्गमें स्थित है। संसारेंम रहनेसे डरता है। अपने हित—मोक्ष–सुखमें ही जो मुख्यतासे प्रीति करता है, उसके ही आगे कही जानेवाली शुभ चिन्ता होती है। निर्जराका कारण होनेसे इस चिन्ताको शुभ कहा है।

तामेव चिन्तां स्पष्टयन्नाह—

उसी चिन्ताको स्पष्ट करते हैं—

भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे।
न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥ ६४ ॥

टीका—कोटिशब्द[1] संख्यावाची। स च अनन्तसंख्यायाः सूचकः। भवा नारकतिर्यग्देवाख्याः[2], तेषां बह्वीभि कोटिभिः अनन्ताभिरतीताभिरपि न सुलभं दुर्लभमेव, मनुष्यस्य भावो मानुष्यम्, 'मनुष्यजन्म' इत्यर्थः। तदेवंविधमतिदुःप्रापं प्राप्य कोऽयं मम प्रमादोऽवबुध्यमानस्यैव-मेनुष्ठानम्[3]। प्रमादो ज्ञानादिषु मुक्तिसाधनेषु। कदाचिदिदमाशङ्केत 'मम मनुष्यत्वमेवास्तु सर्वदा सुन्दरमक्षीणम्' इति। तच्च न, यतः 'न च गतमायु' इत्यादि। प्रतिक्षणमुदयप्राप्तं वेद्यमानमनुभूयते, अनुभवाच्च परिगलति[4]। न च क्षीणं पुनरावर्तते, सौधर्माधिपतेरपि शक्रस्य न प्रत्यागच्छति किं पुनर्नरस्येति ॥ ६४ ॥

अर्थ—करोड़ों भवोंमें दुर्लभ मनुष्य पर्यायको प्राप्त करके मुझे यह प्रमाद क्यों? देवराज इन्द्रकी भी बीती हुई आयु पुनः लौटकर नहीं आती।

भावार्थ—यहाँ कोटि शब्द संख्याका वाचक है। और वह अनन्तका सूचक है। अर्थात् अनन्त भव बीतनेपर भी मनुष्यका भव मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। इस प्रकारके दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर मोक्षके साधन ज्ञान वगैरहमें मुझे प्रमाद नहीं करना चाहिए। शायद कोई यह सोचे कि मनुष्य-पर्याय सर्वदा बनी रहेगी, किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिसमय उदयमें आनेवाली आयु अपना फल देकर क्षीण होती जाती है, और क्षीण हुई आयु तो सौधर्मस्वर्गके इन्द्रकी भी लौटकर नहीं आती—मनुष्य की तो बात ही क्या है!

---

१ कोटिशब्दः मु०। २ नरकति—मु०। ३—मनुष्ठानम् मु० ४ वेद्यमानमनुभावाच्च परिगलति मु०।

न च निर्द्वन्द्वं मनुष्यजन्म, यस्मात्—

और मनुष्य-जन्म निर्द्वन्द्व भी नहीं है, क्योंकि—

आरोग्यायुर्बलसमुदयाश्चला वीर्यमनियतं धर्मे ।
तल्लब्ध्वा हितकार्ये मयोद्यमः सर्वथा कार्यः ॥ ६५ ॥

टीका—नीरुजत्वमारोग्यम् तच्चलम् 'अनित्यम्' इत्यर्थः। नीरुजोऽपि रोगान् लभन्ते सनत्कुमारादिवत्। आयुरपि शुक्रविन्दोराधा[1]नात् प्रभृति गर्भकौमारयौवनस्थविरावस्थासु प्रतिक्षणं क्षययुक्तम्[2], अध्यवसानादिभिश्च प्रकारैः सप्तभिर्भेदमुपैति । बलं प्राणः । उत्साहो वीर्यान्तरायक्षयोपशमजः सामर्थ्यविशेषः । स च बलवतो दृष्टः, पुनस्तस्यैव दुर्बलावस्थायां न संभवतीति अनित्य एव। समुदया[3] इति धनधान्यादिनिचयाः क्षणभङ्गुराः। वीर्यञ्च उत्साहः। परीषहजयादौ तदनियतं विनश्वरम् । धर्मे क्षान्त्यादिके तल्लब्ध्वा-प्राप्य, हितकार्ये—हितं ज्ञानादि, तदेव कार्यम्, तत्र[4]। मया उत्साहः सर्वथा सर्वप्रकारमविश्रान्त्या कार्य इति ॥ ६५ ॥

अर्थ—आरोग्य, आयु, बल और लक्ष्मी ये सभी चञ्चल हैं। धर्ममें उत्साहकी स्थिरता नहीं है। इन्हें प्राप्त करके मुझे सब प्रकारसे हितकारी कार्यमें प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—नीरोगता सर्वदा नहीं रहती। नीरोग मनुष्य भी सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह रोगी हो जाते हैं। आयु भी गर्भ, बाल, जवानी और बुढ़ापेमें प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होनेवाला बल भी बलवान्में ही देखा जाता है। वही जब दुर्बल हो जाता है, तब बल नहीं रहता। अत बल भी अनित्य है। धन-धान्य आदि लक्ष्मी भी क्षणभङ्गुर है। परीषहके जीतने वगैरहमें मनुष्यका जो उत्साह रहता है, वह भी सर्वदा नहीं रहता। अत इन्हें प्राप्त करके ज्ञानाभ्यास वगैरह कार्योंमें मुझे सब प्रकारसे प्रयत्न करना चाहिए।

'किं पुनरतद्धितम्'? इत्याह—

हित क्या है? यह बतलाते हैं —

शास्त्रागमादृते न हितमस्ति न च शास्त्रमस्ति विनयमृते ।
तस्माच्छास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यम् ॥ ६६ ॥

टीका—शास्त्रलक्षणमुपरिष्टाद् वक्ष्यते 'शान्ति' इत्यादौ। शासनात्–उपदेशदानात् त्राणाच्च शास्त्रम्। भगवतो मुखपङ्कजादर्थनिर्गमः, गणधरास्यकमलेभ्यः सूत्रनिर्गमः । उभयञ्चैतद् शास्त्रशब्दवाच्यम्। शास्त्रमवागमः शास्त्रागमः, गणधरप्रभृत्याचार्यपरम्परया आगत इति आगमः। शास्त्रागमादृते शास्त्रागमाद्विना नापरं हितमस्ति। न च शास्त्रलाभो भवत्य[5]विनीतस्य, आचार्यादिशुश्रूषया विनीतेन शास्त्रं प्राप्यते । तस्माच्छास्त्रागमलाभमिच्छता शास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यमिति ॥ ६६ ॥

१ शुक्रविन्दुरा—मु० । २ क्षयमुक्तमध्य—मु० । ३ समुदायाश्चला इति धन—मु० । ४ तत्र मु० प्रतौ नास्ति । ५—त्यविनयस्य मु०

अर्थ—शास्त्रके ज्ञानके विना हित नहीं हो सकता, और विनयके विना शास्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए जो शास्त्रके ज्ञानका इच्छुक हो उसे विनयी होना चाहिए।

भावार्थ—शास्त्रका लक्षण आगे कहेंगे। जो सन्मार्गका उपदेश देता है और दुर्गतिसे बचाता है वह शास्त्र है। भगवान्के मुख-कमलसे निकला हुआ अर्थ और गणधरदेवके मुख-कमलसे निकले हुए सूत्र–ये दोनों ही शास्त्र शब्दसे कहे जाते हैं। शास्त्रको ही आगम कहते है; क्योंकि गणधर वगैरह आचार्य-परम्परासे वह आता है। शास्त्रागमके विना कोई हित नहीं हो सकता, और शास्त्रका लाभ विनयके विना नहीं हो सकता। आचार्य आदि की सेवासे ही विनयीको शास्त्रकी प्राप्ति होती है। इसलिए जो शास्त्रागमका लाभ चाहता है, उसे विनयी होना चाहिए।

'सत्स्वपि' अनेकेषु गुणेषु पुंसां विनय एव भूषणं परम्, 'नान्वयरूपसौभाग्यादीनि'[1] इति दर्शयन्नाह—

अनेक गुणोके होनेपर भी पुरुषोका विनय ही प्रधान भूषण है। वंश, रूप, सौभाग्य वगैरह भूषण नहीं है, यही बतलाते हैं.—

कुलरूपवचनयौवनधनमित्रैश्वर्यसम्पदपि पुंसाम्।
विनयप्रशमविहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥ ६७ ॥

टीका—विशिष्टान्वयः कुलं क्षत्रियादि। रूपं शरीरावयवानां लक्षणान्वितः सन्निवेश-विशेषः। वचनं मधुरं प्रियभाषित्ववाग्मित्वादि। यौवनं यूनो भावः। युवात्र मन्दरूपोऽपि शोभते प्रायो यौवनगुणादेव। धनं हिरण्यसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादि[2]गोमहिष्यजाविकादिर्वा। मित्रं स्नेहवान् पुरुषो विश्रम्भस्थानम्। ऐश्वर्यमीश्वर[3]स्य भावः प्रभुत्वम्। सम्पच्छब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः—कुलसम्पद्, रूपसम्पद् इत्यादि। सम्पत् प्रकर्षविशेषः। एषाऽपि कुलादिसम्पद् न भ्राजते पुरुषाणां विनयप्रशमविहीनत्वात्। विनयः अभ्युत्थानासन-प्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिरुपचाराख्य। प्रशमो माध्यस्थ्यमौदासीन्यम्। आभ्यां[4] रहिता न शोभते निर्जलेव नदी। यथा सरिज्जलशून्या हंससारसक्रौञ्चचक्रवाककुलैरासेव्यमाना न भ्राजते [5]अतिदीर्घगर्तमात्रमरमणीयमुद्वेजकमेव भवतीति। एवं विनयरहितः पुमानिति ॥ ६७ ॥

अर्थ—पुरुषोकी कुल, रूप, वचन, यौवन, धन, मित्र और ऐश्वर्य सम्पदा भी विनय और वैराग्यसे रहित हो तो निर्जल नदीकी तरह शोभित नहीं होती।

भावार्थ—क्षत्रिय वगैरह विशिष्ट वंशोको कुल कहते हैं। शरीरके अङ्ग–उपाङ्गोकी शुभ लक्षण सहित रचना-विशेषको रूप कहते है। मीठा, प्यारा बोलना वचन कहलाता है। यौवन जवानीको कहते

---

१ सौभाग्यादीति दर्श—मु०। २ गोमहिष्या (ष्यौ) वाटिकादि वा मु० ३—मीश्वरमावः मु०। ४ विनयप्रशमाभ्यामित्यर्थ। ५ ते नातिदीर्घगर्तामात्र—मु०।

हैं। जवान आदमी, सुरूप न होनेपर भी जवानीके कारण प्राय. सुन्दर लगता है। चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, मूँगा वगैरह तथा गाय, भैंस, बगीचे आदि को धन कहते हैं। स्नेही और विश्वासी पुरुष मित्र कहलाता है । मालिकीको ऐश्वर्य कहते है । सम्पदा शब्दका सम्बन्ध हरेकके साथ लगाना चाहिए। जैसे कुलसम्पदा, रूपसम्पदा वगैरह । उठना, बैठनेके लिए आसन देना, हाथ जोड़ना, वगैरह विनय कहलाती है । माध्यस्थता-उदासीनताको प्रशम कहते हैं। जिस प्रकार हस, सारस, चकवा वगैरहके झुण्डोंसे घिरी हुई भी नदी यदि निर्जल हो तो सुन्दर नहीं लगती, केवल एक लम्बा गढ़ासा दिखलाई पड़नेके कारण भयानक लगती है, वैसे ही अन्य सम्पदाओंसे भरा-पूरा होनेपर भी मनुष्य यदि विनयी न हो तो वह सुन्दर नहीं लगता।

न तथा सुमहार्घ्यैरपि वस्त्राभरणैरलङ्कृतो भाति ।
श्रुतशीलमूलनिकषो विनीतविनयो यथा भाति ॥ ६८ ॥

टीका—न तथा शोभते सुमहार्घ्यवस्त्राभरणभूषित पुरुषः यथा श्रुतशीलभूषितः[1]। श्रुतमागमः, शीलं मूलोत्तरगुणभेद चरणम्, तयोर्निकषः परीक्षास्थानम् । यदि विनीतस्त-तस्तस्य तच्छ्रुतम्, यदि च विनीतस्तत शीलम्, अन्यथा मूर्खो दुःशील एव च स्यात्। सुवर्ण-परीक्षा पाषाणकः 'निकषः' इति प्रतीतम् । तद्वत् श्रुतशीलपरीक्षाविनयनिकषे कर्तव्ये विशेषण नीतः प्रापितो विनयो येनासौ 'विनीतविनय' इति ॥ ६८ ॥

अर्थ—अत्यन्त बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंसे भूषित मनुष्य भी वैसा सुन्दर नहीं लगता, जैसा श्रुत और शीलकी मूल कसौटीरूप विनयी मनुष्य सुन्दर लगता है।

भावार्थ—श्रुत शास्त्रको कहते हैं और शील आचारको कहते हैं। यदि मनुष्य विनीत है, तो उसका श्रुत श्रुत है और शील शील है। अन्यथा उसे मूर्ख और दुःशील ही समझना चाहिए। जो श्रुत और शीलके, परीक्षा करनेके लिए कसौटीके समान है, तथा विनयसे भूषित, वह सबसे सुन्दर है।

अपि च—

और भी—

गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।
तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकांक्षिणा भाव्यम् ॥ ६९ ॥

टीका—गृणन्ति प्रतिपादयन्ति शास्त्रार्थमिति गुरवः। तदायत्ताः शास्त्रारम्भ्यः। सूत्र-पाठप्रवृत्तिरर्थश्रवणप्रवृत्तिश्च गुर्वायत्ताः कालग्रहणस्वाध्यायप्रेषणोद्देशसमुद्देशानुज्ञापरिकराः 'शास्त्रारम्भाः सर्वेऽपि इत्युच्यन्ते । तस्मात् 'गुर्वाराधनपरेण' इति । गुरोराराधनम्—

1 शीलश्रुतभू—मु०।

'अहर्निशं पादसेवा, सम्यक् क्रियानुष्ठाम्, नृजलमल्लकढौकनम्, दण्डकग्रहणम्, तत्प्रवृत्तौ गमनं निर्विचारम्, तदभिहितानुष्ठानम्, इत्याद्याराधनम्—अभिमुखीकरणम्। तत्परेणेति। तदुपयुक्तेन भवितव्यमिति ॥ ६९ ॥

अर्थ—यत शास्त्रके सभी आरंभ गुरुके आधीन हैं, अतः जो अपना हित चाहता है, उसे गुरुकी सेवामें तत्पर होना चाहिए।

भावार्थ—जो शास्त्रके अर्थका कथन करते हैं, उन्हें गुरु कहते हैं। सूत्रोंके पढ़ने और उनके अर्थको सुननेमें प्रवृत्त होना, काल-ग्रहण, स्वाध्याय आदि शास्त्रके आरम्भ कहे जाते हैं। ये सभी आरंभ गुरुकी कृपापर निर्भर हैं। अत रात-दिन गुरुकी पाद-सेवाके लिए तैयार रहना चाहिए। जैसा वे कहें, वैसा करना चाहिए। उनके उपकरण वगैरह रखने उठानेमें तत्पर रहना चाहिए।

गुरौ चोपदिशति 'पुण्यवानहमिति, य एवमनुग्राह्यो गुरूणाम्, बहुमन्तव्य एव न धिक्कार्यः'

अब यह बतलाते हैं कि जब गुरु उपदेश देते हों तो उस समय ऐसा विचारे कि मैं बड़ा पुण्यवान् हूँ जो मुझपर गुरुका इतना अनुग्रह है।—ऐसा विचारना चाहिए

धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी।
गुरुवदनमलयनिसृतो वचनसरसचन्दनस्पर्शः ॥ ७० ॥

टीका—धनं ज्ञानादि तल्लब्धा धन्यः पुन्यवान्। तस्योपरि निपतति 'वचनसरसचन्दनस्पर्शः' इति वक्ष्यति कीदृगसौवचनसरस चन्दनस्पर्शः? अहितसमाचरणधर्मनिर्वापी। अहितम्-उत्सूत्रम्, समाचरणम्-क्रियानुष्ठानम्, अहितसमाचरणमेव धर्मः—तापविशेषः, तं निर्वापयति—अपनयति निरस्यति तच्छीलश्चेति। 'गुरुवदनमलयनिसृतः' इति। गुरोः—आचार्यादेर्वदनं मुखम्, तदेव मलयपर्वतः, तस्मान्निसृतो निर्गतः। वचनमेव सरसचन्दनं स्नेहोपबृंहितहितोपदेशगर्भम्, तदेव वदनम्, तस्य स्पर्शः शीतो धर्मापनयनसमर्थः। मलये तु सरसं[1] चन्दनमार्द्रमभिनवच्छिन्नम्, तस्य स्पर्शो धर्मापहारी भवति सुतराम्। अथवा रसश्चन्दनस्पर्शः। रसो द्रवता 'चन्दनपङ्कः सपानीयः' इत्यर्थः ॥ ७० ॥

अर्थ—शास्त्र विरुद्ध आचरणरूपी तापको दूर करनेवाला गुरु महाराजके मुखरूप मलय पर्वतसे झरनेवाले वचनरूपी सरस चन्दनका स्पर्श विरले ही पुण्यवान्को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सरस चन्दनको लगानेसे जीवकी दाह मिट जाती है, वैसे ही गुरु महाराजके स्नेह युक्त हितकारी वचनोको सुनकर भव्यजनोका अहितरूपी सताप मिट जाता है। गुरु महाराजका उपदेश सुनकर वे शास्त्र विरुद्ध आचरणको छोड़कर शास्त्रविहित आचरण करने लगते हैं। गुरुकी यह अनुकम्पा विरले ही पुण्यशाली जीवोंको प्राप्त होती है। 'रसश्चन्दनस्पर्शः' ऐसा भी पाठ है।

१ सरसच—मु०।

'एवं च हितोपदेशेनानुगृह्णतः शिष्यान् आचार्यस्य कः प्रत्युपकारः शिष्येण विधेयः' इत्याह—

इस प्रकार हितकारक उपदेशके द्वारा शिष्योंका उपकार करनेवाले आचार्यका शिष्यको जो प्रत्युपकार करना चाहिए, वह बतलाते हैं :—

दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्।
तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥ ७१ ॥

टीका—दुःखप्राप्यः प्रतीकारो दुष्कर इति वा दुष्प्रतीकारः। मातापितरौ तावद् दुष्प्रतीकारौ। माता तु जातमात्रस्यैवाभ्यङ्गस्नानस्तनक्षीरदानमूत्राशुचिक्षालनादिनोपकारेण वृद्धिमुपनयति, कल्पवार्ताद्याहारप्रदानेनोपकारवती, अदृष्टपूर्वस्या कृतोपकारस्य वाऽपत्यस्य दुष्प्रतीकारा। नहि तस्याः प्रत्युपकारः शक्यते कर्तुम्। पिताऽपि हितोपदेशदानेन शिक्षाग्राहणेन भक्तपरिधानप्रावरणादिनोपग्रहेण अनुगृह्णानो दुष्प्रतीकारः। स्वामी राजादिर्भृत्यानां जलदानाकरादिना कृत्वा भवत्युपकारकः। भृत्यास्तु न तथा प्रत्युपकारसमर्थाः। प्राणव्ययमहार्घा यद्यपि श्रियमानयन्ति स्वामिनो भृत्यास्तथापि पूर्वमकृतोपकाराणामेव भृत्यानामुपकारकः स्वामी, भृत्यास्तु कृतोपकाराः प्रत्युपकुर्वन्ति। गुरुः—आचार्यादिः। स च दुष्प्रतिकारः सन्मार्गोपदेशदायित्वात्, शास्त्रार्थप्रदानात्, संसारसागरोत्तारणहेतुत्वात्। इहामुत्र च—इहलोके सुदुर्लभतरः प्रतीकारो यस्य गुरोरिति सु दुर्लभतरः प्रतीकार इति ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस लोकमें माता पिता स्वामी और गुरुका प्रत्युपकार करना बड़ा कठिन है। उसमें गुरुका प्रत्युपकार तो इस लोकमें भी अत्यन्त दुष्कर है, और परलोकमें भी अत्यन्त कठिन है।

भावार्थ—माता-पिताका प्रत्युपकार बड़ा दुष्कर है। माता तो बच्चेके जन्म लेते ही तेलकी मालिश करना, दूध पिलाना, मूत्र वगैरह गन्दगीको धोना आदि उपकारके द्वारा उसका पालन-पोषण करती है। जिस बच्चेको पहले उसने कभी देखा भी नहीं था और जिसने उसका कोई उपकार भी नहीं किया है, उसे वह दूध पिलाकर और आरोग्यवर्धक आहार देकर उसका उपकार करती है। अतः माताके उपकारका बदला चुकाना बड़ा कठिन है। पिता भी हितकारक उपदेश देता है। पढ़ाता-लिखाता है, भोजन-वस्त्र वगैरहसे लालन-पालन करता है। अतः उसके उपकारका बदला चुकाना भी कठिन है। स्वामी राजा वगैरह अन्न-जल देकर सेवकोंका उपकार करते हैं। सेवक उस उपकारका बदला नहीं चुका सकता। यद्यपि सेवक अपने प्राण देकर स्वामीकी लक्ष्मीको बढ़ाता है, तथापि स्वामी पहले-पहल कोई उपकार किये विना ही सेवकोका उपकार करते हैं, किन्तु सेवक स्वामीका उपकार पाकर ही उसका उपकार करते हैं। अतः उनके उपकारका बदला चुकाना भी कठिन है। किन्तु गुरु तो सन्मार्गका उपदेश देते हैं, शास्त्रोंका अर्थ बतलाते हैं और ससार-समुद्रसे पार लगाते हैं। अतः उनके उपकारका बदला चुकाना तो न इस जन्ममें ही शक्य है और न अगले जन्म में ही शक्य है।

---

१ कल्प (स्य) वा-मु०। २—णेन सरक्षाणिनातक—प०। ३ कृत्वेत्युपकारकः-मु०।

सम्प्रति विनयस्य पारम्पर्येण पर्यन्तवर्ति मोक्षाख्यं फलं दर्शयन्नाह—
अब यह बतलाते हैं कि परम्परासे विनयका फल मोक्ष है :—

विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥ ७२ ॥

टीका—विनयस्य फलं शुश्रूषा—श्रोतुमिच्छा। यदाचार्य उपदिशति तत् सम्यक् शुश्रूषते, श्रुत्वा च अनुतिष्ठति । गुरोः सकाशादाकर्ण्य किं फलमिहावाप्यते? अत आह—गुरुशुश्रूषाया फलं श्रुतज्ञानम्—'आगमज्ञानलाभः' इत्यर्थः। ज्ञानस्य किं फलम्? विरतिः—आश्रव द्वारेभ्यो निवृत्तिः । विरतेः फलमाश्रवद्वारस्थगनम् । विरतौ सत्यामाश्रवद्वाराणि स्थगितानि भवन्ति। ततश्चाश्रवद्वारस्थगनात् संवरो जायते। फलभूतः संवृतात्मा भवति, अपूर्वकर्मप्रवेश निरोधः॥ ७२ ॥

अर्थ—विनयका फल सुननेकी इच्छा है। गुरुके सुननेका फल श्रुतज्ञानकी प्राप्ति है। ज्ञानका फल विरति है, और विरतिका फल आस्रवका रुकना—संवर है।

भावार्थ—आचार्य जो उपदेश देते हैं, उसे भले प्रकार सुनता है और सुनकर उसका पालन करता है। यह विनयका फल है। गुरुके मुखसे शास्त्र-श्रवण करनेसे आगमोंका ज्ञान होता है। यह गुरुसे सुननेका फल है। शास्त्र-ज्ञानके होनेपर उन कामोका करना छोड़ देता है, जिनके करनेसे कर्मोंका आस्रव होता है। यह ज्ञानका फल है। उन कामोंसे विरत होनेपर आस्रवके द्वार बन्द हो जाते हैं। अतः आस्रवके द्वारोंके बन्द हो जानेसे संवर होता है। अतः विरतिका फल नये कर्मोंके आस्रवको रोकना है।

संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ ७३ ॥

टीका—संवरस्य फलं तपोऽनुष्ठानं प्राक्तनकर्मक्षपणार्थम्। तपसि बलं तपोबलम्—तपसि कर्तव्ये शक्तिविशेषः। तपसस्तु निर्जराफलं कर्मपरिशाटनम्। तस्मात् कर्मापगमात् क्रिया निवर्तते, सैव फलं निर्जरायाः। क्रियानिवृत्तेर्निरुद्धयोग स्यात् अयोगित्वात्॥ ७३ ॥

अर्थ—संवरका फल तपस्या करनेकी शक्तिका होना है। तपका फल निर्जरा देखा गया है। संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेसे निवृत्ति होती है, और क्रियाकी निवृत्तिसे मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिरूप योग रुक जाता है।

भावार्थ—विनयका साधारण ही फल नहीं है। पहली कारिकामें कहे गये क्रमके अनुसार विनयसे सवरकी प्राप्ति होती है, और संवरसे तप शक्ति बढ़ती है, तप निर्जराका कारण है, और निर्जराकी क्रियासे छुटकारा मिलता है, तथा क्रिया-निवृत्तिसे मन, वचन, कायरूप योगोंका निरोध होता है। इस प्रकार एक विनयगुणके द्वारा योगनिरोध तक देखा जाता है।

योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात् कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥ ७४ ॥

टीका—योगनिरोधस्य फलं जन्मजरामरणप्रबन्धलक्षणाया नरकादिभवसन्ततेरात्यन्तिकः क्षयः। जन्मादिसन्ततिक्षयाच्च मोक्षावाप्तिः। ऐकान्तिकात्यन्तिकादिगुणयुक्तं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। तस्मात् पारम्पर्यद्वारेण सर्वकल्याणानां भाजनम्–आश्रयो विनयः। सर्वकल्याणरूपो मोक्षः। अथवा गुरुशूश्रूषादिकल्याणं यावदयोगित्वं भवसन्ततिक्षयश्च, सर्वाण्येतानि कल्याणानि, ऐषा फलं मोक्ष इति।

अर्थ—योगोंके रुकनेसे नरकादिरूप भवोंकी परम्पराका नाश हो जाता है। भव-परम्पराके नाश हो जानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः विनय सब कल्याणोंका मूल है।

भावार्थ—विनयका फल योग-निरोध ही नहीं है। योग-निरोधसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवरूप भवोंकी कड़ी नष्ट हो जाती है, और इस भव-परम्पराके नाशसे अविनश्वर मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इस तरह विनयका महान् फल है। इस गुणके कारण परम्परासे मोक्षतक प्राप्त हो जाता है, और यह जीव सदाके लिए संसारके अनन्त दुःखोंसे छूट जाता है।

'ये पुनरविनीतास्तेषां कः फलविपाकः ?' इत्याह—

अब अविनयी मनुष्योंको जो कुछ फल भोगना पड़ता है, उसे बतलाते हैं —

विनयव्यपेतमनसो गुरुविद्वत्साधुपरिभवनशीलाः ।
त्रुटिमात्रविषयसंगादजरामरवन्निरुद्विग्नाः ॥ ७५ ॥

टीका—उक्तलक्षणो विनयः। तस्माद् व्यपेतं विगतं मनो येषां विनयव्यपेतमनसः। गुरूणाम्-आचार्यादीनाम्। विद्वान्सः–अन्येऽपि चतुर्दशपूर्वाद्यर्थज्ञाः। ज्ञानादिसाधनत्रयेण मोक्षमभिलषन्तः साधयन्त साधवः। येषां परिभवः–अनादरो वंदनाभ्युत्थानादिप्रतिपत्तेरकरणम्, तदेव च शील स्वभावो येषाम्। त्रुटिरनन्तपरमाणुसंहतिलक्षणोऽल्पकः सवितृकिरण प्रकाशित। वातायनादिषु भ्रमन् दृश्यते। तन्मात्रो विषयसङ्गस्वल्पको निस्सारः शब्दादिविषयेषु यः सङ्गस्तस्मादासक्तः प्रत्यवायमागामिनमचेतयन्तः। अजरामरवन्निरुद्विग्नाः। जरा च मरश्च जरामरौ, अविद्यमानौ जरामरौ यस्यासौ अजरामरः, तद्वन्निरुद्विग्नाः–निर्भयाः मुक्ता एव अजरामराः सर्वसङ्गनिर्मुक्ताः, तद्वदात्मानं मन्यते 'नाहं जरां प्राप्स्यामि न च मरणम्, स्वल्पकविषयसुखासक्तत्वात्' इति ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो अविनयी हैं, वे गुरुओं, विद्वानों और साधुओंका अनादर करते हैं और त्रुटिरेणुके बराबर विषयोंमें आसक्त होकर अजर-अमर मुक्तात्माके समान निर्भय हो जाते हैं।

भावार्थ—जिनके मनमें विनयका लेश भी नहीं रहता है, वे आचार्योंका, चौदह पूर्व वगैरहके पाठी विद्वानोंका और साधुओंका अनादर करनेमें स्वभावसे प्रवृत्त रहते हैं। झरोखोंके द्वारा आने-

वाली सूर्य-किरणोके प्रकाशमें जो धूलके कण दिखाई पड़ते हैं, उन्हें त्रुटिरेणु कहते हैं। उसके बराबर अति तुच्छ विषयोंको भी पाकर वे उन्हींमें आसक्त हो जाते हैं। और अपनेको अजर-अमर मानकर आगामी संकटका भय नहीं करते।

एतदेव प्रत्यवायादिदर्शयिषया स्पष्टतरमभिधत्ते—

अब उसी संकटका खुलासा करते हैं :—

केचित् सातर्द्धिरसातिगौरवात् साम्प्रतेक्षिणः पुरुषाः।
मोहात्समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति ॥ ७६ ॥

टीका—केचिदेवाविदितपरमार्थाः। सातं सुखं सद्वेदनीयम्। ऋद्धिर्विभवः कनकरजतपद्मरागेन्द्रनीलमरकतादिमणिसम्पत् गोमहिष्यजाविककरितुरगरथादिसंपच्च। रसा तिक्तकटुककषायाम्लमधुरलवणाख्याः। एतेषु सातादिषु गौरवम्-आदरः सुखार्थं, सम्पदर्थः इष्टरसाभ्यवहारार्थश्चादरः। अतीव सुष्ठु गौरवम्। अतिगौरवाद्धेतोःसाम्प्रतमेव वर्तमानकालमेवेक्षन्ते नागामिनम्। त एवंविधा पुरुषाः मोहात् अज्ञानात् मोहकर्मोदयाद्वा समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति मृतकरिकलेवरापानप्रविष्टमांसास्वादनगृद्धकाकवत्। जलधिमध्यमध्यास्यमाने कलेवरे विनिर्गत्य तेनैवापानमार्गेण सकलं दिग्मण्डलमवलोक्य विश्रान्तिस्थानमपश्यन् निलीयमानश्च पयसि निधनमुपगतः। 'आमिषपराः' इति रसगौरवस्यैव प्रत्यवायबहुलतां दर्शयामास प्रकरणकारः। न तथा सातर्द्धिगौरवे बहुप्रत्यपाये यथा रसगौरवम्, मद्यमांसकुणपादिषु प्रवृत्ति प्राणवधमन्तरेण दुस्सम्पाद्या ॥ ७६ ॥

अर्थ—कुछ अविनयी मनुष्य सुख, ऋद्धि और रसमें अत्यन्त आदर रखनेके कारण केवल वर्तमान कालको ही देखते हैं। और मोहके वशीभूत होकर मांसके लोभी समुद्री कौवेकी तरह नाश को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो परमार्थको नहीं जानते वे सांसारिक सुख, सम्पत्ति और इष्ट रसका स्वाद लेनेमें ही मग्न रहते हैं और उन्हींकी प्राप्तिका प्रयत्न किया करते हैं। अत वे केवल वर्तमानको ही देखते हैं, आगेका विचार नहीं करते। ऐसे मनुष्य अज्ञानके वशीभूत होकर मरे हुए हाथीके शरीरमें गुदा-मार्गसे घुसकर मांस खानेमें आसक्त कौवेकी तरह नाशको प्राप्त होते हैं। जैसे एक कौवा मांस खानेके लिए हाथीके पेटमें घुस गया। जोरकी वर्षाके कारण हाथी बहकर समुद्रमें जा पहुँचा। बेचारा कौवा हाथीकी गुदासे निकलकर स्थान पानेके लिए इधर-उधर उड़ा और कोई स्थान न पाकर पुनः उसी हाथीके पेटमें जा घुसा, और इस तरह अन्तमें पानीमें डूबकर मर गया। इसी प्रकार विषय-सुखके लालची मनुष्य भी ससार-समुद्रमें डूब जाते हैं। 'मांसके स्वादका लोभी' (आमिषपरा) विशेषण लगानेसे ग्रन्थकारने रसनेन्द्रियके विषयकी आसक्तिको अधिक बुरा बतलाया है। क्योंकि हिंसा किये विना मद्य, मांस वगैरहकी प्रवृत्ति नहीं होती।

१. स्वादगृ-फ० ब०। २-मध्यास्य-प०।

ते जात्यहेतुदृष्टान्तसिद्धमविरुद्धमजरमभयकरम् ।
सर्वज्ञवाग्रसायनमुपनीतं नाभिनन्दन्ति ॥ ७७ ॥

टीका—त एवं सुखर्द्धिरसगौरवेषु सक्ताः । जात्या हेतवःस्वाभाविकास्तथ्याः । उत्पत्तिः स्थितिर्व्ययश्च यदस्ति । तदुत्पद्यतेऽवतिष्ठते विनश्यति च, तस्माद् उत्पत्तिमत्वात्, स्थितिमत्वाद् विनष्टत्वाश्च सर्वे पदार्था नित्याश्चानित्याश्च इति सप्तभङ्गीमन्तो भवन्ति। दृष्टान्ताश्चाङ्गुल्यादयः। यथा एकस्मिन्नेव कालेऽङ्गुली मूर्तत्वेनावास्थिता, वक्रत्वेन विनष्टा, ऋजुत्वेनोत्पन्ना उत्पादस्थितिव्ययवती, तथा आत्मादयः सर्वे पदार्था, जात्यहेतुभिर्दृष्टान्तैश्च सिद्ध प्रतिष्ठितमव्याहतमविरुद्ध मिति । न खलु नित्यानित्ययोर्विरोधोऽस्ति द्रव्यार्थतया नित्यत्वमन्वयं समङ्गीकृत्य घटकपालशकलादिषु सर्वत्राविशिष्टात् 'मृद्' इति प्रत्यय । पर्यायास्तु घटकपालादयः पर्यायनयाङ्गीकरणात् तैरनित्यत्वम् । भिन्ननिमित्तत्वाच्च न सहानवस्थानलक्षणो विरोधोऽस्ति। तस्मादविरुद्धम् । सर्वज्ञवाग्रसायनम्–सर्वज्ञवाग् द्वादशाङ्गप्रवचनं तदेव रसायनम् । यथा रसायनमुपयुज्यमानं नीरुजं वपुः करोति वलीपलितवर्जितम्, तथा भवद्वचनमप्युपयुज्यमानं विधिना सकलरुजापहारि भवति जन्ममरणप्रपञ्च निरासश्चेति । अविद्यमाना जरा यत्र तदजरम्। विगतशरीरत्वाद्भयमपि मरणादिकमत एव तत्र नास्ति । जरामरणाभावत्वाद् 'अजरभयकरम्' इत्युक्तम्। उपनीतं ढौकितमर्पितं वा नाभिनन्दन्ति–न परितुष्टास्तदुपयोगं कुर्वन्ति ॥ ७७॥

अर्थ—वे स्वाभाविक हेतुओं और दृष्टान्तोंसे सिद्ध विरोध रहित अजर और अभयकारी सर्वज्ञदेवके वचनरूपी रसायनको पाकर भी उसका आदर नहीं करते हैं ।

भावार्थ—जो कुछ सत् है वह उत्पन्न होता है, ठहरता है और नष्ट होता है। अत उत्पत्ति, स्थिति और विनाशसे युक्त होनेके कारण सभी पदार्थ नित्य भी होते हैं और अनित्य भी होते हैं। जिस पुकार मुड़ी हुई अङ्गुलको फैलानेपर एक ही समयमें उसमें तीनों धर्म पाये जाते हैं। अङ्गुली रूपसे वह अवस्थित रहती है, टेढ़ेपनकी अपेक्षासे वह नष्ट होती है, और सीधापनकी अपेक्षासे वह उत्पन्न होती है। क्योंकि टेढ़ीसे सीधी करनेपर टेढ़ापन चला जाता है और सीधापन आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा आदिक सभी पदार्थ स्वाभाविक हेतुओ और दृष्टान्तोंसे सप्तभगीमय सिद्ध हैं। तथा यह विरोध रहित भी है, क्योंकि नित्यता और अनित्यतामें कोई विरोध नहीं है। द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य मानकर ही घट, कपाल वगैरहको मिट्टी कहा जाता है। और पर्यायार्थिकनयको माननेपर वे घट-कपाल वगैरह अनित्य हैं। अत नित्यताका निमित्त भिन्न है और अनित्यताका निमित्त भिन्न। इसलिए दोनों धर्म एक जगह रह सकते हैं और दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। अत निर्दोष हेतुओं और दृष्टान्तोंसे सिद्ध तथा विरोध रहित सर्वज्ञभगवान्का द्वादशाङ्गरूप प्रवचन रसायनके समान है। जैसे रसायनके सेवनसे शरीर झुर्रियों और सफेद बालोंसे रहित होकर नीरोग होजाता है, उसी प्रकार

१. विनाशित्वाच्च इति प्रतिभाति । २ द्रव्यार्थितया–प० । ३–मन्वयाशमङ्गो–प० । ४–घटपटकपालादिषु–फ०ब० । ५–त्राविनष्टोमृदिति–प० । ६ यतया–प० । ७ मुपभुज्य–फ०ब । ८–रासश्चे–फ० ब० । ९–न्तोति–फ०।

विधिपूर्वक जिनभगवान्के वचनोका आचरण करनेसे जन्म-मरणरूपी प्रपञ्च नष्ट हो जाता है। इसी लिए जिनभगवान्के वचनको अजर-अमर और अभयकारी कहा है। उक्त रीतिसे जो सांसारिक सुख, ऋद्धि और रसमें आसक्त रहते है, वे उस रसायनके मिलनेपर भी प्रसन्न चित्तसे उसका सेवन नहीं करते हैं।

एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

इसी बातके समर्थनमें दृष्टान्त देते हैं।

यद्वत् कश्चित् क्षीरं मधुशर्करया सुसंस्कृतं हृद्यम्।
पित्तार्दितेन्द्रियत्वाद्वितथमतिर्मन्यते कटुकम्॥ ७८॥

टीका—'कश्चिद्' इति पित्तबहुलः प्रकुपितपित्तधातुः। क्षीरं गोमहिष्यादीनां स्वभावेनैव स्वादु किं पुनर्मधुशर्करयोयुतम्। सुसंस्कृतमिति सुक्वथितं निरुपहतभाजनस्थम्। हृद्यं हृदयेष्टम्। पित्तार्दितेन्द्रियत्वादिति-पित्तेनार्दितो व्याप्तः पित्तोदयेनाकुलीकृतान्तःकरणो वितथमतिः-विपरीत-बुद्धिः मन्यतेऽवगच्छति 'कटुकम्' इति मधुरमपि सदिति॥ ७८॥

अर्थ—इन्द्रियो के पित्तसे पीड़ित होनेके कारण विपरीत बुद्धि हुआ कोई मनुष्य मधु और शक्करसे युक्त उत्तम रीतिसे तैयार किये गये दूधको कडुवा समझता है।

सम्प्रति दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिकमर्थं समीकुर्वन्नाह—

दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें घटाते हैं—

तद्वन्निश्चयमधुरमनुकम्पया सद्भिरभिहितं पथ्यम्।
तथ्यमवमन्यमाना रागद्वेषोदयोद्वृत्ताः॥ ७९॥
जातिकुलरूपबललाभबुद्धिवाल्लभ्यकश्रुतमदान्धाः।
क्लीबाः परत्र चेह च हितमप्यर्थं न पश्यन्ति॥ ८०॥

टीका—यद्यपि सुदुःसह परीषहेन्द्रियनिरोधसंपातादादौ कटुकं तथापि निश्चयं पर्यन्त-काले मधुरम्-अनेककल्याणयोगाद् रमणीयम्। अनुकम्पया सद्भिः-अतिशयप्राप्तैर्गणधरै-रभिहितं भव्यसत्वानामनुग्रहाय पथ्यम्। तथ्यं च स्फुटमविसंवादि। तदवमन्यमाना अनाद्रिय-माणा निराकरणबुद्ध्या रागद्वेषोदयेनोद्वृत्ताः स्वच्छन्दचारिणो न हितोपदेशश्राविण इति॥ ७९॥ एवमुद्वृत्ता किमाचरन्तीत्याह जातिः मात्रन्वयः। कुलं पित्रन्वयः। रूपं शरीरावयवसन्निवेशविशेषः। बलं शारीरं स्वजनबलं द्रव्यबलश्चेति। लाभो यथाप्रार्थितप्राप्तिः। बुद्धिश्चतुर्विधा औत्पत्तिक्यादिः।

१-धुरश्च-फ०, ब०। २-या सुस-प०। ३ त्तार्दितत्वा-प., व। ४ दुःसह-प०। ५-सपादवादा-फ०। ६ दुःखं फ०: ७-थ्यं च स्फु-फ०।

वाल्लभ्यकं लोकस्य प्रियपिण्डकत्वम्। श्रुतमागमः शास्त्रपरिज्ञानम्। एतदेव जात्यादिश्रुतान्तं मदहेतुत्वात् मदो गर्वः, तेनान्धा। यथान्धाश्चक्षुर्विकला न किञ्चित्प्रेक्षणीयं पश्यन्ति, तथा जात्यादिगर्वाष्टकान्धा हिताहितविचारणारहिताः क्लीबा विषयगृद्धाद्रमका इवातृप्ताः। तन्मात्रपरितोषादिह परलोकहितं न पश्यन्तिनकुर्वन्ति चेति॥ ८०॥

अर्थ—वैसे ही परिणाममें मधुर और गणधरादिकके द्वारा दया बुद्धिसे कहे गये हितकारक सत्यको निरादर करनेवाले, राग और द्वेषके उदयसे स्वच्छन्दचारी होते हैं।

जाति, कुल, रूप, बल, लाभ, बुद्धि, लोकप्रियता और शास्त्रज्ञानके मदसे अन्धे हुए विषय-लोलुपी मनुष्य इस लोक और परलोकमें हितकारक वस्तुको भी नहीं देखते है।

भावार्थ—यद्यपि गणधर वगैरहने भव्यजीवोंके कल्याणके लिए जो सत्य और हितकारक उपदेश दिया है, वह असह्य परीषह और इन्द्रियोंको रोकने वगैरहके कारण प्रारभमें दुख देनेवाला लगता है, किन्तु अन्तमें उसका फल मीठा ही होता है। परन्तु स्वच्छन्दचारी मनुष्य उसकी ओर ध्यान नहीं देता।

जिस प्रकार अन्धे मनुष्य देखने योग्य वस्तु भी नहीं देख सकते हैं वैसे ही जाति वगैरहके मदसे अन्धे हुए विषय-लोलुपी मनुष्य भी हित और अहितका विचार नहीं करते हैं।

'संसारे परिभ्रमतां सत्त्वानां स्वकर्मोदयात् कदाचिद् ब्राह्मणजातिः, कदाचिच्चाण्डालजातिः, कदाचित् क्षत्रियादिजातयः, न नित्यैकैव जातिर्भवति' इति दर्शयन्नाह—

ससारमें भ्रमण करते हुए जीवोको अपने अपने कर्मके उदयसे कभी ब्राह्मण जाति, कभी चाण्डालकी जाति और कभी क्षत्रिय वगैरहकी जाति होती है। कोई जाति सर्वदा नहीं रहती। यही कहते हैं :—

ज्ञात्वा भवपरिवर्ते जातीनां कोटिशतसहस्रेषु।
हीनोत्तममध्यत्वं को जातिमदं बुधः कुर्यात्॥ ८१॥

टीका—भवो नारकादिजन्म, तस्य परिवर्तः परिभ्रमणम्—नारको भूत्वा तिर्यग्योनौ मनुष्यजातौ वा जायते स्वकर्मवशात्, भूयश्चैकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातावुत्पद्यते। तत्र एकेन्द्रियाणा स्वस्थाने शर्करावालुकादिभेदा बहवः। एवमप्तेजोवायुवनस्पतीनामपि यावन्त्यश्च योनयस्तावन्त्येव जातिशतसहस्राणि। तथा देवानामपीति। अतएव चतुरशीतियोनिलक्षः संसारः। स चोत्पद्यमानो हीनोत्तममध्यमेषु कुलेषु जन्म लभते। एवंविधमसमञ्जसं वा संसारमवगम्य ज्ञात्वा को नाम विद्वान् जातिमदमालम्बेत्॥ ८१॥

अर्थ—संसारमें परिभ्रमण करते हुए लाखों-करोड़ो जातियोंमें जघन्य, उत्तम और मध्यमपने को जानकर कौन बुद्धिमान् जातिका मद करेगा?

भावार्थ—यह जीव नारकी होकर तिर्यञ्चयोनि अथवा मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है। पुनः एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जातिमे उत्पन्न होता है। उसमें भी एकेन्द्रियोंमें पृथिवीकायके शर्करा, वालुका वगैरह बहुतसे भेद है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकी भी जितनी योनियाँ हैं, उतनी ही लाख जातियॉ हैं। देवगतिमे भी ऐसा ही जानना चाहिए। इसी लिए संसारको चौरासी लाख योनियोवाला कहा गया है। उस ससारमें उत्पन्न हुआ जीव जघन्य, मध्यम और उत्तम कुलोंमें जन्म लेता है। संसारकी इस विडम्बनाको जानकर कौन विद्वान् जातिका मद कर सकता है ?

एतदेव स्फुटतरमाचष्टे—

इसी बातको और भी स्पष्टतासे कहते हैं :—

नैकान् जातिविशेषानिन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् सत्त्वाः।
कर्मवशाद् गच्छन्त्यत्र कस्य का शाश्वता जातिः ॥ ८२ ॥

टीका—जातिविशेषाननेकसंख्यान्, इन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् इन्द्रियनिर्वृत्तिः पूर्वं कारणं येषां जातिविशेषाणाम्। एकस्मिन्निन्द्रिये स्पर्शनाख्ये निवृत्ते एकेन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनतो द्वीन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनघ्राणनिवृत्तौ त्रीन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्निर्वृतौ च चतुरिन्द्रियजातिः। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रनिर्वृत्तौ पञ्चेन्द्रियजातिः। स्वकर्मवशाद् गच्छन्ति, अत्र कस्य का शाश्वता जातिः ? तस्मान्न युक्तो जातिमदः ॥ ८२ ॥

अर्थ—कर्मके वशसे प्राणी इन्द्रियोकी रचनासे होनेवाली अनेक जातियोमें जन्म लेता है। यहॉ किसकी कौन जाति स्थायी है ?

भावार्थ—जाति-भेदका कारण इन्द्रियोंकी रचना है। एक स्पर्शन इन्द्रियके होनेपर एकेन्द्रिय जाति है। स्पर्शन और रसनाके होनेपर दोइन्द्रिय जाति होती है। स्पर्शन, रसना और घ्राणके होनेपर तेइन्द्रिय जाति होती है। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके होनेपर चौइन्द्रिय जाति है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रके होनेपर पञ्चेन्द्रिय जाति होती है। इन जातियोमें जीव अपने अपने कर्मके अनुसार जन्म लेता है। यहाँ किसीकी कोई जाति हमेशा नहीं रहती। अतः जातिका मद करना ठीक नहीं है।

कुलमदव्युदासार्थमाह—

अब कुलके मदको दूर करनेके लिए उपदेश देते हैं:—

रूपबलश्रुतिमतिशीलविभवपरिवर्जितांस्तथा दृष्ट्वा।
विपुलकुलोत्पन्नानपि ननु कुलमानः परित्याज्यः ॥ ८३ ॥

टीका—पित्रन्वयः[1] कुलम्। तच्च विस्तीर्णं लोकख्यातम्। तत्र चोत्पन्नो रूपपरिहीणकः पुरुषो योषिद्वा विरूपा यस्यावयावा[2] हुंडवामनादयः। बलं शारीरम् तेन परिहीणः सर्वस्य परिभूतः। श्रुतेन परिहीनोऽत्यन्तमूर्खः निकृष्टो मातृकामपि जानाति। मतिः—बुद्धिः, साऽपि हिताहितप्राप्ति-परिहारक्षमा नास्तीत्येतया परिहीणकः। शीलं सदाचारता द्यूतपरदाराऽनृतभाषणतस्करत्व-निष्ठुरत्वादिपरित्यागलक्षणम्। विभवो धनधान्यकनकरजतादिसम्पत्। विपुलेपु कुलेपूत्पन्नानपि जीवान् विरूपादिकानवलोक्य। ननु नियमेनैव कुलमानो गर्वं परिहर्तव्यः गर्भावकाशाभावादेव।८३।

अर्थ—लोक-प्रसिद्ध कुलमे उत्पन्न हुए मनुष्योंको भी रूप, बल, शास्त्र ज्ञान, बुद्धि, सदाचार और सम्पत्तिसे शून्य देखकर कुलका मद निश्चय ही छोड़नेके योग्य है।

भावार्थ—बड़े भारी कुलमें जन्म लेनेपर भी स्त्री अथवा पुरुष यदि कुरूप हुआ, निर्बल हुआ, अत्यन्त मूर्ख हुआ, हित और अहितका विचार करनेकी बुद्धि न हुई, जुवारी, परस्त्रीगामी (पर पुरुषगामी), असत्यवादी और चोर हुआ, पासमें धन-धान्य सम्पदा न हुई, तो सभी उसका तिरस्कार करते हैं। अतः कुलका मद नियमसे नहीं करना चाहिए। क्योकि उसमें गर्वके लिए कोई स्थान नहीं है।

अपि च—

और भी—

यस्याशुद्धं शीलं प्रयोजनं तस्य किं कुलमदेन।
स्वगुणाभ्यलङ्कृतस्य[3] हि किं शीलवतः कुलमदेन ॥८४॥

टीका—शीलमेव यस्योपहतमसदाचारानुष्ठानात् तस्य त्याज्य एव[4] कुलमदः प्रयोजना-भावात्। शुद्धे तु शीले भवतु नाम गर्वः, दुःशीलस्य हि गर्वो दौःशीलमेव संवर्द्धयति[5]। स्वगुणा रूपबलश्रुतबुद्धिविभवादयो यस्य सन्ति सः तैरेवालङ्कृत अतः शीलवतोऽपि न किंचित् कुल-मदेन। इति परिफल्गुः कुलमदः, इति परिहार्यः॥ ८४॥

अर्थ—जिसका शील दूषित है, उसका कुलके मद करनेसे क्या प्रयोजन है? और जो शीलवान् है, वह अपने गुणोंसे ही भूषित है। उसे भी कुलका मद करनेसे क्या प्रयोजन है?

भावार्थ—शीलके शुद्ध होनेपर गर्व करना ठीक भी है, दुःशील मनुष्यका गर्व तो दुःशी-लता को ही बढ़ाता है। किन्तु जो रूप, बल, श्रुत, बुद्धि, सम्पत्ति वगैरहसे भूषित होते हुए शीलवान् है, उसे भी कुलका मद करना शोभा नहीं देता, क्योंकि उसके गुण ही मद करनेके लिए पर्याप्त हैं। उसे कुलका मद करनेसे क्या लाभ?

'रूपमदोऽपि न कार्यः' इति दर्शयति—

रूपका भी मद न करना चाहिए, यह बतलाते हैं।—

१-पितुरन्वयः—प०। २-वा हुडाकुब्जवाम-फ०, ब०। ३-णालङ्कृ—मु०। ४-स्यान्याय्य एव—प०। ५-वर्द्ध—प०।

कः शुक्रशोणितसमुद्भवस्य सततं चयापचयिकस्य ।
रोगजरापाश्रयिणो मदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥ ८५ ॥

टीका—शुक्रं पित्रा निसृष्टं वीर्यम्[1]। शोणितं मातुर्योनौ स्फुटितस्फोटकश्रुतम्[2]। एतस्माद्द्वयात् समुद्भवस्य[3] शरीरस्य। बीजविन्दोराधानात्प्रभृति कललार्बुदमांसपेश्याद्याकारेणोपचयं गच्छन् गर्भः शिरोग्रीवाबाहूरःस्थलोदरादिभावेन[4] वर्द्धते, रसहारिण्या च जनन्यभ्यवहृताहाररसोपयोगात् सम्पूर्णाङ्गावयवो नवमे मासि दशमे वा मातुरुदरान्निर्गच्छति। ततोऽपि स्तनक्षीरपीतकाभ्यवहारात्[5] कुमारयौवनमध्यमस्थविरावस्थाभिः[6] शरीरं चयापचययुक्तम्। पथ्येष्टाहारपरिणतेरुपचयो वृद्धिः, अपथ्यानिष्टान्नपानोपयोगादपचयो हानिः। तौ चयापचयौ यस्य तच्चयापचयिकम्। निरुजस्य वा उपचयः, मान्द्यादिभिरपचयः। रोगा[9] ज्वरातीसारकासश्वासादयः[10]। जरा पूर्वावस्थात्यागेनोत्तरावस्थावस्कन्दनं यावदत्यन्तस्थविरावस्थेति। रोगजरयोरपाश्रयि स्थानं शारीरकमाश्रयः। एवञ्च[11] शुक्रादिसंपर्कनिष्पन्ने देहे को मदवकाश किं गर्वबीजं रूपस्येति ? ॥ ८५ ॥

अर्थ—यह रूप रज और वीर्यसे उत्पन्न होता है। सदैव घटता-बढ़ता रहता है। रोग और जराका घर है। उसमें मद करनेका क्या स्थान है ?

भावार्थ—पिताके वीर्य और माताके रजसे शरीर बनता है। शुक्राधानसे लेकर कलल, अर्बुद मॉंसपेशी वगैरह आकार धारण करता हुआ गर्भ, सिर, गर्दन, हाथ, छाती, उदर वगैरह रूपसे बढता है, और माताके द्वारा खाये गये भोजनके रससे अङ्ग उपाङ्ग पूरे बन जानेपर नौवें अथवा दसवें माहमें माताके उदरसे बाहर आता है। उसके बाद भी माताके स्तनोंका दूध पीकर कुमार, यौवन, प्रौढ़ और वृद्ध अवस्थाको धारण करता है। अत. शरीर हानि और वृद्धिसे युक्त है। पथ्य और रुचिकर भोजनके मिलनेसे पुष्ट होता है और अपथ्य तथा अरुचिकर भोजनके मिलनेपर दुर्बल हो जाता है। अथवा नीरोग दशामें पुष्ट होता है और मन्दाग्नि वगैरह होनेसे दुर्बल हो जाता है। ज्वर, अतीसार, खॉंसी, श्वास वगैरह रोगोंका तथा बुढ़ापेका घर है। ऐसे शरीरमें कौन ऐसी बात है, जिससे इसके रूपका गर्व किया जावे ?

नित्य परिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुषपूर्णे ।
निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारणं किं स्यात् ॥ ८६ ॥

टीका—नित्यमिति सर्वदा, परिशीलनीयं संस्कर्तव्यम्। यस्मान्नवभिः[12] श्रोतोद्वारैः सदैवान्तर्गतं मलं दूषिकासिंघाननिष्ठ्यूतलालारेतोमूत्रपुरीषस्वेदाद्युद्वमति शरीरकम्। तदपनयन-

१–बीजमू–प०। २–स्फोटकश्च्युतम् मु०। ३–वश–प०। ४–बाहु हस्त पाद पेरादि ! भाविन वर्द्धते प०। ५–रपीतकाभ्यवहा–फ०, व०। ६–ध्यस्थ–प०। ७–स्थाभावि श–प०। ८–ष्टान्निष्टान्न–फ०, व०। ९–रोगो प०। १०–सादिः प०। ११–एव शु–फ०, व०। १२–श्रोत्रद्वा–फ० व०।

संमार्जनादि प्रतिक्षणमयमाचरति, अनिर्विण्णो रूपवान्। त्वचा चर्मणासृजऽवता मांसेन चाच्छादिते स्थगिते । कलुषं मूत्रपुरीषरुधिरमेदोमज्जाऽस्थिस्नायुप्रभृति, तेन पूर्णे व्याप्ते। विनाशधर्मो यस्यास्ति तद्विनाशधर्मि । निश्चयेन-अवश्यंतया अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानानुलेपनप्रतिविशिष्टान्नपानलालितमपि विनश्यति पर्यन्ते, कृम्यादिपुञ्जो वा भस्मराशिर्वा शुष्कचर्मास्थिकलेवरप्रायं वा भवति । एवंविधे च रूपे किं पुनर्भवेत् मदकारणं येन माद्यन्ति निर्विवेका रूपभाजः ॥ ८६ ॥

अर्थ—यह नित्य ही सस्कार करने योग्य है। चर्म और मॉससे ढका हुआ है। मलसे भरा है और नियमसे नष्ट होनेवाला है। ऐसे रूपमें मदका क्या कारण है?

भावार्थ—शरीरमें नौ मलद्वार हैं। उनसे सदा ढीड, नाक, थूक, लार, वीर्य, मूत्र, विष्टा, पसेव वगैरह मल बहा करता है। रूपवान् रागी मनुष्य हरसमय उसकी सफाईका ध्यान रखता है। चर्म और रक्त मॉससे यह ढका हुआ है। किन्तु उसके अन्दर मूत्र, विष्टा, खून, चर्वी, मज्जा, हड्डी, नसें वगैरह गन्दी चीजें भरी हुई हैं। तेल, उबटना, स्नान, लेप और अच्छे-अच्छे खान-पानसे इसका लालन-पालन करनेपर भी यह प्रायः नष्ट होता है। अन्तमें यह या तो कीड़ोंका ढेर बन जाता है या राखका ढेर बन जाता है, अथवा हड्डी और चमड़ा मात्र रह जाता है। ऐसे रूपमें मद करनेका क्या कारण है? जिससे नासमझ रूपवाले उसका मद करते हैं।

बलका मद नहीं करना चाहिए :—

बलसमुदितोऽपि यस्मान्नरः क्षणेन विबलत्वमुपयाति ।
बलहीनोऽपि च बलवान् संस्कारवशात् पुनर्भवति ॥ ८७ ॥

टीका—बलेन शारीरेण समुदितः सम्पन्नो[५] बलवानपि यस्मात् क्षणेन–स्वल्पेनैव कालेन अतितीव्रज्वर विशूचिकावेदनार्तःसन् विगतबलो भवति। बलहीनोऽपि दुर्बलः सन्नपि धृतिमान् प्रणीतरसा भ्यवहारसंस्कारवशादाश्वेव बलसम्पन्नो भवति जायते। संस्कारो[६] वासना कर्मविपाकः, तद्वशात् ' वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषान् ' इत्यर्थ ॥ ८७ ॥

अर्थ—यत. बलवान् मनुष्य भी क्षणभरमें बलहीन हो जाता है और बलहीन भी पुष्टिकर भोजन वगैरहके सेवनसे अथवा वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे बलवान् हो जाता है।

भावार्थ—मनुष्यको अपनो बलका भी मद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह बल जिसका मनुष्य गर्व करता है, कोई स्थायी वस्तु नहीं है। अच्छेसे अच्छा बलवान् भी प्रबल रोग आदिके निमित्तसे क्षणभरमें बलहीन देखा जाता है और बलहीन मनुष्य भी वीर्यान्तरायके क्षयोपशम और बलप्रद साधनोंसे बलशाली देखा जाता है। अत बल भी गर्व करनेकी वस्तु नहीं है।

१–रक्तेनेत्यर्थः। २–मिंणि–फ० ब०। ३–स्मादिरा–फ० ब०। ४–शुक्र–फ० ब०। ५–न्नोनरो ब–मु०। ६–रोवाकर्म–फ० ब०।

तस्मादनियतभावं बलस्य सम्यग्विभाव्य बुद्धिबलात् ।
मृत्युबले चाऽबलतां मदं न कुर्याद्बलेनापि ॥ ८८ ॥

टीका—अनियतो भावः सत्ता यस्य, 'कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवति' इति बलम् उक्तेन न्यायेन इति सम्यग विभाव्य विज्ञाय यथावत्। 'कथं पुनरभावो बलस्य ?' इत्याह—'बुद्धिगम्यमेतत्' इति प्रतिपादयति। मृत्युबले चोपतिष्ठमाने न शरीरबलं न स्वजनबलं न द्रव्यबलं क्रमते प्रतिक्रियायै। अतो मदं न कुर्यात् सम्यग्विभावितत्वादसमर्थो बलेनापि ॥८८॥

अर्थ—अतः बुद्धिकी शक्तिके द्वारा बलकी अस्थिरताको भलीभाँति जानकर तथा मौतके सामने शारीरिक बलकी निर्बलताको देखकर बलका मद नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—बल सर्वदा नहीं बना रहता, यह बात हरेककी बुद्धिमें समा सकती है। और मौत सामने आनेपर तो सभी बल बेकार होजाते हैं। अतः बलका मद नहीं करना चाहिए।

लाभका मद नहीं करना चाहिए :—

उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्यकौ मत्वा ।
नालाभे वैक्लव्यं न च लाभे विस्मयः कार्यः ॥ ८९ ॥

टीका—लाभान्तरायकर्मणः क्षयोपशमाल्लाभो भवति भक्तपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रय-पीठफलकादेः[३]। लाभान्तरायकर्मोदयाच्च न लभते किञ्चिदपि। अतो नास्ति नित्यो लाभः, नाप्यलाभः। नित्यानित्यौ च लाभालाभौ विज्ञाय नालाभे वैक्लव्यं दीनता कार्या, नातिलाभे सति विस्मयो गर्वः कार्यः। यदि लभ्यते ततो धर्मसाधनं शरीरकर्माद्यं दशविधचक्रवालसामाचारी समाचरणसमर्थं भविष्यति। न चेल्लब्धं तथाप्यदीनचेतसः साधोर्निर्जराभाक्त्वं भविष्यति। कर्मोदयक्षयोशमजनितः खल्वयंभावो न स्वतो लाभालाभलक्षण इति ॥ ८९ ॥

अर्थ—लाभान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे लाभ होता है और लाभान्तरायकर्मके उदयसे कुछ भी लाभ नहीं होता। अत लाभ भी नित्य नहीं है और अलाभ भी नित्य नहीं है। ऐसा जानकर अलाभमें दीनता नहीं करनी चाहिए और लाभके होनेपर गर्व नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—यदि साधुको आहारादिकका लाभ हुआ तो वह धर्म-साधनके आधारभूत शरीर वगैरहका पालन करता है और यदि लाभ न हुआ तो भी दीनता रहित चित्तवाले साधुके कर्मोंकी निर्जरा होती है। अत. लाभ और अलाभको कर्मके क्षयोपशम और उदयका फल जानकर दोनोंमें सम-भाव रखना चाहिए।

१-चाऽब-प० फ० ब०। २-चोप-प० ब०। ३-कादिः-फ०।-कादि ब०। ४-न नि-प०। ५-नापि ला-प०। ६-लभते-फ०। ७-कर्माद्यं-फ. ब०, मु०,। ८-समा-फ०, ब०।

परशक्त्यभिप्रसादात्मकेन किञ्चिदुपभोगयोग्येन ।
विपुलेनापि यतिवृषा लाभेन मदं न गच्छन्ति ॥ ९० ॥

टीका—परो दाता गृहस्थादिः, तस्य दानान्तरायक्षयोपशमजनिता शक्तिः, स्वशक्त्यनुरूपं ददाति । अभिप्रसादात्मकेनेतिः—दातुर्यद्यभिप्रसन्नं चेतो भवति साधुं प्रति, 'मुक्तिसाधनं प्रवृत्तोऽय तपस्वी निःसङ्गः समारम्भादिषु, पात्रभूतोऽस्मै दत्तं बहुफलं भवति। एव लाभः परप्रसादात्मकः। सर्वमपि तदन्नादि किञ्चिदेवोपभोगान्तरं साधयति, न पुनराजीवितावधेस्तृप्तिं करोति । एवं वस्त्रादेरपि अनित्यत्वात् किञ्चिदुपभोगयोग्यत्वम्। एवंविधेन लाभेन यतिवृषा यतिप्रधानभूताः विपुलेन विस्तीर्णेन बहुना न मनागपि मदमुद्वहन्ति ॥ ९० ॥

अर्थ—दाताकी शक्ति और प्रसन्नताके अनुरूप प्राप्त हुए कुछ उपभोगके योग्य बड़े भारी लाभसे भी मुनीश्वरोंको मद नहीं होता है ।

भावार्थ—दानान्तरायके क्षयोपशमसे दातामें दान देनेकी शक्ति प्रकट होती है । दाता अपनी उसी शक्तिके अनुसार दान देता है । तथा यदि दाताका चित्त साधुके प्रति प्रसन्न होता है कि यह साधु मुक्तिकी साधनामें लगा हुआ है, तपस्वी है, आरम्भ और परिग्रहसे रहित है, सत्पात्र है, इसे दान देनेसे बड़ा पुण्य होगा, तो दाता उसे अपनी शक्तिके अनुसार दान देता है । अतः लाभ दाताकी शक्ति और प्रसन्नतापर भी निर्भर है । तथा दानमें प्राप्त हुआ अन्न वगैरह कुछ ही समयके लिए शरीरकी तृप्ति करता है । अतः ऐसे लाभसे, भले ही वह बड़ा भारी हो, श्रेष्ठ मुनि कभी मदको प्राप्त नहीं होते ।

बुद्धिका मद करना योग्य नहीं है —

ग्रहणोद्ग्राहणनवकृतिविचारणार्थावधारणाद्येषु ।
बुद्ध्यङ्गविधिविकल्पेष्वनन्तपर्यायवृद्धेषु ॥ ९१ ॥
पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ॥ ९२ ॥

टीका—अपूर्वसूत्रार्थयोर्ग्रहणसमर्था बुद्धिः, गृहीतं सूत्रमर्थो वा उद्ग्राह्यः—अन्यस्मै प्रतिपाद्यं सुबुद्धिविशेषेण । नवकृतिरिति—नवम्–अभिनवं स्वयमेव प्रकरणाध्योपनिबन्धनादि करोति । विचारणा नाम सूक्ष्मेषु आत्मकर्मबन्धमोक्षादिषु युक्त्यनुसारिणी जिज्ञासा । आचार्योपाध्यायादिवचनविनिर्गतस्य शब्दार्थस्य सकृदेव ग्रहणं न द्विस्त्रिर्वा । 'एवमाद्येषु' इति आदि-

१–पयोगयो–प० । २–पयोगयो–प० । ३–न किं बहुना फ०, ब० । ४–बुद्धिग्र–ब० । ५–तत्सूत्रसमर्थो फ० । ६–त सूत्रसमर्थो–ब० । ७–पाद्यसु–प, फ ब०, मु० । ८–पूर्वक्र ब० । ९–अर्थावधारणमाचार्यादिवचनविनिगतस्य शब्दार्थस्य सकृदेव ग्रहण न द्वित्रिवारोच्चारणादिप्रयासः—अव० ।

शब्दाद् धारणा परिगृह्यते । बुद्धेरङ्गानि शुश्रूषाप्रतिप्रश्नग्रहणादीनि, तेषां विधिः—विधान मागमेन प्रतिपादनम्, तस्य विधेर्विकल्पास्तेषु । कियत्सु ? अनन्तैः पर्यायैर्वृद्धेषु । क्षयोपशमजा बुद्धिविकल्पाः परस्परमनन्तैः पर्यायैर्वृद्धाः असर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयत्वाद् मतिश्रुतयोः, समस्तरूपिद्रव्यनिबन्धनत्वाच्चावधेः तदनन्तभागवर्तिरूपिद्रव्यनिबन्धनत्वाच्च मनःपर्यायबुद्धेः । इत्येवं बुद्ध्यङ्गविधिविकल्पेषु अनन्तपर्यायवृद्धेषु सत्सु ॥ ९१ ॥

पूर्वपुरुषा गणधरप्रभृतयश्चतुर्दशपूर्वधरादयो यावदेकादशाङ्गविदवसानाः । सिंहा इव सिंहा इव सिंहाः, शौर्येणोपमानम् । परीषहकषायेन्द्रियकुरङ्गनिहननात् पूर्वपुरुषसिंहाः । विज्ञानातिशयो विज्ञानप्रकर्षः, स एव सागरः समुद्रो विस्तीर्णत्वात् । अनन्तस्य भाव आनन्त्यं 'बहुत्वम्' इत्यर्थः । क्षयोपशमजज्ञानस्य प्रकर्षापकर्षवत्त्वादनन्ता विज्ञानातिशयसागराः 'बहवः' इत्यर्थः । अथवा ज्ञाते सर्वश्रुतग्रन्थे वैक्रियतेजोलेश्याकाशगमनसंभिन्नश्रोत्रादयोऽतिशया बहुप्रकाराः, त एव सागराः एकस्याप्यतिशयस्य दुरवगाहत्वात् । तदेतत् पूर्वपुरुषसिंहानां श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषा दुःषमांशवर्तिनः कथं केन प्रकारेण स्वल्पया स्वधिषणया माद्यन्तीति ॥ ९२ ॥

अर्थ—ग्रहण, उद्ग्राहण, नवीन रचना करना, विचारणा तथा अर्थको अवधारण करना वगैरह और बुद्धिके अङ्गोंका आगममें जो विधान है, उसके अनन्त पर्यायोकी वृद्धिको लिए हुए भेदोमें पूर्व महापुरुष सागरके समान महान् ज्ञानकी अनन्तताको सुनकर आज-कलके पुरुष अपनी बुद्धिका गर्व कैसे करते है ?

भावार्थ—अपूर्व सूत्रों और उनके अर्थको ग्रहण करनेमें, दूसरोंको समझानेमे, नवीन प्रकरण वगैरह रचनेमें, सूक्ष्म पदार्थोंका विचार करनेमें, आचार्य वगैरहके मुखसे निकले हुए अर्थका एक बारमें ही अवधारण करने वगैरहमें हमारे पूर्वज बड़े दक्ष थे । तथा शास्त्रोंमें बुद्धिके 'सुननेकी इच्छा' वगैरह जो अङ्ग बतलाये हैं उनके भेद मतिज्ञान आदि हैं, जो परस्परमें अनन्त पर्यायोंकी वृद्धिको लिए हुए है । क्योंकि मति और श्रुत सब द्रव्योको विषय करते है । अवधि समस्त रूपी द्रव्यको जानता है, और मनःपर्यय उसके अनन्तवें भाग रूपी द्रव्यको जानता है । इस प्रकार परस्परमें अनन्त पर्यायोकी वृद्धिको लिए हुए जो बुद्धिके भेद हैं, वे भी हमारे उन चौदह पूर्वके पाठीसे लेकर ग्यारह अङ्गके ज्ञाता पूर्वजोमें पाये जाते थे । इस प्रकार उनका ज्ञान सागरके समान गभीर और अनन्त था । उनके इस ज्ञानातिशयको सुनकर आज-कलके क्षुद्र बुद्धिवाले मनुष्योंको अपने ज्ञानका गर्व नहीं करना चाहिए ।

किसीके प्रिय होनेका मद भी नहीं करना चाहिए :—

द्रमकैरिव चाटुकर्मकमुपकारनिमित्तकं परजनस्य ।
कृत्वा यद्वाल्लभ्यकमवाप्यते को मदस्तेन ॥ ९३ ॥

१–सर्वे पर्यायाः सर्वे—फ०, ब० । २–शदशपू–प० । ३–कषायकुर–ब० । ४–ङ्गप्रतिह–ब०,–ङ्ग प०,–ङ्गानानिह–मु० । ५–पूर्व–प० । ६–दुःष-मानुव–प० । ७–न कारणेन स्व–प० ।

टीका—रङ्कैरिव चाटुशब्देन समानार्थश्चटुशब्दोऽपि विद्यते। बहुलवचनाद्वा उकारः प्रत्ययो भवति। चटुकर्मैव चटुकर्मकम्। 'अनुवृत्तिः तत्प्रयोजनानुष्ठानं तद्गुणप्रशंसा विष्टरादिदानम्' इत्येवं कुर्वाणो लोकस्य वल्लभो भवति। आचार्यादीनामामोदितमभ्युत्थानादि क्रियमाणं चटुकर्म न दोषमावहति। उपकारो निमित्तं यस्य चटुकर्मण. तदुपकारनिमित्तकम्। उपकारोऽनेन प्राग् मम कृतः, करिष्यते वाऽतश्चटुकर्म करोति। 'परजनस्य' इति गृहस्थादिसूचनम्। तच्चटुकर्म कृत्वा यदवाप्यते वाल्लभ्यकं को मदस्तेनेति–श्वेवावलेहनादिदायिन' पुरः स्थित्वा श्रवणपुच्छचालनादि कृतोपकारस्य यद्वाल्लभ्यकमवाप्नोति किं तत्र चित्रमिति॥ ९३॥

अर्थ—उपकारके निमित्त दीन मनुष्योंके समान दूसरे लोगोंकी चापलूसी करके जो उनका प्रेम प्राप्त किया जाता है, उसका क्या मद ?

भावार्थ—इसने मेरा उपकार किया है, अथवा आगे करेगा, यह सोचकर मनुष्य भिखारियोंकी तरह दूसरोंकी चापलूसी करता है। उसके पीछे–पीछे लगा रहता है, उसका काम करता है, उसकी बड़ाई करता है, और उसे बैठनेको आसन देता है। जिस प्रकार कुत्ता रोटीका टुकड़ा डालनेवालेके आगे खड़ा होकर अपने कान और पूछ हिलाता है। इस तरहके कामोंसे दूसरोंका जो प्रेम प्राप्त होता है, उसमें कोई अचरज नहीं है। अत' उसका मद करना वेकार है।

गर्वं परप्रसादात्मकेन वाल्लभ्यकेन यः कुर्यात्।
तद्वाल्लभ्यकविगमे शोकसमुदयः परामृशति॥ ९४॥

टीका—गर्वः–अभिमान बहुजनवल्लभोऽहम्' इति परप्रसादेन जनितः। परो हि चटुकर्मकारिणः परितुष्टाः कश्चित् प्रसादं करोति वस्त्रान्नपानादिकम्। तावन्मात्रेण च गर्वितो भवति। तं चटुकर्मकारिणं वाल्लभ्यकविगमे-विगते–वल्लभत्वे द्वेष्यत्वे जाते, शोकसमुदयः परामृशति छुपति–तथानुवर्तितोऽयमेकपद एव निःस्नेहो जातः। यावन्ति चटुकर्माणि कृतानि तावन्त एव शोका' शोकसमुदयस्तेन स्पृश्यते। शोकश्चित्तपीडाविशेषः॥ ९४॥

अर्थ—दूसरोके अनुग्रहसे प्राप्त हुए प्रेमका जो मनुष्य गर्व करता है, उस प्रेमके नष्ट हो जानेपर उसे बड़ा भारी रज होता है।

भावार्थ—चापलूसी करनेवालेसे प्रसन्न होकर दूसरे मनुष्य उसपर अनुग्रह करते हैं, उसे अन्न–वस्त्र देते हैं। उतने ही से वह गर्व करता है कि मैं बहुतसे मनुष्योंको प्रिय हूँ। किन्तु जब प्रेमका स्थान द्वेष ले लेता है तब उसने जितनी हो खुशामद की थीं, उतना ही उसे रज भी उठाना पड़ता है कि इतनी खुशामद करनेपर भी अमुक मनुष्य एकदम ही दुश्मन बन गया।

श्रुतका मद नहीं करना चाहिए —

माषतुषोपाख्यानं श्रुतपर्यायप्ररूपणां चैव।
श्रुत्वाऽति विस्मयकरं विकरणं स्थूलभद्रमुनेः॥ ९५॥

१–वर्तितो–प०, फ० ब०।

सम्पर्कोद्यमसुलभं चरणकरणसाधकं श्रुतज्ञानम् ।
लब्ध्वा सर्वमदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ॥ ९६ ॥

टीका—स्वल्पेनापि श्रुतेन भावतो गृहीतेन जडमतिनाऽपि निर्वाणं साध्यते। स ह्यसमर्थो बहुमागममध्येतुं करणजडत्वात् मेधाधारणाविरहाच्च। तस्यैवंविधस्य गुरुभिरनुकम्पया पदद्वयमर्पितम् 'मा रूस' 'मा तूस' इति रागद्वेषनिग्रहगर्भम्। तस्य तद् घोषयतः करण—वैकल्यादन्यथा स्थिरीभूतम् 'माषतुष' इति। श्रूयते च तस्य निर्वाणावाप्तिः। तस्माद् 'बह्वधीतं मयाऽर्थश्च परिज्ञायते' इति निष्कारणो गर्वः। श्रुतपर्यायप्ररूपणा चैवम्—श्रुतमागमः, तस्य पर्याया भेदाः—कश्चिदेकार्थव्याख्याकारी, कश्चिदर्थद्वयभाषी, तथाऽपरो बह्वर्थाख्यायी एकस्यैव सूत्रस्येति श्रुतपर्यायश्चाकर्ण्य। अतिविस्मयकरश्च विकरणं वैक्रियसिंहरूपनिर्माणं स्थूलभद्रमहर्षेर्जामिआर्यिकाणां दर्शनाय, आगमाभियोगजनितं लब्धिविकरणं श्रुतसम्प्रदायविच्छेदं च तस्य श्रुत्वा को नामैहिकोपायभीत्याऽपि श्रुतमदं कुर्यात्॥ ९५ ॥

आगमज्ञैर्बहुश्रुतैराचार्यादिभिः सह सम्पर्कः-संसर्गः, उद्यम-उत्साहोऽध्येतव्यार्थश्रवणे च। सम्पर्कोद्यमाभ्यां सुलभम्-अनायासेन प्राप्यम्। चरणं मूलगुणाः, करणमुत्तरगुणाः, तेषां साधकम्-निष्पादकम्। श्रुतज्ञानं लब्ध्वा-समासाद्य, सर्वेषां जात्यादिमदानामपनयनकारि भूयस्तेनैव कथ मदमादधीत आत्मनि? न हि विषापहारि प्रयुज्यमानमगदं विषवृद्धिं करोतीति ॥ ९६ ॥

अर्थ—माषतुष मुनिके कथानकको सुनकर, श्रुतज्ञानके भेदोंकी प्ररूपणाको सुनकर और स्थूलभद्र मुनिकी अत्यन्त आश्चर्यजनक विक्रियाको सुनकर कौन मनुष्य श्रुतका मद करेगा? बहुश्रुत आचार्योंके संसर्गसे और अपने उत्साहसे अनायास प्राप्त होनेवाले, मूलगुण और उत्तरगुणोंके साधक तथा सब मदोंको हरनेवाले शास्त्र-ज्ञानको प्राप्त करके उसका मद कैसे किया जा सकता है?

भावार्थ—भावपूर्वक ग्रहण किये हुए थोड़ेसे भी श्रुतसे जड़बुद्धि मनुष्यको भी निर्वाण प्राप्त हो सकता है। माषतुष मुनि जड़बुद्धि होनेके कारण बहुत आगे पढ़नेमें असमर्थ थे। उनपर दया करके गुरू महाराजने उन्हें दो पद सिखला दिये—'मा रूस' और 'मा तूस' अर्थात् राग मत करो और द्वेष मत करो। उन पदोंका उच्चारण करते करते उन्हें 'माषतुष' याद रह गया। इतने मात्रसे ही उन्हें निर्वाणकी प्राप्ति सुनी जाती है। अतः 'मैंने बहुत पढा है, और मैं अर्थको सब जानता हूँ' ऐसा गर्व करना निःसार है। तथा आगम-ज्ञानके बहुतसे भेद हैं। कोई एक अर्थकी व्याख्या करता है और कोई दो अर्थकी व्याख्या करता है। तथा कोई उस एक ही सूत्रके अनेक अर्थ करता है।

१-तद् ....प० । २-परिज्ञातः-प० । ३-जामिकार्यि-प० । ४-कोपायभ्रान्त्या--फ० ब० । ५-तव्यार्थ--फ० ब० ।

तथा श्रुतज्ञान तो सभी मदोंको दूर करनेवाला है। श्रुतज्ञानको पाकर मद करने लगना कहाँतक उचित है? विषको दूर करनेके लिए दी गई ओषधि विषको बढ़ाती नहीं है।

स्थूलभद्र महर्षिको विशिष्ट श्रुताभ्यासले विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई और उसके गर्वमें आकर उन्होंने दर्शनार्थ आई हुई आर्यिकाओंको भयभीतकर श्रुत सम्प्रदायका विच्छेद किया।[१] अतः कौन व्यक्ति होगा जो इस घटनाको सुनकर श्रुतका मद करे?

एतेषु मदस्थानेषु निश्चये न च गुणोऽस्ति कश्चिदपि।
केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ॥ ९७ ॥

---

१. पाटलीपुत्रमें एकत्र हुए 'महावीर-संघ' की प्रार्थनापर जिनतुल्य भद्रबाहुस्वामी पूर्वश्रुतकी वाचना देनेके लिए तैयार हो गये, परन्तु वे इस शर्तपर तैयार हुए कि कायोत्सर्ग पूर्ण करनेके पश्चात्, भोजनके समयमें, और मकानसे बाहर आने-जानेके समयमें ही वाचना दे सकेंगे। निदान ५०० साधु विद्यार्थी एवं १००० उनके परिचारक साधु भद्रबाहुके निकट दृष्टिवादके अध्ययन निमित्त पहुँचे। परन्तु वाचनासमयके अनुकूल न होनेसे अन्य साधु तो भद्रबाहुके निकटसे चल दिये। उनमें से केवल स्थूलभद्र ही रह गये और उन्होंने सलग्नतापूर्वक अध्ययन करते हुए सांगोपाङ्ग दशपूर्व सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकान्तमें ग्यारहवें पूर्वका अध्ययन कर रहे थे। इसी अवसरपर उनकी सात बहिनें भद्रबाहुस्वामीके दर्शनार्थ आईं। उन्होंने वहाँ स्थूलभद्रको न देखकर उनके निवास-स्थलके सम्बन्धमें प्रश्न किया। भद्रबाहुने उन्हें उनका ठिकाना बतला दिया।

साध्वियाँ स्थूलभद्रके दर्शनार्थ पहुँची, परन्तु उन्होंने अपनी श्रुत-शक्तिका परिचय करानेकी दृष्टिसे सिंहका रूप धारण कर लिया। साध्वियाँ डर गईं और भद्रबाहुस्वामीके निकट जाकर कहने लगीं—क्षमा-श्रमण! वहाँ स्थूलभद्र नहीं है, बल्कि एक सिंह है। भद्रबाहुने बताया कि स्थूलभद्र ही सिंहका रूप बनाये है। साध्वियाँ पुनः स्थूलभद्रका दर्शनकर कृतार्थ हुईं।

इसके बाद स्थूलभद्र भद्रबाहुके पास वाचना लेने पहुँचे। भद्रबाहुको नंदके मंत्री शकटारका पुत्र, उच्च कुलोत्पन्न, संयमी, स्थूलभद्र द्वारा इस प्रकार श्रुतज्ञानका दुरुपयोग देखकर बड़ा खेद और आश्चर्य हुआ। वाचना देनेके निवेदनपर भद्रबाहु स्थूलभद्रसे कहने लगे—"हे अनगार! जो तुमने पढा है, वही बहुत हैं, अब तुम्हें पढनेकी कोई जरूरत नहीं।"

स्थूलभद्रने और गच्छीय साधुओंने वाचना देनेके लिए बहुत अनुनय-विनय की, पर भद्रबाहु कहने लगे—"श्रमणो, दिन-दिन समय नाजुक आता जा रहा है, मनुष्योंकी मानसिक शक्तियोंका प्रतिक्षण ह्रास होता जा रहा है, उनकी समता और गंभीरता नष्ट होती जा रही है। इस अवस्थामें शेष पूर्वोंका प्रचार करनेमें मैं कुशल नहीं देखता।"

स्थूलभद्र अग्रिम वाचनाके लिए अत्याग्रह करने लगे। अतः भद्रबाहुने शेष चार पूर्वोंको बतलाना तो स्वीकार कर लिया, परन्तु स्थूलभद्रको उन पूर्वोंको दूसरोंको पढानेकी आज्ञा नहीं दी।

इस प्रकार स्थूलभद्रके श्रुताभिमानके कारण उनके साथ ही चार पूर्वोंका नाश हुआ।

देखो वीर-निर्वाण सम्वत् और जैनकालगणना पृ. सु. ९४—९८।

टीका—जात्यादिष्वष्टसु मदस्थानेषु एतेषु निश्चये परमार्थविचारणायां पर्यवसाने वा न खलु कश्चिद् गुणो दृश्यते एहिक आमुष्मिको वा। यदि नाम जातिर्विशिष्टा ततः किं स्यात्? हीना चेत्ततोऽपि किम्? केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य-यदि परमुन्माद उन्मत्तता ग्रहाविष्टस्येव यत्किञ्चन प्रलापित्वं स्वहृदयस्येति। स्वचित्तपरिणामादेतानि मदस्थानानि भवन्ति। स च हृदयपरिणामो बहिर्वर्तिन्या वाक्कायचेष्टयाऽवगम्यते। ततश्च संसारवृद्धिः—जन्मजरामरण-प्रबन्धः संसारः, तस्य वृद्धिः-तद्दीर्घीकरणमिति ॥ ९७ ॥

अर्थ—वास्तवमें इन मदोके करनेमें कोई भी लाभ नहीं है। यह केवल अपने हृदयका उन्माद है और उससे ससारकी वृद्धि ही है।

भावार्थ—इस प्रकार ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर—इनमेंसे एक भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसके मदसे मनुष्यका कुछ विशेष लाभ हो। इनके मदमें मनुष्य सदैव उन्मत्त बना रहता है और आत्म-स्वरूपको भूलकर अनन्त संसारका बन्ध किया करता है। इसलिए गर्व किसी प्रकारका भी अच्छा और श्रेयस्कर नहीं है।

जात्यादिमदोन्मत्तः पिशाचवद् भवति दुःखितश्चेह।
जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते ॥ ९८ ॥

टीका—जात्यादिनाऽष्टप्रकारेण मदेनोन्मत्तो हृत्पूरकभक्षणपित्तोदयार्द् व्याकुलीकृतान्तःकरणपुरुषवत् पिशाचवद्वा भवति दुःखितश्चेह। कश्चिच्छुचिपिशाचकोदकः जनाकीर्णं देशमुत्सृज्य समुद्रमध्यवर्तिनं द्वीपमनुप्रविष्टः। तत्र चैको वणिग् विभिन्नपोत प्रथमतरं गतः। तत्र चेक्षुवाटाः प्रभूताः। तद्रसपानात् केवलात् गुडशकलानीव गुदमुखेन विसृष्टानि। पुरीष-परिणामान्तराणि तानि तथाऽवलोक्य स चोक्तपिशाचकश्चखाद स्वादूनि। तृप्तश्चास्ते प्रति-दिवसम्। दृष्टश्च कालान्तरेण हिण्डमानो वणिक्। ततश्चोद्विग्नस्तस्मादपि स्थानान्निर्गतोऽन्यं द्वीपं गतः। तत्रापि वल्गुल्यादिदूषितानि फलानि भुक्तवान्। एवं यत्र यत्र याति तत्र तत्र दुःख-भाक्। एवंविधश्च परभवेऽपि हीनजात्यादित्वेनोत्पद्यते इति न युक्तो जातिमदः ॥ ९८ ॥

अर्थ—जाति वगैरहके मदसे उन्मत्त हुआ मनुष्य इस लोकमें पिशाचकी तरह दुःखी होता है। तथा परभवमें नियमसे नीच जाति वगैरहको प्राप्त होता।

भावार्थ—एक ब्राह्मणपर पवित्रताका भूत सवार हो गया। पवित्र रहनेकी इच्छासे वह मनुष्योंकी बस्तीको छोड़कर समुद्रके बीचमें स्थित एक द्वीपमें जाकर रहने लगा। किसी व्यापारीका जहाज समुद्रमें डूब गया था। बहता हुआ वह व्यापारी पहले-पहल उस द्वीपमें जा लगा। वहाँ ईख खूब होती थी। केवल उसका रस पीनेसे व्यापारीको गुड़की पिंड़ियाकी तरह टट्टी होने लगी। उस

१—णामादेस्ता–प०। २—स्वहृ–ब०। ३—णामबहि–फ० ब०। ४—तद्दीर्घक–फ०, दीर्घक–प०। ५—पूरभ–प०। ६—याद्याकु–प०। ७—कृतकरण–प० ब०। ८—चर्कोट्टकाः–मु०। ९—भिन्न–फ० ब०। १०—नान्निर्गतोऽन्य द्वीप तत्रा–ब०। ११—वानेव यत्र–फ० ब०। १२—दिष्वेवोत्पद्यते–प०।

ब्राह्मणने इन पिड़ियोंको चखा और स्वादिष्ट लगनेपर प्रतिदिन उन्हींको खाकर तृप्त रहने लगा। एक दिन उसकी दृष्टि घूमते हुए व्यापारीपर पड़ गई। अतः उसे बड़ा उद्वेग हुआ और वह उस स्थानको भी छोड़कर दूसरे द्वीपमें चला गया। वहाँपर भी दूषित फलोंको खाता। इस तरह जहाँ जहाँ गया, वहाँ वहाँ उसे दुःख भोगना पड़ा। इसी प्रकार जिस पुरुषपर गर्वका भूत सवार होता है, उसे भी इस लोक और परलोकमें दुःख भोगना पड़ता है।

सर्वमदस्थानानां मूलोद्घातार्थिना सदा यतिना।
आत्मगुणैरुत्कर्षः परपरिवादश्च संत्याज्य: ९९॥

टीका—तस्मात् सर्वेषां जात्यादिमदस्थानानामष्टानामपि यन्मूलं बीजं गर्वाख्यं, तदुद्घातो विनाशः, तदर्थिना-मानकषायविजयार्थिना, सदा सर्वकालं, यतिना मोक्षसाधनप्रवृत्तेन प्रयत्नवता, आत्मगुणैर्जात्यादिभिः उत्कर्षो गर्वः परेषाञ्च परिवादः-अवर्णभाषणं परिभवः परित्यजनीय इति॥९९॥

अर्थ—अतः सब मदोंके मूल मानकषायको नाश करनेके इच्छुक मुनिको सर्वदा अपने गुणोंकी प्रशंसा और दूसरोंकी निन्दाको छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—मानकषाय ही सब मदोंका मूल है। जो साधु उसे उखाड़ फेंकना चाहता है, उसे न तो अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए।

'कस्मात् पुनः परपरिवादस्त्याज्यते' इत्याह

पर-निन्दा क्यों छोड़ना चाहिए, यह बतलाते हैं —

परपरिभवपरिवादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म[3]।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेक भवकोटिदुर्मोचम्॥ १००॥

टीका—परस्य परिभवः-न्यक्कारः 'किमनेन जात्यादिहीनेन' इति। परिवादस्तु अवर्णभाषणम्-एवञ्चैव चाऽयमकरणीयं करोति। आत्मनश्चोत्कर्षात्-जात्यादिभिरुत्कृष्टताख्यापनाद् बध्यते-समादीयते कर्म नीचैर्गोत्राख्यम्। यत्र यत्रोत्पद्यते, तत्र तत्र हीनजातिषु म्लेच्छदासचाण्डालादिषु तदनुभवति। ततश्च कर्ममयत्वात् संसारस्य तत्कृतं संसारपरिभ्रमणं जन्मजरामरणप्रबन्धम्। प्रतिभयमिति-भयाभिमुखं सर्वत्र भीतियुक्तम्। अथवा प्रतिभवम् 'भवे भवे' इत्यर्थः। भवानां जन्मना कोटिः। अनेका चासौ भवकोटिश्च अनेकभवकोटिः। भवकाऽन्यानेकया दुर्मोचं दुर्मोक्षं 'नानुभवितुं शक्यम्' इत्यर्थः। 'नामगोत्रयोर्विंशतिकोटिकोट्यः स्थिति' इति वचनात्॥ १००॥

१-र्ण परिभा-प०। २-स्त्यज्यते-प०। ३-"परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य"। तत्त्वार्थ० ८ अ० सूत्र-२४। ४-भवम-प०, ब०। ५-ते तत्र ही-प०। ६-कोटीको-प०।

अर्थ—दूसरोके तिरस्कार और निन्दासे तथा अपनी प्रशंसासे भव-भवमें नीचगोत्रकर्मका वन्ध होता है, जो भवोंकीअनेक परम्पराओंमें भी नहीं भोगा जा सकता।

भावार्थ—नीचगोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण बतलाई गई है। अत: एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवोंमें भी नहीं भोगा जा सकता। ऐसी दशामें भव भवमें बाँधे हुए कर्मका भोग तो करोड़ो भवोंमें भी होना अशक्य है।

'कर्मोदयवशाच्च हीनादिजातिषु जन्म भवति नाकस्मात्' इति दर्शयति—

कर्मोदयके कारण ही नीच वगैरह जातियोंमें जन्म होता है, यह बतलाते हैं :—

कर्मोदयनिर्वृत्तं हीनोत्तममध्यमं मनुष्याणाम्।
तद्विधमेव तिरश्चां योनिविशेषान्तरविभक्तम्॥ १०१॥

टीका—कर्मशब्देन गोत्रमेवाभिसम्बध्यते। हीनं नीचैर्गोत्रकर्मोदयात्, उत्तममुच्चैर्गोत्रकर्मोदयात्, मध्यमं व्यतिमिश्रकर्मोदयात्। मनुष्याणां तिरश्चां च त्रिविधमपि भवति 'तद्विधमेव तिरश्चाम्' इति वचनात्। 'जघन्योत्तममध्यमम्' इत्यर्थः। 'योनिविशेषान्तरविभक्तम्' इति—तिर्यग्योनिविभेदेन मनुष्ययोनिभेदेन च विभक्त कृतविभागम्। विशेषास्तु तिरश्चामेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाख्याः, मनुष्याणां सम्मूर्छन[1]गर्भजातिविशेषाः। अन्तरशब्दोऽन्यत्त्वप्रतिपादनार्थः। इति कारिकाशतं[2] विवृतम्॥ १०१॥

अर्थ—मनुष्योंमें नीचपना, उच्चपना और मध्यमपना कर्मके उदयसे होता है। तिर्यञ्चोंमें भी उसी तरह जानना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि दोनोमें योनिके भेदसे भेद पाया जाता है।

भावार्थ—यहाँपर 'कर्म' शब्दसे गोत्रकर्म लिया जाता है। नीचगोत्रकर्मके उदयसे नीचपन होता है, उच्च गोत्रकर्मके उदयसे उच्चपन होता है और दोनो कर्मोंके उदयके मेलसे मध्यपन होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें ये तीनो ही 'पन' पाये जाते है। इसमें तिर्यञ्चयोनि और मनुष्ययोनिके भेदसे भेद है। तिर्यञ्चोके भेद एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं, और मनुष्योंके संमूर्च्छनजन्मवाले, गर्भजन्मवाले आदि भेद हैं।

एवमुक्तेन न्यायेन हीनादिजन्मप्रतिपत्तिः कर्मोदयजनितेति महद्वैराग्यकारणम्, तथेदमपरं वैराग्यस्य निमित्तमाख्याति—

इस प्रकार उक्त रीतिसे नीच वगैरह जन्मोंको कर्मोंका फल जानकर महान् वैराग्य उत्पन्न होता है। अत्र वैराग्यका अन्य भी निमित्त बतलाते हैं :—

देशकुलदेहविज्ञानायुर्बलभोगभूतिवैषम्यम्।
दृष्ट्वा कथमिह विदुषां भवसंसारे रतिर्भवति॥ १०२॥

१–सम्मूर्छिन–फ०, ब०। २–प्रतीयतेऽनेनैकया आर्यया प्रक्षिप्तत्वम्।

टीका—देशो मगधाङ्गकलिङ्गादिरार्यः, शकयवनकिरातादिरनार्य. । कुलमिक्ष्वाकु-हरिवंशादिकम्, अपरं म्लेच्छदासचाण्डालादिकुलम् । सल्लक्षणावयवसन्निवेशविशेषो देहः, अपरः कुब्जहुण्डसन्निवेशादिः । विज्ञानं विशिष्टो बोधो जीवादिपदार्थविषयः, अपरः प्रकृष्टाज्ञानपरिगतः किञ्चिज्ज्ञः । दीर्घेणायुषा यथाकालविभागवर्तिना युक्तः, अपरस्तु गर्भकौमारयौवनावस्थादिषु अनियतायुः । बलं शारीरादि, तेन सम्पन्नो वीर्यवान्, अपरो दुर्बलः स्वशरीरकपि कथञ्चिद् धार-यति । भोगवाननेकेष्टशब्दादिसम्पदुपभोगसमर्थ, अपरो भोगरहितस्सतोऽपि च भोगानसमर्थो भोक्तुम् । हिरण्यसुवर्णधनधान्यादिविभूत्या युक्त एकः, अपरो दारिद्र्याभिभूतो जरदङ्गी[1] खण्ड-निवसनः एषां देशादीनां समृद्धिपर्यन्तानां वैषम्यं विषमतां विलोक्य कर्मोदयजनिताम्, कथं केन प्रकारेण, विदुषां बुद्धिमता नरकादिभवसंसारे रति. प्रीतिर्भवति ? इति कर्मोदयनिमित्तं शुभाशुभ-लक्षणं देशादि विज्ञाय उद्वेगः संसारात्कार्यः । तस्माद् धर्मानुष्ठानादर एव श्रेयान् इति ॥ १०२ ॥

अर्थ—देश, कुल, शरीर, ज्ञान, आयु, बल, भोग और विभूतिकी विषमता देखकर विद्वानोंको इस नरकादिरूप संसारमें कैसे रति होती है ?

भावार्थ—कोई मगध, अङ्ग, कलिङ्ग वगैरह आर्य देशमें जन्म लेता है । कोई शक, यवन, किरात वगैरह अनार्य देशमें जन्म लेता है । कोई इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि उच्च कुलोंमें जन्म लेता है । कोई भिखारियों वगैरहके नीच कुलमें जन्मते हैं । किसीका शरीर शुभ लक्षण और शुभ अवयवोंसे युक्त है, और किसीका शरीर कुब्जक, हुडक वगैरह सस्थानवाला है । किसीको जीवादि पदार्थोंका विशिष्ट ज्ञान है , और कोई बिल्कुल अज्ञानी है । किसीकी आयु खूब लम्बी और अपने समयपर पकनेवाली होती है, और कोई गर्भावस्थामें, अथवा कुमारावस्थामें अथवा भरजवानीमें ही मर जाता है । कोई बड़ा बली है और कोई बिल्कुल निर्बल है, कोई अनेक भोगोंको भोगनेमें समर्थ है और किसीके शक्ति होते हुए भी या तो भोगनेको भोग नहीं हैं या भोग-सामग्री होते हुए भी भोगनेकी शक्ति नहीं है । एक सोना-चाँदी, धन-धान्य वगैरह विभूतिसे युक्त है तो दूसरा गरीबीमें दिन काटता है । इस विषमताको देखकर विद्वान् मनुष्य ससारसे कैसे प्रीति कर सकता है ? उन्हें तो संसारसे वैराग्य ही करना चाहिए । अत धर्म-कार्यमें चित्त लगाना ही हितकर है ।

तथाऽपरं वैराग्यनिमित्तमादर्शयन्नाह—

वैराग्यके और भी निमित्त बतलाते है '

अपरिगणितगुणदोषः स्वपरोभयबाधको भवति यस्मात् ।
पञ्चेन्द्रियबलविबलो रागद्वेषोदयनिबद्धः ॥ १०३ ॥

टीका—गुणाश्च दोषाश्च गुणदोषाः, अपरिगणितौ[2] अनादृता गुणदोषाश्च[3] येनासौ अपरिगणितगुणदोष । प्रेक्षापूर्वकारी गुणान् दोषांश्च विचार्य गुणेषु प्रवर्तते, दोषान् परिहरति । यश्चानालोचितगुणदोषः स खलु स्वपरोभयबाधको भवति । स्वमात्मानं बाधतेऽपरञ्च बाधते ।

१–जरदन्तीख–फ०, ब० । २–ताश्च अना–प० । ३–षा येना–प० ।

दोषप्रवृत्तावात्मानं बाधते, 'यथाऽयं प्रवृत्तस्तथाऽहमपि प्रवर्तयामि' इति परमपि बाधते। पञ्चेन्द्रियबलेन विबलो विगतबलः। 'पञ्चेन्द्रियबलेन महताऽभिभूतत्वादुन्मार्गयायिनाऽन्येन बलेन मार्गे प्रतिपादयितुमशक्यः' इति विबलः। रागद्वेषोदयेन निबद्धो नियमितः 'रागद्वेषपरिणतः' इत्यर्थः ॥ १०३ ॥ यस्मादनालोचितगुणदोष एवंविधो भवति—

अर्थ—यतः पाँचो इन्द्रियोंके बलके आगे निर्बल हुआ और राग तथा द्वेषके उदयसे जकड़ा हुआ मनुष्य गुण और द्वेषका विचार नहीं करता और अपनेको, दूसरोंको तथा दोनोको कष्ट देता है।

भावार्थ—सोच-विचार कर काम करनेवाला मनुष्य गुण और दोषका विचार करके गुणोंमें प्रवृत्ति करता है और दोषोको छोड़ देता है। जो गुण-दोषका विचार नहीं करता, वह दोषोमें प्रवृत्त होकर अपनेको कष्ट देता है। तथा उसकी देखा-देखी दूसरे लोग भी दोषोमें प्रवृत्त होते हैं। अतः वह दूसरोंको भी पीड़ाका कारण होता है। तथा पाँचों इन्द्रियोंके जालमें वह ऐसा फँस जाता है कि प्रयत्न करनेपर भी उसे सुमार्गपर लाना कठिन होता है।

तस्माद् रागद्वेषत्यागे पञ्चेन्द्रियप्रशमने च।
शुभ परिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम् ॥ १०४ ॥

टीका—यस्मादेवं तस्माद् यथा रागद्वेषयोरात्यन्तिकस्त्यागो भवति तथाऽनुष्ठेयम्। पञ्चेन्द्रियबलं यथा प्रशाम्यति-नोद्वृत्तशक्तिर्भवति तथा शुभपरिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम्। शुभ एव परिणामो यथा देशकुलविज्ञानादिष्वाप्यते, शुभ परिणामावस्थाने यो हेतुः, तस्य हेतोः प्रयत्नेनावाप्तिर्यथा स्यात् तथा चेष्टितव्यमिति ॥ १०४ ॥

अर्थ—अतः शुभ परिणामोंकी स्थितिके लिए राग और द्वेषको त्यागनेमें तथा पाँचों इन्द्रियोको शान्त करनेमें प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—यतः गुण-दोषका विचार न करनेवाले मनुष्यमें उक्त दुराइयाँ पाई जाती हैं। अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे राग और द्वेषका सर्वथा अभाव हो तथा पाँचो इन्द्रियोंकी शक्ति शान्त हो। और उसके लिए शुभ भावोंको प्राप्त करने तथा उन्हें बनाये रखनेका प्रयत्न करना चाहिए।

तत्कथमनिष्टविषयाभिकाङ्क्षिणा भोगिना वियोगो वै।
सुव्याकुलहृदयेनापि निश्चयेनागमः कार्यः ॥ १०५ ॥

१–ते पञ्चेन्द्रियबलेन महता–फ० ब०। २–क्यादति। ३–लः विगतबलो राग–फ०ब० ४–शुद्धय–ब०। ५–राप्यते–प०। ६–स्थानस्य यो–प०। ७–व्यमित्याह–फ० ब०।

टीका—'तत्कथं चेष्टितव्यम्' इत्याह—अनिष्टा विषया वक्ष्यमाणेन न्यायेन, तान् आकाङ्क्षति अभिलषति तेन अनिष्ट विषयाभिकाङ्क्षिणा, भोगिना भोगासक्तेन, 'कथमात्यन्तिको वियोगः स्यादेभि सह' इति। वैशब्दः पादपूरणे। सुष्ठुव्याकुलहृदयेनापि बाढं व्यग्रहृदयेनापि सता। निश्चयेन यथावद् विज्ञाय एतानिह परत्र चापायबहुलान् शब्दादिविषयान्। आगमः कार्यः—आगमो भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतोऽभ्यासितव्यः कार्यः। ततश्चैषामात्यन्तिकः स्वात्मनि प्रलयो भवत्यनेनाभ्युपायेनेति ॥ १०५ ॥

अर्थ—(प्रश्न)—अनिष्ट विषयोकीं इच्छा करनेवाले भोगासक्त मनुष्यसे इन विषयोका वियोग कैसे हो सकता है? (उत्तर)—हृदयके अत्यन्त व्याकुल होनेपर भी इन विषयोंको जानकर आगमका अभ्यास करना चाहिए)

भावार्थ—पहले यह प्रश्न किया गया है कि जब मनुष्य भोगोमें आसक्त है और रात-दिन भोगोंकी वाञ्छा करता रहता है तो वह उन विषयोंका त्याग कैसे कर सकता है? बादमें उसका उत्तर दिया गया है कि भोगोके लिए हृदयके आकुलित होनेपर भी पहले उसे भोगोकी असलियतको जानना चाहिए, कि ये विषय इसलोक और परलोकमें दुःखदायी हैं। उसके बाद भगवान् अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट आगमका अभ्यास करना चाहिए। इस उपायसे उन विषयोंकी इच्छा बिलकुल नष्ट हो जाती है।

'कथं पुनरनिष्टा विषयाः' इत्याह—
विषय अनिष्ट क्यों हैं? यह बतलाते हैं —

आदावत्यभ्युदया मध्ये श्रृङ्गारहास्यदीप्तरसाः।
निकषे विषया बीभत्सकरुणलज्जाभयप्रायाः ॥ १०६ ॥

टीका—आदौ प्रथमं कुतूहलादुत्सुकतया अत्यभ्युदयान् उत्सवभूतान् मन्यते। उत्सव आगमिष्यतीति भवत्यानन्दश्चेतसि प्रथमम्। मध्ये विषयप्राप्तौ सत्यां श्रृङ्गारवेषाभरणकुचकण्ठाश्लेषमुखचुम्बनकररुहक्षतप्रहारपरिहासप्रणयकोपादिमत्वाद् दीप्तरसाः। 'निकषे' इति—विशिष्टसंयोगोत्तरकालं विषयाः स्पर्शादयः प्रतिभान्ति बीभत्साः निर्वसनत्वात् प्रकट गुदवराङ्गविकृतदर्शनात्। करुणास्तु बहुविलापविस्वरक्कणनश्रवणात् करुणाश्रयत्वादनुकम्पापात्रत्वात्। परिसमाप्तप्रयोजना च त्वरिततरमादत्ते त्रपावती निवसनादि बिभेति च गुरुजनादाशङ्कते 'मां मैवंविधामद्राक्षीत् कश्चित्' इति। एवमेते विषया बीभत्सकरुणलज्जाभयायासबहुलाः पर्यन्ते। मध्येऽप्युदिततीव्रमोहवेदनाः आरम्भेतु कुतूहलौत्सुक्यभावान्न जातुचित्स्वास्थ्यमापादयन्तीति त्याज्याः ॥ १०६ ॥

अर्थ—ये विषय प्रारम्भमें उत्सवकी तरह हैं। मध्यमें श्रृङ्गार और हास्यसे रसको उद्दीप्त करते हैं। और अन्तमें बीभत्स, करुणा, लज्जा और भय वगैरहको करते हैं।

१—पूरणः—फ० ब०। २—चकर्मभुख-फ० ब०। ३—करनखक्षत-फ० ब०। ४—कृतिद-मु०। ५—नाञ्च-फ० ब०। ६—मेऽ,ति कु-फ० ब०। ७—वाः न-फ० ब०।

भावार्थ—प्रारम्भमें यह मनुष्य कुतूहलसे इन विषयोंको उत्सवोंकी तरह मानता है। अर्थात् जैसे किसी उत्सवकी सूचना मिलनेपर उससे आनन्द होता है वैसा ही आनन्द विषयोंकी प्राप्ति होनेसे पहले होता है। विषयोंके प्राप्त होनेपर शृङ्गार, वेष, अलङ्कार, हास्य, प्रेम-कोप और संभोगके अन्तमें खुले हुए कामाङ्गोंको देखकर बड़ी ग्लानि होती है। नवोढ़ाके चीत्कारको स्मरण करके उसपर दया आती है। एक दूसरेको नग्न देखकर लज्जा होती है। उस अवस्थामें गुरुजनोंके देख लेनेपर भय लगा रहता है। इस प्रकार अन्तमें ये विषय ग्लानि, करुणा, लज्जा और भय वगैरहको उत्पन्न करते हैं। मध्यमें मोहकी तीव्र वेदनाको उत्पन्न करते है और आरम्भमें कुतूहल और उत्सुकता पैदा करते है। ये कभी भी मनुष्यको स्वस्थ नहीं होने देते। अतः छोड़नेके योग्य हैं।

'ननु च उपभुज्यमानः सुखलेशेनोपभोक्तारमनुगृह्णन्तो[1] विषया' इत्यधिकारे[2] पठति—

विषय-भोगसे मनुष्यको थोड़ा-बहुत सुख भी होता है, अतः विषय उपकारक हैं, इसका उत्तर देते हैं :—

यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः।
किंपाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥ १०७ ॥

टीका—निषेव्यमाणा उपभुज्यमानाः क्षणमात्रं यद्यपि मनोहर्षं जनयन्ति तथापि पश्चाद् विपाककाले आपातरमणीया अपि सन्तः किंपाकफलभक्षणोपमाः किंपाकतरुफलानि हि रसनाग्रेणा[3]लिह्यमानानि स्वादूनि सुरभीणि च परिणतिकाले परासुतया योजयन्ति। अतो दुरन्ताः 'दुःखान्ता' इत्यर्थः ॥ १०७॥

अर्थ—यद्यपि सेवन करते समय विषय मनको सुखकर लगते हैं, तथापि किंपाक वृक्षके फलके भक्षणके समान अन्तमें दुखःदायी होते हैं।

भावार्थ—किंपाक वृक्षके फल खानेमें बड़े स्वादिष्ट और सुगन्धित होते हैं; किन्तु पेटमें पहुँचते ही जहरका काम करते हैं। विषयोंको भी ऐसा ही जानना चाहिए।

तथाऽपरं निर्दर्शनमाह[4]—

दूसरा उदाहरण देते हैं :—

यद्वच्छाकाष्टादशमन्नं बहुभक्ष्यपेयवत् स्वादु।
विषसंयुक्तं भुक्तं विपाककाले विनाशयति ॥ १०८ ॥

टीका—शाकं तीमनमष्टादशं यस्य तद् शाकाष्टादशमन्नम्। बहुभक्ष्यं मोदकादि[5], पेयं पानकविशेषः सीधुप्रसन्नादि वा, तत्पेयं यत्रास्त्यन्ने तत्पेयवदन्नम्। स्वादु-मधुरादिर्संयुक्तं[6] विषव्यतिमिश्रं भुक्तम्, विपाककाले परिणतिसमये[7] यथा विनाशयति ॥ १०८॥

१–ह्णतो फ०, ब०। २–इत्याधिकारे प०–फ०, ब०। ३–ग्रेणोलिह्य–फ० ब०। ४–र्शनमाह–फ०, ब०। ५–मोदकामलसारकादि, प०। ६–दिसंयुक्त, फ०, ब०। ७–मये वि–फ०, ब०।

तद्वदुपचारसंभृतरम्यकरागरससेविता विषयाः ।
भवशतपरम्परास्वपि दुःखविपाकानुबन्धकराः ॥ १०९ ॥

टीका—दार्ष्टान्तिकमर्थं दृष्टान्तेन समीकरोति 'तद्वत्' इति । उपचारः-चाटुकर्म विनय-प्रतिपत्तिः, तेनोपचारेण संभृतं बहुकृतं रम्यकं रमणीयत्वमतिशयप्रीतिहेतुत्वम्, रागः स्नेह-विशेषः, तस्य रसः-अतिशय, उपचारसंभृतरम्यकरागरसेन सेविता उपभुक्ता विषयाः शब्दादयः । सकृन्मरणकारित्वाद् विषान्नदृष्टान्तं दूरीकरोति पश्चार्द्धेन—भवशतानां परम्पराः पद्धतयः सन्ततयः तासु दुःखेन विपाकेन अनुबन्धकरणशीला दुःखाविच्छेदकारिण इति ॥ १०९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अट्ठारह प्रकारके शाक और बहुतसे खाने योग्य और पीने योग्य स्वादिष्ट वस्तुओंसे युक्त स्वादिष्ट भोजन यदि विषैला हो तो उसके खानेसे अन्तमें मृत्यु होती है। उसी प्रकार खुशामद और विनय वगैरहसे बढ़ी हुई रमणीयता और अत्यन्त रागसे भोगे हुए विषय सैकड़ों भवोंकी परम्परामें भी दुःख-भोगकी परम्पराको करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—विषय-भोग सुस्वादु विषैले भोजनके समान अन्तमें दुःखदायी होता है। विषैले भोजनके खानेसे तो एक ही बार मृत्यु होती है। किन्तु विषयोंके सेवनसे भव-भवमें कष्ट उठाना पड़ता है।

अपि पश्यतां समक्षं नियतमनियतं पदे पदे मरणम् ।
येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥ ११० ॥

टीका—पश्यतामपि समक्षं प्रत्यक्षेण प्रमाणेन मरणं नियतकालमनियतकालञ्च । देवनारकाणां नियतकालमेव । अनियतकालं मनुष्याणां तिरश्चां च । पदे पदे स्थाने स्थाने नारकादिजन्मनि आर्यानार्यादिभेदे गोमहिष्यजाविकादिभेदे च । अथवा 'नियतम्' इति सर्वकालमेव, अनियतं मनुष्यतिरश्चामायुः सम्प्रतितनानाम् । एवमवगतानित्यायुःस्वरूपाणा-मपि येषां विषयेषु रति शक्तिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् कुशलः । तिर्यञ्च एव हि ते निर्बुद्धिकत्वादिति ॥ ११० ॥

अर्थ—जगह-जगह नियत और अनियत मरणको प्रत्यक्ष देखते भी जिनकी विषयोंमें आसक्ति है, उन्हें मनुष्योंमें नहीं गिनना चाहिए।

भावार्थ—मरण दो तरहका होता है—एक नियत काल और दूसरा अनियत काल। देव और नारकोंका मरण नियत कालमें ही होता है, क्योंकि उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। तथा अनियत काल मरण मनुष्य गति और तिर्यञ्च गतिमें होता है। सभी गतियोंमें मृत्यु प्रत्यक्ष है। संसारमें ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ मृत्यु न होती हो। अथवा दूसरा अर्थ ऐसा भी कर सकते हैं कि मरण

१–रसो विषय उप-प० । २–म्यका राग-प० । ३–वा प० । ४–त्यतानामपि येषां, फ०, ब०, । ५–र्यञ्चेव हि, फ० ब० ।

सर्वदा ही अनियत है; क्योंकि आयु प्रत्येक समयमें क्षय हो रही है। और यह बात हम अपने सामनेके मनुष्यों और तीर्थञ्चोंमें प्रत्यक्ष देखते हैं। तो भी आयुको अनित्य जानकर भी जो विषयोंमें फँसे हुए हैं; उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिए। नासमझ होनेके कारण वे पशु ही हैं।

विषयपरिणामनियमो मनोऽनुकूलविषयेष्वनुप्रेक्ष्यः ।
द्विगुणोऽपि च नित्यमनुग्रहोऽनवद्यश्च संचिन्त्यः ॥ १११ ॥

टीका—मनोऽनुकूला ये विषया इष्टाः शब्दादयस्तेषां विषयाणां परिणामोऽनुप्रेक्ष्यः-चिन्तनीय आलोचनीयः । इष्टपरिणामाः सन्तोऽनिष्टपरिणामा भवन्ति, अनिष्टपरिणामाश्चाभीष्ट-परिणामा भवन्ति, नावस्थितः कश्चित् परिणामोऽस्ति । एवञ्चानवस्थितपरिणामविषय-विरतौ सत्यामनुग्रहो द्विगुणोऽनवद्यश्च संचिन्त्यः । अनुग्रहः-गुणयोगः, स च द्विगुणः । बहुगुण एव द्विगुणं उक्तः, द्विशब्दस्योपलक्षणत्वात्। अनवद्यश्चासौ पापबन्धाभावात् इत्यनुप्रेक्ष्यः ॥१११॥

अर्थ—मनके अनुकूल विषयोंमें विषयोंके परिणामके नियमका बारम्बार चिन्तन करना चाहिए और सर्वदा निर्दोष तथा बहुगुणयुक्त लाभका विचार करना चाहिए।

भावार्थ—मनको प्रिय लगनेवाले विषयोके भावी परिणामका विचार करना चाहिए। अर्थात् अच्छे लगनेवाले विषय कालान्तरमें बुरे लगते हैं, और बुरे लगनेवाले विषय कालान्तरमें अच्छे लगने लगते हैं। उनका कोई परिणाम सर्वदा नहीं रहता। अतः अस्थिर परिणामवाले विषयोसे विरक्ति होनेपर आत्माका बड़ा भारी दोष रहित कल्याण होता है। क्योकि विषयोसे विरक्ति होनेपर पापकर्मका बन्ध नहीं होता। अतः उस लाभका सर्वदा विचार करते रहना चाहिए।

इति गुणदोषविपर्यासदर्शनाद्विषयमूर्छितो ह्यात्मा ।
भवपरिवर्तनभीरुभिराचारमवेक्ष्य परिरक्ष्यः ॥ ११२ ॥

टीका—इति इत्थं गुणान् दोषरूपेण यः पश्यति दोषांश्च गुणरूपेण प्रेक्षते, विपर्यास-दर्शनाद् वैपरीत्यं बुद्ध्यते। विषयेषु शब्दादिषु मूर्छितः-तन्मयतां गतो य आत्मा। भवः संसारः; तत्र परिवर्तनं नरकादिषु जन्ममरणप्रबन्धः, तस्माद् बिभ्यद्भिः आचारमवेक्ष्य प्रथमाङ्गार्थ-मनुचिन्त्य परिरक्ष्यः परिपालनीय इति ॥ ११२ ॥

अर्थ—इस प्रकार गुण और दोषमें विपरीत दर्शन होनेसे यह आत्मा विषयोमें आसक्त हो रहा है। संसार-भ्रमणसे डरनेवाले भव्य जनोको आचारका अनुशीलन करके उसकी रक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ—यह आत्मा गुणोंको दोषरूपसे देखता है और दोषोंको गुणरूपसे देखता है। इस विपरीत दर्शनसे विषयोको सुखदायी समझकर यह उनमें लीन हो रहा है। जो भव्यजीव नरकादि गतियोंमें भ्रमण करनेसे डरते हैं, उन्हें आचाराङ्गके अर्थका अभ्यास करके अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिए।

१–गुण एव उ–फ० ब०।

'स चाचारार्थः पञ्चप्रकारः' इति दर्शयति समासेन—

उस आचारके पाँच भेद हैं। संक्षेपमें उन्हें बतलाते हैं :—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोवीर्यात्मको जिनैः प्रोक्तः।
पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्वाचारः समनुगम्यः॥ ११३॥

टीका—तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणः सम्यक्त्वाचारः। तदुपगृहीतो मत्यादिज्ञानपञ्चकाचारः। अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाच्चारित्राचारः। तयोर्द्वादशभेदमनशनादि तप आचारः। वीर्यमात्मशक्तिर्वीर्याचारः। एवमेव पञ्चप्रकार आचारः प्रथमाङ्गार्थः तीर्थकृद्भिरर्थतोऽभिहितः, तच्छिष्यैश्च सूत्रीकृतः, विधिवत् समनुगम्यः-विज्ञेयः। कः पुनर्विधिः? सूत्रग्रहणविधिस्तावदष्टमयोगादिः, अर्थग्रहणविधिरनुयोगप्रस्थापनादिः। साधूनामाचार साध्वाचारः-अहोरात्राभ्यन्तरेऽनुष्ठेयः क्रियाकलाप इति॥ ११३॥

अर्थ—जिन भगवान्ने सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यरूपसे सम्यक्त्वके पाँच भेद कहे हैं। साधुओंके इस आचारको विधिवत् जानना चाहिए।

भावार्थ—तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यक्त्वाचार है। सम्यक्त्वाचारसे युक्त पाँच ज्ञान ज्ञानाचार है। आठ प्रकारके कर्मोंको नष्ट करनेवाला चारित्राचार है। अनशन वगैरहके भेदसे बारह प्रकारका तप तपाचार है। आत्माकी शक्ति वीर्याचार है। इस प्रकार तीर्थङ्करदेवने आचाराङ्गमें पाँच आचारोंका अर्थरूपसे कथन किया है। उनके शिष्य गणधरदेवोंने उसे सूत्ररूपमें निबद्ध किया है। साधुओंके इस आचारको दिन-रातमें की जानेवाली क्रियाओंको विधिपूर्वक जानना चाहिए।

विभक्तस्याप्याचारस्य पञ्चधा नवब्रह्मचर्यात्मकेष्वाध्ययनार्थाधिकारद्वारेण पुनर्लेशोद्देशतोऽर्थमाचष्टे समासेन—

इस प्रकार आचाराङ्गके आधारपर आचारके सामान्यसे पाँच भेद कहे हैं। उस आचाराङ्गके प्रथम श्रुतस्कन्धमें नौ अध्ययन हैं। अतः अब उनके आधारपर आचारके नौ भेद संक्षेपसे कहते हैं :—

षड्जीवकाययतनालौकिकसन्तानगौरवत्यागः।
शीतोष्णादिपरीषहविजयः सम्यक्त्वमविकम्पम्॥ ११४॥

संसारादुद्वेगः क्षपणोपायश्च कर्मणां निपुणः।
वैयावृत्योद्योगः तपोविधिर्योषितां त्यागः॥ ११५॥

टीका—शास्त्रपरिज्ञायां षड् जीवनिकायाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाख्याः। तत्रादौ जीवास्तित्वप्रतिपादनं सामान्येन, ततः पृथिव्यादिकायस्वरूपन्यावर्णनम्। तद्वधात् संसारहेतु

१-णाच चा-फ., ब.। २-कस्याध्य-फ., ब.।

कर्मबन्धः। तद्वधविरतिश्च मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिपरिहाराद् इति। षट्सु जीवनिकायेषु यतना प्रयत्नस्तद्रक्षणे ज्ञानपूर्वको व्यापार इति। लोकविजये लौकिकसन्तानगौरवत्यागः-। लौकिकसन्तानो मातृपित्रन्वयः शेषाश्च स्वजनसम्बन्धिनः पत्नी पुत्रादयः, तेषु गौरवम् आदरः स्नेहासक्तिः, तत्त्यागः। तथा क्रोधमानमायालोभकषायविजयो विधेयो बलवता क्षमादिना बलेन। शीतोष्णीयाध्ययने शीतोष्णादिपरीषहविजयः-क्षुत्पिपासादिपरीषहद्वाविंशतेर्विजयः-अभिभवः। तत्र स्त्रीसत्कारपरीषहौ भावतः शीतौ विंशतिरुष्णाः शेषाः। सम्यक्त्वाध्ययने शङ्कादिशल्यशुद्धं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमविकम्प्यं दृढं निश्चितं वर्ण्यते॥ ११४॥

लोकसाराध्ययने-'लोकसार' इति अन्वर्थनाम आदिपदेनावर्तिरिति। तत्र संसारादुद्वेगः हिंसादिप्रवृत्तो न मुनिः, तद्विरतोमुनिरकिञ्चनः कामभोगेषूद्विग्नोऽनेकदोषदर्शनात्। धर्मज्ञानं संयमनिर्वाणाख्यं लोकसारमवेक्ष्यमाणः ससहायो मार्गमेवापरित्यजन् सारमेवासादयति लोकस्येति। धूताध्ययने स्वजनमित्रकलत्रपुत्रादिनिरपेक्षता, तद्विधूननं तत्परित्यागः, कर्मणाञ्च ज्ञानावरणादीनां विधूननोपायः, श्रुतज्ञानानुसारिक्रियानुष्ठानं शरीरोपकरणत्यागश्चेति। महापरिज्ञायां मूलोत्तरगुणान् परिज्ञाय यथावदवेत्य मन्त्रतन्त्राकाशगतिलब्धिर्पुंजीवनम्। प्रत्याख्यान परिज्ञायाश्च प्रत्याख्येयाकर्तव्यानि व्यावृत्तेन सदा ज्ञानदर्शनचरणेषूद्युक्तेन भवितव्यमिति तदाह-वैयावृत्योद्योगः। विमोक्षयतनाध्यायने श्रावकाणां देशविमोक्षः साधूनाँ सर्वविमोक्ष. क्षीणकर्मणां मुक्तानामात्मनोऽपि स्वजनितैरेव कर्मभि[12] बंद्धस्य सकलकर्मांश-वियोगो मोक्षः सप्रपञ्चो भक्त-प्रत्याख्यानेङ्गिनीपादपोपगमनमरणैः सह वर्ण्यते। तपोविधिः प्राधान्यद् गृहीतः। उपधानश्रुते

भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिना स्वानुष्ठिततपोव्यावर्णनं योषित्यागो ब्रह्मचर्यादिलक्षणं कृतम्। एवमाचारो नवाध्यायनात्मकोऽर्थतो विभक्तः॥ ११५॥

अर्थ—छह जीवकायोंकी रक्षा करना, कुटुम्बी जनोंमें ममत्वका त्याग, शीत उष्ण वगैरह परीषहोको जीतना, निश्चल सम्यक्त्व, ससारसे घबराहट, कर्मोंके क्षय करनेका कुशल उपाय, वैयावृत्यमें तत्परता, तपकी विधि और स्त्रियोंका त्याग-ये आचारके नौ भेद हैं।

भावार्थ—शास्त्रपरिज्ञा नामके पहले अध्ययनमें प्रारम्भमें सामान्यसे जीवके अस्तित्वका कथन किया है। उसके बादमें पृथिवीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकायका वर्णन किया है। उनका घात करनेसे ससारका कारण-कर्मबन्ध होता है। अतः मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे उनके वधका त्याग करके उनकी रक्षाका प्रयत्न करना चाहिए। लोकविजय नामके दूसरे अध्ययनमें मातृवंश, पितृवंश और पत्नी-पुत्र वगैरहमें आसक्तिके त्यागका कथन है। तथा

१-षड्जीवकाये-प.। २-षहाणां द्वा-मु०। ३-यें ना-मु०। ४-ग्नो नैक-फ०, ब०। ५-ज्ञानव-प०। ६-योऽमार्गे-मु०। ७-मेवं परित्यज्य मु०,-मेवोपरित्यज्य फ०, ब०। ८-सारमासा-फ०, ब०। ९-ना च धून-फ०, ब०। १०-लब्धेर-फ० ब०। ११-ख्याय परिहर्तव्या-मु०,-ख्याय कर्त-ब०। १२-भिर्यद्धस्य, फ०, ब०।

क्षमा वगैरहके द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभ कषायको जीतनेका विधान है। शीतोष्ण नामके तीसरे अध्ययनमें भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी वगैरह बाईस परीषहोंके जीतनेका कथन है। सम्यक्त्व नामके चौथे अध्ययनमें शका आदि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धानरूप निश्चल सम्यग्दर्शनका वर्णन है। लोकसार नामक पाँचवें अध्ययनमें संसारसे उद्वेगका कथन है। क्योंकि जो हिंसा वगैरहमें लगा हुआ है, वह मुनि नहीं है। किन्तु जो हिंसा वगैरहमें अनेक दोष देखकर उनसे विरक्त हो जाता है तथा काम भोगसे विरक्त और अपरिग्रही होता है, वह मुनि है। लोकसारको देखनेवाला मुनि कुमार्ग छोड़कर लोकके सारको ग्रहण करता है। धूत नामके छठे अध्ययनमें कुटुम्बी, मित्र, स्त्री, पुत्र वगैरहसे निरपेक्ष रहनेका, उनके परित्यागका, ज्ञानावरणादिक कर्मोंके क्षय करनेके उपायका, श्रुतज्ञानके अनुसार आचरण करनेका और शरीर तथा उपकरणोंके त्यागनेका वर्णन है। महापरिज्ञा नामके सातवें अध्ययनमें मूल और उत्तरगुणोंको भलीभाँति जानकर मन्त्र तन्त्र तथा आकाशगामी ऋद्धिके प्रयोग न करनेका विधान है। और प्रत्याख्यानपरिज्ञामें त्यागने योग्य वस्तुओंका त्याग करके विरक्त होकर ज्ञान[1], दर्शन और चरित्रमें सदा तत्पर रहनेका विधान है। इसे ही वैयावृत्यमें तत्पर कहा जाता है। विमोक्षयतना नामके आठवें अध्ययनमें श्रावकोंके एकदेश मोक्षका और साधुओंके सर्वदेश मोक्षका वर्णन है। अर्थात् श्रावकोंके एकदेशसे कर्मोंका क्षय होता है। अतः उनका एकदेशसे मोक्ष कहा जाता है और मुनियोंके समस्त कर्म छूट जाते हैं। अत. उनका सर्वदेशसे मोक्ष कहा जाता है। कर्मोंसे मुक्त होने ही का नाम मोक्ष है। भक्तप्रत्याख्यान, इगिनी और पादपोपगमन मरणके साथ मोक्षका विस्तारसे वर्णन किया गया हैं। प्रधान होनेसे तपोनिधिका ग्रहण किया है। उपधानश्रुत नामक नौवें अध्ययनमें भगवान् वर्धमानस्वामीके तपका वर्णन है और स्त्रियोंके त्यागरूप ब्रह्मचर्यका विधान है। इस प्रकार नौ अध्ययनोंके आधारपर आचारके नौ भेद किये गये हैं।

सम्प्रति आचाराग्रेषु[2] अध्ययननवकाद्याकृष्टेषु विस्तरचितेष्वधिकारा[3] वर्ण्यन्ते—

अत्र अचाराङ्गके नौ अध्ययनोंसे लेकर विस्तारपूर्वक रचे गये द्वितीय श्रुतस्कन्धकी प्रथम चूलिकाके अधिकारोंका वर्णन हैं:—

विधिना भैक्ष्य[4]ग्रहणं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्या।
ईर्याभाषाम्बरभाजनैषणाग्रहाः शुद्धाः॥ ११६॥

टीका—पिण्डैषणाध्ययने उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जितो भिक्षा[5]समूहो ग्राह्यः। शय्या प्रतिश्रयः, तत्र स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्थाने स्थातव्यम् 'मूलोत्तरगुणशुद्धा शय्या ग्राह्या'। ईर्याध्ययने भिक्षाचंक्रमणादिक्रियाप्रवृत्तः शनै[6] शनैः पुरस्ताद् युगमात्रनिरुद्धदृष्टिः स्थावराणि जङ्गमानि च सत्वानि परिक्षन् व्रजतीति। भाषाजाताध्ययने वाक्यमात्मपराविरोध्यालोच्य

१—सम्यग्ज्ञानी मुनियोंकी सेवामें तत्पर रहना भी ज्ञान और चारित्रमें ही तत्पर रहना है, क्योंकि वे ज्ञानादिकके साधन हैं। २—राग्रेषु मु०। ३—भण्यते—प०। ४—भिक्षण भ—प०। ५—क्षाग्रा—प०। ६—शन्नैः पु—फ० ब०।

वाच्यमिति । वस्त्रैषणाध्ययने मूलोत्तरगुणशुद्धं लक्षणयुक्तं वासः समादेयमल्पपरिकर्मादि । पात्रैषणायामपि चोद्गमादिविशुद्धपात्रग्रहणमलाब्वादि यथोक्तमादेयम् । अवग्रहप्रतिमाध्ययनेऽवग्रहो देवेन्द्रराजगृहपतिशय्यातरसाधर्मिकाणां पञ्चधा । सर्वथा सर्वतः परिमितोऽवग्रहो याच्यो यत्र भाजनक्षालन प्रश्रवणपुरीषोत्सर्गस्वाध्यायस्थानयुक्तोऽवग्रहो योग्यः । इति प्रथमचूला सप्ताध्ययनपरिमाणेयम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—विधिपूर्वक भिक्षाग्रहण, स्त्री, पशु, और पण्डक (नपुंसक)से रहित शय्या, ईर्याशुद्धि, भाषाशुद्धि, वस्त्र भूषण शुद्धि, और अवग्रहशुद्धि, ये प्रथम चूलिकाके सात अध्ययनोंके नाम हैं ।

भावार्थ—पिण्डैषणा नामके अध्ययनमें उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे रहित भिक्षा ग्रहण करनेका विधान है । दूसरे शय्यैषणा नामक अध्ययनमें स्त्री, पशु और पण्डक (नपुंसक)से रहित स्थानमें ठहरनेका विधान है । ईर्याध्ययनमें कहा है कि जब साधु भिक्षा लेने वगैरहके लिए गमन करता है तो आगे एक युगमात्र (चार हाथ) पृथिवीको देखकर, त्रस और स्थावर जीवोंकी रक्षा करता हुआ धीरे-धीरे गमन करता है । भाषा अध्ययनमें अपने और दूसरोंके अविरुद्ध सोचकर बोलनेका विधान है । वस्त्रैषणा नामके अध्ययनमें मूलगुण और उत्तरगुणोंकी शुद्धताके अनुरूप ऐसे वस्त्र लेनेका विधान है, जिसमें कम आरम्भ हो । पात्रैषणा नामके अध्ययनमें भी उद्गमादि दोषोंसे रहित पात्र लेनेका कथन है । अवग्रह मिल्कियतको कहते हैं । उसके पाँच भेद हैं, लोकके मध्यमें सुमेरु पर्वतके नीचे स्थित आठ मध्य प्रदेशोंसे लेकर आधा दक्षिण भाग देवेन्द्रकी मिल्कियत है । भरत वगैरह क्षेत्र चक्रवर्ती राजाकी मिल्कियत है । गाँव, कस (खेत), उद्यान, पहाड़, गुफा वगैरह उस स्थानके मालिक जागीरदारकी मिल्कियत है । जिस गृहस्थके घरमें ठहरना हो उस गृहस्थके घर वगैरह उस गृहस्थकी मिल्कियत है । और जिस स्थानमें समानधर्मी अन्य साधु वगैरह ठहरे हो, वह स्थान उन साधुओंकी मिल्कियत है । इन मालिकोंसे ठहरनेके लिए परिचित स्थानकी याचना करना चाहिए । वह स्थान इतना हो कि उसमें बर्तन धोने, मल-मूत्र त्यागने और स्वाध्याय वगैरह करने की सुविधायें हों ।

सम्प्रति द्वितीयचूलासप्ताध्ययनानि सप्तकाभिधानानि, तत्राधिकाराः—

अब सप्त सप्तकी द्वितीय चूलिकाके अधिकारोंको कहते हैं—

स्थाननिषद्याव्युत्सर्गशब्दरूपक्रियाः परान्योन्याः ।
पञ्चमहाव्रतदार्ढ्यं विमुक्तता सर्वसङ्गेभ्यः ११७ ॥

टीका—प्रथमाध्ययने स्थानं कायोत्सर्गाख्यं वर्ण्यते । द्वितीयाध्ययने निषद्यास्थानं निविशनाख्यमाख्यायते । तृतीयाध्ययने उच्चारप्रस्रवणत्यागयोग्यप्रदेशप्ररूपणं व्युत्सर्गस्थानमुक्तम् । चतुर्थाध्ययने शब्दाकारपरिणतद्रव्यग्रहणे सति रागद्वेषत्यागः । पञ्चमाध्ययने

१–लाबकुदि प० । २–धा सर्वतः प० । ३–श्रवण–फ०, ब०–स्रवण. मु० । ४–देविंद राय उग्गह, गिहवइ सागरिय, साहम्मी ॥ ३१६ ॥ आचा., २ श्रुत०, १ चू० । ५–त्रार्थाभि–प० । ६–निवेश–प० ।

नानाविधरूपदर्शनेन रागद्वेषपरित्यागः कार्यः। सर्वत्र क्रियाशब्देनाभिसम्बन्धः–'स्थानक्रिया निषद्याक्रिया' इत्यादि। षष्ठे परक्रियानिषेधः–प्रयत्नवतस्तपसि प्रवृत्तस्य निष्प्रतिकर्मशरीरस्य परो यदुपकरोति सत्करोति तदयुक्तम्। सप्तमाध्ययनेऽन्योन्यक्रिया परस्परक्रिया साऽपि निष्प्रतिकर्मवपुषो न युज्यत इति। तृतीयचूला भावना। तत्राप्रशस्तभावनां विहाय प्रशस्तभावनादर्शनज्ञानचरणतपोवैराग्यादिका भाव्या एकैकमहाव्रतभावनाश्च पञ्च पञ्चमहाव्रतदार्ढ्यार्थमिति। 'विमुक्तता सर्वसङ्गेभ्यः' इति चतुर्थचूलिकायां विमुक्ताध्ययने कर्मणो विमुक्तिरशेषतो देशतो वापि चिन्त्यते–यावन्तः केचित् सङ्गास्तेभ्यो विमुक्तिरिति। निशीथाध्ययनं पञ्चमी चूला, चतसृषु चूलासु योऽतिचारस्तद्विशुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तदानं तत्रेति॥ ११७॥

अर्थ—स्थानक्रिया, निषद्याक्रिया, व्युत्सर्गक्रिया, शब्दक्रिया, रूपक्रिया, परक्रिया, पाँच महाव्रतोंमें दृढ़ता और समस्त परिग्रहका त्याग—ये नौ अध्ययनोंके नाम हैं।

भावार्थ—पहले अध्ययनमें कायोत्सर्गके योग्य स्थानका वर्णन है। दूसरे अध्ययनमें स्वाध्याय करनेके योग्य स्थानका वर्णन है। तीसरे अध्ययनमें मल-मूत्रके त्यागने योग्य स्थानका वर्णन है। चौथे अध्ययनमें सुनाई पड़नेवाले शब्दोंमें राग और द्वेषके त्यागनेका वर्णन है। पाँचवें अध्ययनमें दिखलाई पड़नेवाले अनेक प्रकारके रूपोंमें राग और द्वेषके त्यागनेका वर्णन है। छट्ठे अध्ययनमें परक्रियाका निषेध किया है। अर्थात् तपस्यामें लगे हुए साधुको गृहस्थ वगैरहके द्वारा की गई सेवा-शुश्रूषाकी इच्छा करना युक्त नहीं है। सातवें अध्ययनमें साधुओंके लिए परस्परमें एक दूसरेकी परिचर्या करनेको अयुक्त कहा है। द्वितीय चूलिकामें ये सात अध्ययन हैं। तीसरी चूलिकाका नाम भावना है। साधुको अशुभ भावनाओंको छोड़कर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप वगैरहकी शुभ भावनाएँ भानी चाहिए। एक एक महाव्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ होती हैं। उनके भानेसे पाँच महाव्रत दृढ़ होते हैं। चौथी चूलिका विमुक्ताध्ययनमें एकदेश अथवा सर्वदेशसे कर्मोंसे मुक्त होनेका विचार किया गया है। अर्थात् जो कुछ परिग्रह है, उससे मुक्त होनेका उसमें वर्णन है। पाँचवीं चूलिकाका नाम निशीथाध्ययन है। उसमें चार चूलिकाओंमें जो अतीचार लग जाते हैं उनकी विशुद्धिके लिए प्रायश्चित्त देनेका वर्णन है।

साध्वाचारः खल्वयमष्टादशपदसहस्रपरिपठितः।
सम्यगनुपाल्यमानो रागादीन् मूलतो हन्ति॥ ११८॥

टीका—एवमेषः साधूनामाचारः–खलुशब्दोऽवधारणे–नवब्रह्मचर्यात्मकः सुप्तिङन्तपदगणनयाऽष्टादशपदसहस्रात्मकः परिपठितः। यत्र चार्थोपलब्धिस्तत्पदमिति। सम्यग्यथोक्तेन विधिना ग्रहणधारणानुष्ठानव्याख्याभिरनुपाल्यमानः–अभ्यस्यमानो रागद्वेषमोहान् समूलकाषं कषतीति। अयश्चापरो गुणः प्राप्यते॥ ११८॥

१–याभिष, फ०। २–स्थानि–फ०, ब०,। ३–वैयावृत्त्यादि–प०। ४–व्या, प०। ५–यने प–फ०, ब०,। ६–केवली पर्यन्त साधु-समुदाय एकदेशसे कर्ममुक्त कहलाते हैं। सिद्धपरमेष्ठी सर्व कर्ममुक्त हैं। ७–ना समा–फ० ब०। ८–न्दो वाक्यालङ्कारार्थो नव–प०। ९–चर्याध्ययनात्म–प०।

अर्थ—इस प्रकार अठारह हजार पदोंके द्वारा कहे गये साधुओंके आचारके विधिपूर्वक पालन करनेसे रागादिकका मूलसे नाश हो जाता है।

भावार्थ—जो साधु शीलके अठारह हजार भेदोंका विधिवत् पालन करता है और इनमें तनिक भी दोष नहीं लगने देता, उसका राग जड़से नष्ट हो जाता है।

आचाराध्ययनोक्तार्थभावनाचरणगुप्तहृदयस्य।
न तदस्ति कालविवरं यत्र क्वचनाभिभवनं स्यात्॥ ११९॥

टीका—आचाराध्ययनम्-आचारागमः, तत्रोक्तो योऽर्थस्तत्र भावना वासनाभ्यासः षड्जीवनिकाययतनादिका तदाचरणेन[1] च गुप्तहृदयस्य मूलोत्तरगुणैर्गुप्तमनस्कस्य[2] तदनुष्ठानव्यग्रस्य 'किं भवति' इत्याह—न तदस्ति[3] कालविवरं कालछिद्रं[4] क्वचन क्वचित्। यत्र छिद्रेऽभिभूयते[5] कषायप्रमादविकथादिभिरनाचारिभिरिति॥ ११९॥

अर्थ—आचारांगके अध्ययनोंमें जो आचार कहा गया है, उसके भावनापूर्वक आचरणसे जिसका हृदय सुरक्षित है, कालका ऐसा एक भी क्षण नहीं है, जिसमें रागादिक उसे दबा सकें।

भावार्थ—जो आचारांगमें कहे गये आचारोंका हृदयसे पालन करता है, वह कभी भी रागादिकके वशीभूत नहीं होता।

'तथा[6] आचारार्थव्यग्रस्य न काँचिद्विमतिर्मुक्तिपरिपन्थिनी साधोर्भवति'[7] इत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि जिसका मन आचारमें रम जाता है, उस साधुको कभी भी मुक्तिकी बाधक कुबुद्धि उत्पन्न नहीं होती:—

पैशाचिकमाख्यानं श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वाः।
संयमयोगैरात्मा निरन्तरं व्यापृतः कार्यः॥ १२०॥

टीका—केनचिद् वणिजा मन्त्रबलेन पिशाचको वशीकृतः। पिशाचकेनोक्तम्-'ममाज्ञादानमनवरतं कार्यम्। यदैवादेशं न लभे तदैवाहं भवन्तं विनाशयामि' इति। प्रतिपन्नश्च वणिजा, आज्ञा च दत्ता। ग्रहकरणधनधान्यानयनकनकरजतादिविभूतिरिष्टा यथेच्छं वणिजः सम्पादिता पिशाचकेन। पुनश्चाज्ञा मार्गिता। वणिजाऽभिहितम्-'दीर्घतमं वंशमानीय गृहाङ्गणे निखाय आरोहणमवरोहणञ्च कुर्वीथास्तावद्यावदन्यस्याज्ञादानस्यावकाशो भवति' इति। न चास्ति छिद्रं किञ्चिद् वणिजो यत्राभिभवः स्यादिति। साधोरप्यहोरात्राभ्यन्तरानुष्ठेयासु क्रियासु वर्तमानस्य नास्ति छिद्रं विस्रोतसागमनमिति।

अपरा कुलवधू रूपलावण्यवती केनचिद् विटेन[8] दृष्टा, प्रार्थिता परिभोगम्, प्रतिपन्नश्च तया।

१–न गु-प०। २–स्कतद-फ० ब०। ३–स्ति कालछिद्रं-प०। ४–द्र यत्र-फ० ब०। ५–भूयते-फ० ब०। ६–था चार्थ-फ०, ब०। ७–कदाचि-फ०, ब०। ८–चैन फ०, ब०। ९–हितो प०।

श्वश्वा श्वस्रा चविज्ञाय तदभिप्रायं सर्वत्र गृहव्यापारे नियुक्ता । प्रातरेव गृहप्रमार्जनगोमुख-करणभाण्डप्रक्षालनाधिश्रयणरन्धनपरिवेषणभाजनमार्जनोपलेपनखण्डनघट्टनपादप्रक्षालनाभ्य-ङ्गनानेककार्यव्यग्रा कृच्छ्रेण निद्रामासादयति । तस्या सुदूरादेव विटप्रार्थना कथा व्यपेता । साधोरप्याचार-व्यग्रस्य विसरत्येवान्या विषयादिकथेति । अत संयमयोगैरात्मा निरन्तरं व्यापृतः कार्यः-संयमः सप्तदशभेदः, तद्विषया योगव्यापाराः, तैरात्मा व्यापृतो व्यग्र कार्य इति ॥ १२० ॥

अर्थ—पिशाचकी कथा और कुल-वधूके रक्षणको सुनकर आत्माको सर्वथा सयमके पालन करनेमें लगाये रहना चाहिए ।

भावार्थ—किसी बनियेने मंत्र बलसे एक पिशाचको वशमें कर लिया । पिशाचने कहा—मुझे सदा कोई न कोई काम करनेकी आज्ञा देते रहना चाहिए । जभी मुझे आज्ञा नहीं मिलेगी, तभी मैं आपको मार डालूँगा । बनियेने यह बात मान ली, और उसे घर तैयार करने, उसमें धन-धान्य लाकर रखने तथा सोना-चाँदी वगैरहसे भरपूर करनेकी आज्ञा दी । पिशाचने उसका पालन किया और फिर आज्ञा माँगी । बनिये ने कहा—एक खूब लम्बा बाँस लाकर उसे घरके आँगनमें गाढ़ दो और जबतक मैं दूसरी आज्ञा न दूँ तबतक उसपर चढ़ो और उतरो । ऐसा करनेसे पिशाचको कोई ऐसा अवसर नहीं मिल सका, कि वह बनियेके प्राण ले सके । इसी प्रकार जो साधु दिन-रातके अन्दर आचरण करनेके योग्य क्रियाओंके पालनमें तत्पर रहता है, वह कभी भी प्रमाद वगैरहके वशीभूत नहीं होता ।

दूसरी कथा एक कुल वधूकी है । किसी दुराचारीकी दृष्टि एक लावण्यवती सुन्दरीपर पड़ी । उसने उससे सभोगकी प्रार्थना की । वधूने उसे स्वीकार कर लिया । उसकी सासको जब यह बात मालूम हुई तो उसने बहूको घरके काम-धाममें लगा दिया । बेचारी बहू सुबह उठते ही घरमें झाडू देती थी, उसके बाद गायोंको सानी करती थी, उसके बाद बर्तन मलती-धोती थी, फिर रसोई बनाती थी । जब घरके सब लोग भोजन कर लेते थे तो फिर बर्तन मलती थी । घर लीपती थी, धान्य वगैरह कूटती थी, हाथ-पैर धोती थी, सासको तेल लगाती थी । इत्यादि अनेक कामोंमें दिन-रात लगी रहती थी । रातको सोनेका समय भी कठिनतासे मिल पाता था । इस प्रकार घरके काममें फँस जानेके कारण वह उस दुराचारी मनुष्यकी बात ही भूल गई । इसी प्रकार जो साधु अपने आचारके पालनमें दिन-रात लगा रहता है, उसे विषय वगैरहकी कथा भूल ही जाती है । अत आत्माको सदैव संयमके व्यापारमें लगाये रखना चाहिए ।

'इत्थं विहितक्रियानुष्ठानव्यग्र ऐहिकेषु भोगकारणेषु भावयेदनित्यताम्' इत्याह—

इस प्रकार जो साधु शास्त्रविहित क्रियाओंके पालनमें तत्पर रहता है, उसे इस लोक सम्बन्धी भोगके कारणोंमें अनित्यताका विचार करना चाहिए, यह कहते हैं :—

१-संमार्ज-प० । २-छटन पा-मु० । ३-त्मा व्या-फ० ब० । ४-व्यावृतो-प० ।

**क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदयाः सर्वे।
सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः १२१ ॥**

टीका—क्षणेन विपरिणामधर्माः। विशब्दः कुत्सायाम्। कुत्सितः परिणामधर्मः[1] :-स्वतः प्रीतिकारिणः सन्तोऽप्रीतिकारिणः परिणतिविशेषा[2]ज्जायन्ते, स्वल्पेनैव कालेनान्यस्वभावा भवन्ति। मरणधर्माणो मर्त्याः, तेषामृद्धिसमुदयाः विभूतिसमुदया धनधान्यहिरण्यसुवर्णादयः सर्वे दक्षिणोत्तरमधुराद्वयनिवासिवणिग्द्वयविभूतिसमुदयवत्[6] अन्यथात्वञ्च प्रतिपन्नाः शोकहेतवो नियमेन स्युः। संयोगाः पुत्रपत्नीप्रभृतयो विप्रयोगान्ता एव भवन्ति। न खलु कश्चित्संयोगोऽस्त्यात्यन्तिकः। इति भावयतोऽभिलाषस्तेषु न भवतीति ॥ १२१ ॥

अर्थ—मनुष्योंकी सभी सम्पदा क्षणभरमें बदलनेवाली है। और सभी संयोग अन्तमें वियोगवाले होनेके कारण शोकको पैदा करते है।

भावार्थ—मनुष्य स्वभावसे ही मृत्युका आहार है। उसकी धन-धान्य सम्पदा भी क्षणभरमें ही हवा हो जाती है। जो वस्तुएँ उसे आज प्यारी लगती हैं, वे ही कल बुरी लगने लगती हैं। पत्नी, पुत्र वगैरहका सम्बन्ध भी अन्तमें वियोगके लिए ही होता है। कोई सम्बन्ध सर्वदा नहीं रहता। अतः उससे रंज ही होता है। ऐसा विचार करते रहनेसे उनमें अभिलाषा नहीं होती है।

'तस्मान्न किञ्चिद् विषयसुखाभिलाषेण' इति दर्शयन्नाह—

अतः विषय-सुखकी अभिलाषा करना व्यर्थ है, यह बतलाते हैं :—

**भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम् ॥ १२२ ॥**

टीका—भुज्यन्त इति भोगाः शब्दादय, तज्जानितानि सुखानि भोगसुखानि। तानि चोक्तेन न्यायेनानित्यानि। 'किम्' इति क्षेपे। 'न किञ्चिदेभिः' इत्यभिप्रायः। भावयन् चौरदायादाग्निभूपतिभ्यो नित्यमेवाशङ्कते। भोगसुखकारणेषु ऋद्धिसमुदयेषु भयबहुलेषु प्रभूतभयेषु। 'कांक्षितैः' इति-अभिलाषितैः। 'परायत्तै' इति-शब्दादिविषयायत्तैः। मनोहारिषु शब्दादिषु सत्सु सुखमुपजायते भोगवतामिति। तस्मात्तेषु अभिलाषमहाय नित्यम्-आत्यन्तिकम्, अभयम्-अविद्यमानभीतिकम्, आत्मस्थम्-आत्मायत्तं न परायत्तं प्रशमसुखं मध्यस्थस्यारक्तद्विष्टस्योपशान्तकषायस्य यत्तदेवंविधम्। तत्रैव प्रयत्नः कार्य इति ॥ १२२ ॥

अर्थ—अनित्य, भयसे परिपूर्ण, और पराधीन भोगोके सुखोंकी वाँछासे क्या लाभ ? समतारूपी सुख नित्य है, भयसे रहित है और अपनी आत्माके अधीन है। अतः उसमें ही प्रयत्न करना चाहिए।

१-तपरि-प०। २-णामो धर्मः प०। ३-मैस्ततः-ब०।-मैः स्वभावप्री-प०। ४-षा जा-ब०। ५-यावन-फ०। ६-शनि-प०। ६-वत् दक्षिणेत्तरमथुराख्यानक अन्य- ०, ब०। ७-वृद्धि-फ० ब०। ८-भूतेषु-फ०,ब०।

भावार्थ—भोगोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनित्य होता है, रात-दिन चोरोंका, कुटुम्बियोंका, आगका और राजाका भय लगा रहता है। तथा शब्दादिक विषयोंके प्राप्त होनेपर सुख होता है, अन्यथा नहीं होता। अतः उसकी वांछा न करके राग और द्वेषके त्यागसे उत्पन्न होनेवाले समतारूपी सुखको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह सुख नित्य है। इसमें किसी प्रकारका भय नहीं है और न यह परके अधीन है।

'तच्च सुलभमेव' इति दर्शयति—

वह सुख सुलभ है, यह बतलाते हैं :—

यावत्स्वविषयलिप्सोरक्षसमूहस्य चेष्ट्यते तुष्टौ।
तावत्तस्यैव जये वरतरमशठं कृतो यत्नः॥ १२३॥

टीका—अक्षसमूहस्य-इन्द्रियग्रामस्य, स्वविषयलिप्सोः शब्दादिविषयाभिलाषिणः शब्दादीन् स्वविषयान् लब्धुमिच्छतः, तुष्टौ प्रिये कर्तव्ये, यावच्चेष्टयते प्रयासः क्रियते। तावत्तस्यैव जये-अक्षसमूहस्याभिभवे निग्रहे नियमने, वरतरं शोभनतरं, बहुगुणमशठं मायारहितमृजुना चितेन यत्नः कृतः। 'वरतरमशठम्' इति क्रियाविशेषणम्। यत्र तत् क्रियते तद् वरतरमशठञ्चेति। इतश्च प्रशमसुखं सुलभम्॥ १२३॥

अर्थ—अपने विषयोंकी इच्छुक इन्द्रियोंकी सतुष्टिके लिए जितना प्रयत्न किया जाता है, उनके जीतनेमें छल-कपट रहित उतना ही प्रयत्न करना श्रेष्ठ है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ सदा ही अपने विषयोको चाहती हैं। उन्हें सतुष्ट करनेके लिए मनुष्य जितना प्रयत्न करता है, उतना प्रयत्न यदि सरल चित्तसे इन्द्रियोंके दमन करनेमें किया जाये तो उससे प्रशम सुखकी प्राप्ति सहज ही में हो सकती है।

तथा—

यत्सर्वविषयकाङ्क्षोद्भवं सुखं प्राप्यते सरागेण।
तदनन्तकोटिगुणितं मुधैव लभते विगतरागः॥ १२४॥

टीका—यत्सुखं सकलविषयसामग्र्यामाकाङ्क्षितायाम्, उद्भूतम्-उपजातम्, सरागेण रागवता भूयासायासेन प्राप्यते। तदेव सुखमनन्ताभिः कोटिभिर्गुणितम् अभ्यस्तं मुधैव विना मूल्येन विना चायासेन विगतरागः प्रशमसुखमवाप्नोतीति॥ १२४॥

अर्थ—रागी मनुष्य सब विषयोंकी प्राप्तिसे उत्पन्न हुए जिस सुखको प्राप्त करता है, वीतरागी मनुष्य उससे अनन्त कोटिगुने सुखको सहज ही में प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—रागी मनुष्यको सांसारिक सुख पानेके लिए दुनियाभरके विषयोंकी इच्छा रहती है। उनकी प्राप्तिके लिए दिन-रात परिश्रम करता है, तब कहीं थोड़ासा सुख मिलता है, किन्तु वीतरागी

मनुष्य समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होनेके कारण उससे अनन्तगुणे सुखको बिना परिश्रम किये ही प्राप्त कर लेता है। क्योंकि आत्मिक-सुखके लिए किसी पर-पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती है।

और भी :—

इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोगकाङ्क्षासमुद्भवं दुःखम् ।
प्राप्नोति तत्सरागो न संस्पृशति तद्विगतरागः ॥ १२५ ॥

टीका—इष्टस्य शब्दादेः पुत्रादेर्वा हिरण्यसुवर्णादेर्वा वियोगे, अनिष्टस्य चाप्रियस्य वा संयोगे इष्टे तावदविप्रयोगाकाङ्क्षा अनिष्टे च विप्रयोगाकाङ्क्षा, तस्याः काङ्क्षायाः समुद्भूतम्–उत्पन्नं यद्दुःखं सरागो विषयसुखाभिलाषी यत् प्राप्नोति तद्दुःखं विगतरागो न संस्पृशति–नासादयति। 'विगतरागेण मध्यस्थेन तन्न प्राप्यते' इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

अर्थ—इष्टका वियोग, अनिष्टका संयोग, इष्टके वियोग न होनेकी इच्छा, और अनिष्टके सयोग न होनेकी इच्छासे होनेवाला जो दुःख सरागीको उठाना पड़ता है, वीतरागीको वह दुःख छूता भी नहीं है।

भावार्थ—इष्ट पुत्र वगैरहका वियोग हो जानेपर तथा अनिष्ट-अप्रिय वस्तुका संयोग हो जानेपर सरागीको बड़ा दुःख होता है, तथा रात-दिन वह यही चाहता रहता है, किसी इष्ट वस्तुका उसके वियोग न हो और अनिष्टका संयोग न हो। किन्तु वीतरागी इष्ट और अनिष्टमें समबुद्धि होता है। अतः उसे इष्ट–वियोग और अनिष्ट–सयोगसे होनेवाला दुःख कभी नहीं होता।

प्रशमितवेदकषायस्य हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य ।
भयकुत्सानिरभिभवस्य यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ॥ १२६ ॥

टीका—प्रशमिता प्रशमं नीता वेदकषाया येन। वेदाः स्त्री पुन्नपुंसकाख्याः। कषायाः क्रोधादयः। वेदोदयात्पुमानभिलषति स्त्रियम्, स्त्री च पुमांसम्, तदुभयं नपुंसकः। तदुभयाच्च [तदुभयस्य चाप्रा-] अप्राप्तौ दुःखम्। प्रशमितवेदस्य तन्न भवति। क्रोधाद्यग्न्यादीपितोऽपि दुःखभागेव जायते। शमितकषायस्यतु तदभावः। हास्यं हर्षाद्भवति। रतिः प्रीतिर्विषयेषु सक्तिः। अरतिरुद्वेगः। शोको मानसं दुःखमिष्टवियोगादौ। एतेषु हास्यादिषु मोहभेदेषु निभृतः स्वस्थः। सत्यपि हास्यकारणे नास्ति हास्यं न रतिर्नारतिः। सत्स्वपि तत्कारणेषु अनित्यता भावना, ततश्च शोकोऽपि नास्त्येव। भयमिहलोकादि सप्तविधम्। कुत्सा जुगुप्सा निन्दा। साप्य नित्यताभावनात एवनिर्जिता। भयमपि सावष्टम्भमेव भवकारणापगमाद्वा विजयते। एवं भय-कुत्साभ्यामनभिभूतस्य यत्सुखं प्रशान्तचेतसः तत्कुतोऽन्येषां रागिणामिति ॥ १२६ ॥

१–निवृत्तस्य–फ०। २–पुनर्नाभि–फ०, ब०। ३–तदुदयाच्चा–प०। ४–कादानादि–प०, ब०। ५–'भय' इत्यपि सुष्ठु प्रतिभाति। ६–भ्यामुद्भूतस्य–फ०, ब०।–भ्यामुद्भूतस्य निरभिभवस्य मु०।

अर्थ—जिसने वेद और कषायोंको शान्त कर दिया है, हास्य, रति, अरति और शोकमें जो स्वस्थ रहता है, तथा भय और निन्दासे जो पराभूत नहीं होता, उसे जो सुख होता है, वह सुख दूसरों को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

भावार्थ—वेदके उदयसे पुरुष स्त्रीकी अभिलाषा करता है, स्त्री पुरुषकी अभिलाषा करती है और नपुंसक दोनोंकी अभिलाषा करता है। उनके न मिलनेपर दुःखी होता है। किन्तु जिसका वेद शान्त हो जाता है, उसे वह दुःख नहीं होता। इसी प्रकार क्रोधरूपी आगमें जलता हुआ प्राणी भी दुःखी ही होता है। किन्तु जिसकी कषाय शान्त हो जाती है, उसे वह दुःख नहीं होता। इसी तरह हास्य वगैरहको भी दुःखका कारण जानना चाहिए। हँसीके कारण उपस्थित होनेपर भी जो हास्य नहीं करता, प्रीतिके कारण उपस्थित होनेपर भी किसीसे प्रीति नहीं करता, उद्वेगके कारण उपस्थित होनेपर भी उद्विग्न नहीं होता और शोकके कारण उपस्थित होनेपर भी शोक नहीं करता। जिसे न किसी प्रकारका भय सताता है और न जो निन्दाके वशमें होता है, उस समदर्शी मनुष्यको जो सुख होता है, वह सुख रागी जनोंको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

पुनः प्रशमसुखस्यैवोत्कर्षं विषयसुखान्निदर्शयन्नाह:—

फिर भी विषय-सुखसे प्रशमजन्य सुखको उत्कृष्ट बतलाते हैं :—

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी ध्यानतपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः।
तं लभते न गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥ १२७ ॥

टीका—शङ्कादिदोषरहितः सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, यथासंभवं च मत्यादिज्ञानेन युक्तः, शुभध्यानबलेन च युक्तोऽपि केवलमनुपशान्तः–अशमितवेदकषायोऽनुपशान्तः–तद्गुणं न लभते न चाप्नोति प्रशमसुखमुपाश्रितो यं गुणं लभते ज्ञानचरित्रोपचयलक्षणं निरुत्सुकत्वगुणं च। न चानुपशान्तः तं गुणमवाप्नोतीति। तस्मात् प्रशमसुखायैव यतितव्यमिति ॥ १२७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और ध्यान तथा तपोबलसे युक्त साधु भी यदि अशान्त न हो तो उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता, जो गुण प्रशम गुणसे युक्त साधुको प्राप्त होता है।

भावार्थ—कोई साधु शंका आदि दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन, यथायोग्य मति वगैरह ज्ञान, और ध्यानसे युक्त हो और बड़ा भारी तपस्वी भी हो, किन्तु यदि उसके काम क्रोधादिक शान्त नहीं हुए हैं तो उसे उत्कृष्ट ज्ञान, उत्कृष्ट चारित्र वगैरह उन गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती, जो गुण काम क्रोधादिके जीतनेवाले साधुको सहज हीमें प्राप्त हो जाते हैं। अतः प्रशम सुखकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

भूयोऽपि प्रशमसुखोत्कर्षख्यापनायाह:—

फिर भी प्रशम सुखकी उत्कृष्टता बतलाते हैं :—

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य ।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥ १२८ ॥

टीका—राजराज—चक्रवर्ती वासुदेवादिर्वा । पूर्वः सकलभरतक्षेत्राधिपतिः, उत्तरोऽर्धभरताधिपतिः । मनुष्यजन्मसुखस्य प्रकर्षवर्तिनावेतौ । चक्रवर्त्यर्द्धचक्रवर्तिनोरपि नास्ति तादृशं सुखं यादृशं प्रशमस्थितस्येति । तद्धि चक्रवर्त्यादिसुखं शब्दादिसमृद्धिजनितम्, तस्य चानित्यत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । न चैकान्तेन सुखहेतुत्वं शब्दादीनां विपरिणतिधर्मत्वात् । देवेन्द्रस्य सुखं प्रकृष्टं स्यादिति, तदपि चोपरितनेन्द्रसुखप्रकर्षदर्शनात्तदाकाङ्क्षिणः च्युतिचिन्तनाच्च दुःखव्यतिकीर्णमेव । अथवा देवराजः सर्वदेवोत्तमत्वादनुत्तरविमानवासी तस्यापि, यत्सुखं तदपि स्थितिक्षयं मनुष्योऽपिदुदरगर्तनिमज्जनं च दुःखमनुचिन्तयतस्तस्यापि न तादृक् सुखमस्ति दुःखलेशाकलङ्कितं यदिहैव सुखं साधोर्मनुष्यजन्मनि प्रशमस्थितस्य विनिवृत्तसकलाकाङ्क्षस्यात्महितगवेषिणो विशिष्टज्ञानसमन्वितस्य लोकव्यापाररहितस्य । लोकव्यापारः कृष्यादिप्रवृत्तिकामभोगसाधनोपादित्सा । एवंविधेन व्यापारेण रहितस्य प्रशमसुख एव व्यवस्थापितचेतोवृत्तेर्यत्सुखं न तद् राजराजे न देवराजे इति ॥ १२८ ॥

अर्थ—सांसारिक झंझटोसे रहित साधुको इसी जन्ममें जो सुख मिलता है, वह सुख न तो चक्रवर्त्ती और अर्धचक्रीको ही सुलभ है और न देवराज इन्द्रको ही सुलभ है।

भावार्थ—चक्रवर्त्ती अथवा वसुदेव वगैरह अर्धचक्री राजाओंके राजा कहे जाते हैं। चक्रवर्त्ती समस्त भरतक्षेत्रका स्वामी होता है। ये दोनों ही पद मनुष्य पर्यायमें सबसे ऊँचे होते हैं। किन्तु इन्हें भी वह सुख नहीं होता जो विरक्त साधुको होता है। क्योंकि चक्रवर्त्ती वगैरहका सुख सांसारिक विषयों और वैभवसे उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य है। यह बात पहले बतला आये है कि विषय सर्वथा सुखके देनेवाले नहीं हैं, क्यो वे स्थायी नहीं होते हैं।

देव-पर्यायमें इन्द्रका पद सबसे उत्कृष्ट है; किन्तु इन्द्रको भी अपनेसे ऊपरके इन्द्रोको देखकर उसकी लालसा सताती रहती है और मरणकाल समीप आजानेपर वहाँसे च्युत होनेकी चिन्ता सताने लगती है। अत. उनका सुख उत्कृष्ट होनेपर भी दुःखसे मिला हुआ है। अथवा सर्व देवोमें उत्तम होनेके कारण अनुत्तरवासी देवोंको देवराज कह सकते हैं। देवायुके विनाश और मनुष्य योनिमें पुनः जन्म लेनेके दुःखके विचार करनेपर उनका सुख भी दुःखसे मिला हुआ ही प्रतीत हो जाता है। अतः वैराग्यमें मग्न समस्त इच्छाओंसे रहित आत्म-हितको खोजनेवाले विशिष्ट ज्ञानी और सांसारिक प्रवृत्तियोसे दूर रहनेवाले साधुको इसी जन्ममें जो सुख है, वह सुख न तो राजाओंके राजाको प्राप्त है और न देवोंके राजाको प्राप्त है।

१–चक्रवर्तिनोरपि–फ०, ब० । वासुदेवचक्रवर्तिनोरपि–मु० । २–शक–फ०, ब० ।

प्रशमसुखमेव पुनः स्पष्टयति—

प्रशम सुखका पुनः खुलासा करते हैं —

संत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः।
जितरोषलोभमदनः सुखमास्ते निर्ज्वरः साधुः॥ १२९ ॥

टीका—लोकः स्वजनः परिजनश्च, तद्विषया चिन्ता दारिद्र्यदौर्भाग्यादिलक्षणा, अकृतपुण्यानाञ्च परलोके दुर्गतिप्राप्तिलक्षणा, तां, परित्यज्य विहाय, आत्मनःपरिज्ञानम्–अनादौ संसारेऽयमात्मा शारीराणि मानसानि दुःखान्यनुभवन्न तृप्तःकामभोगसुखेषु कथमपि मनुष्यजन्मासादितवान् बोधिञ्च, तदधुना यथा संसारे बहुदुःसंकटे न भ्रमति तथा प्रयत्नः कार्यो मया ' इति आत्मपरिज्ञानचिन्तन एवाभिरतः परकार्यविमुखः। जिताः परिभूता रोषलोभमदनादयो येन। रोषग्रहणाद् द्वेषः, लोभग्रहणाद्रागः, मदनग्रहणात् पुरुषवेदादिः। एतज्जयाच्च सुखमास्ते–स्वस्थस्तिष्ठत्युपद्रवरहितः। ज्वरो रोगविशेषः, तेन ग्रस्तः परितापशिशिरलक्षणेन रतिमविन्दन दुःखमास्ते। स एवंविधो निर्गतोऽपेतो ज्वरो यस्मात् स निर्ज्वरः। ज्वर इव ज्वरो रोषलोभमदनाख्यः। मोक्षसाधनाभ्युद्यतः साधुरिति॥ १२९॥

अर्थ—स्वजन और परजनकी चिन्ताको छोड़कर आत्माके ज्ञानके चिन्तनमें लवलीन हुआ और राग द्वेष और कामको जीतनेवाला, अतएव नीरोग हुआ साधु आनन्दपूर्वक रहता है।

भावार्थ—अपने कुटुम्बियो और दूसरे लोगोंको लोक कहते हैं। उनकी दरिद्रता, अभागापना, पुण्य न करनेपर परलोकमें दुर्गतिकी प्राप्ति, इत्यादि बातोंका विचार करना लोक-चिन्ता है। साधु इस चिन्तासे दूर रहता है। तथा सर्वदा यह विचार करता रहता है कि—'इस ससारमें शारीरिक और मानसिक दुःखोंको भोगते हुए और काम भोगसे कभी तृप्त न होते हुए इस आत्माने किसी तरह यह मनुष्य-जन्म और ज्ञान प्राप्त किया है। अत अब मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे दुःखोंसे भरे हुए इस ससारमें पुन भ्रमण न करना पड़े। तथा राग द्वेष और कामको जीत लेनेके कारण वह साधु रोग-रहित हो जाता है, क्योंकि रागादिक ज्वरादिक रोगोंके समान ही दुःखदायी हैं। अतः ससारके लोगोंकी चिन्ता छोड़कर आत्माका चिन्तन करनेवाला वीतरागी साधु सुखपूर्वक निश्चिन्त रहता है।

'संत्यज्य लोकचिन्ताम्' इत्युक्तम्। तत्कथं परित्यक्तलोकचिन्तस्य भरणपोषणादिवृत्तिरात्मनः स्यात्? ' इत्याह—

ऊपर लोककी चिन्ता छोड़नेका निर्देश किया है। अत. लोककी चिन्ता छोड़कर साधु अपना भरण-पोषण कैसे करेगा? इसका समाधान करते हैं।

या चेह लोकवार्ता शरीरवार्ता तपस्विनां या च।
सद्धर्मचरणवार्तानिमित्तकं तद्द्वयमपीष्टम्॥ १३०॥

१–निर्ज्वरः प०, फ०।

टीका—वर्तनं वृत्तिः भरणपोषणादिका वृत्तिरेवंप्रकारा यस्यांविद्यते सा वार्ता कृषि-पशुपाल्यवाणिज्यादिः लोकस्य वार्ता, तस्यां चिन्तनमेतावदेव लोकवार्तायामुपस्थिते भिक्षाकाले स्थार्थमेवोपसाधितेऽशनादिषु हिण्डमानोऽकृताकारितानुमतमशनादि यल्लभ्यते लोकवार्ता। यतस्तच्छरीरवार्तायाः कारणं भवति, साधूनां शरीरवृत्ते शरीरस्थितेर्निमित्तं भवति तपस्विनाम्, तत्र पेयं लोकवार्ता या च तपस्विनां शरीरसंधारणवार्ता. एतद्वार्ताद्वयमपि सद्धर्मचरणवार्ता-निमित्तकमिष्टम्। सद्धर्मो दशलक्षणकः क्षमादिः। चरणं मूलोत्तरगुणकलापः। सद्धर्मचरणवृत्तिः सद्धर्मचरणवार्ता। सद्धर्मचरणवृत्तेरनन्तरं कारणं शरीरसंधारणम्, शरीरसंधारणवृत्तेश्च लोक-वार्ताकारणम्। पारम्पर्येण सद्धर्मचरणवार्ताया लोकवार्ता कारणमिति ॥ १३० ॥

अर्थ—जो लोक-वार्ता और शरीर-वार्ता साधुओंके समीचीन धर्म और चारित्रकी प्रवृत्तिमें कारण है, वे दोनो इष्ट हैं।

भावार्थ—'वार्ता' शब्दके दो अर्थ होते हैं—एक जीविका और दूसरा बात। खेती पशु-पालन व्यापार वगैरह लोक-वार्ता कहे जाते हैं। भिक्षाके योग्य कालमे शरीरकी स्थितिके लिए भोजन वगैरहके निमित्त भ्रमण करता हुआ साधु कृत, कारित, और अनुमोदनासे रहित भोजन वगैरह प्राप्त करता है, वह लोक-वार्ता है। यह लोक-वार्ता साधुओंके शरीरकी स्थितिका कारण होती है। और ये दोनों ही वार्ताएँ उत्तम क्षमादिरूप धर्म और मूलगुण तथा, उत्तरमूलगुणरूप चारित्रकी प्रवृत्तिमें कारण होती हैं; क्योंकि भोजनके विना शरीर नहीं रह सकना और शरीरकी स्थितिके विना धर्माचरण नहीं रह सकता। अतः धर्माचरणमें शरीर–स्थिति कारण है और शरीरकी स्थितिका कारण लोक-वार्ता है। अतः परम्परासे लोक-वार्ता भी धर्माचरणकी प्रवृत्तिमें कारण है। इसलिए ये दोनो ही इष्ट हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि शरीरकी चिन्ता उतनी ही पर्याप्त है जितनी धर्माचरणके लिए आवश्यक हो और भोजनकी वार्ता भी उतनी ही पर्याप्त है, जितनी शरीरको बनाये रखनेके लिए आवश्यक हो।

अपि च लोकवार्तान्वेषणे प्रयोजनमिदमपरम्—

लोक-वार्ताको रखनेमें एक दूसरा कारण भी बतलाते है :—

लोकः खल्वाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्।
तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धञ्च संत्याज्यम् ॥ १३१ ॥

टीका—लोकः जनपदः। खलु शब्दोऽवधारणे। लोक एवधाराः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्—ब्रह्म संयम सप्तदशभेद, तद्योगात् संयमिनस्तेषां सर्वेषामिति गच्छवासिनां गच्छ-निर्गतानाञ्च। तस्माद् लोके यद्विरुद्धं आनमृतकसूतकसमूहनिराकृतादिगृहेषु भिक्षादिग्रहणम-भोज्येषु च परिहार्यम्। तथा चान्यैरप्युक्तमुक्तम्—

१–रेवविधा एवं प्रकारा–फ०, ब०। २–मुचिते–फ०, ब०। ३–यल्लभते–प०। ४–रधार–फ०। रवाधार––फ.। ५–धर्म चा—प०।

'जे जहिं दुगुंछियो खलु पव्वावणवसहि भत्तपाणेसु ।
जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेज्जे तहा पयत्तेण ॥ १ ॥'

यच्च लोकैकदेशे[3]ऽविरुद्धं मधुमांसलसुनबीजानन्तकायादि धर्मसाधनविरुद्धमनेकं तदपि परिहार्यमिति ॥ १३१ ॥

अर्थ—यतः लोक सभी संयमियोंका आधार है । अतः लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध कार्योंको छोड़ देना चाहिए ।

भावार्थ—सभी सयमी लोकमें ही निवास करते है । अतः जो काम लोकविरुद्ध हैं, जैसे—जन्म मरणके सूतकवाले और जाति वहिष्कृत वगैरह घरोंमें भिक्षा लेना, न करना चाहिए । तथा जो कार्य धर्मविरुद्ध हैं, जैसे मदिरा, मांस, लहसुन, और अनन्तकाय वनस्पतिका भक्षण वगैरह, उन्हें भी न करना चाहिए ।

'इतश्च लोकवार्त्तान्वेषणे श्रेयोहेतुः' इति दर्शयति—

अव लोक-वार्ताको कल्याणकारी वतलाते हैं—

देहो नासाधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य ।
सद्धर्मानुपरोधात्तस्माल्लोकोऽभिगमनीयः ॥ १३२ ॥

टीका—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् । तस्य च देहस्याहारोपधिशय्याः साधनम्, साधनरहितस्य देहस्यासंभव एव । तानि चास्य साधनानि लोकाधीनानि लोकायत्तानि भवन्ति । अतः किम्? सद्धर्मानुपरोधात्—सद्धर्मस्य क्षमादेरविरोधात्, लोकोऽभिगमनीयः—'लोकवार्तान्वेषणमेवमर्थं करणीयम्' इति ॥ १३२ ॥

अर्थ—साधनके विना शरीर नहीं रह सकता । और उसके साधन लोकके आधीन हैं । अत सभीचीन धर्मके अविरुद्ध लोकका अनुसरण करना चाहिए ।

भावार्थ—धर्म-साधनका प्रधान शरीर है । और शरीरके साधन भोजन वगैरहके विना शरीरका टिकना असभव ही है । किन्तु वे सभी साधन लोकके आधीन हैं । अत लोक-वार्ता करनी चाहिए, किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि वह लोक-वार्ता धर्मके विरुद्ध न हो ।

'पर एवोपदेष्टा भवति गुणदोषयोः' इत्याह—

दोष और गुणकी शिक्षा लोकसे ही लेनी चाहिए, यह वतलाते हैं:—

दोषेणानुपकारी भवति परो येन येन विद्वेष्टि[4] ।
स्वयमपि तद्दोषपदं सदा प्रयत्नेन परिहार्यम् ॥ १३३ ॥

१–छिदाख—फ०, ब० । २–सजेयव्वा प-प । ३–शे विरु–फ०, ब० । ४–विद्विष्ट.–पं०, फ०, ब० ।

टीका—येन येनाभ्यस्यमानेन कर्मणा परो लोको विद्वेष्टि-क्रुध्यति, भवति चानुपकारी, प्रत्युतापकारे प्रवर्तते[1]। स्वयमपि-आत्मनापि तद्दोषपदं परिहार्यमप्रमत्तेन सता अन्यः कुर्वन् परस्य दृष्टः किञ्चिदप्रियकारणम्, तदवेक्ष्य[2] स्वयमपि तद्दोषस्थानं परिहार्यम् अनेनास्याप्रियं भवति' इति सकलप्रमादरहितेन परित्यजनीयमिति ॥ १३३ ॥

अर्थ—जिस जिस दोषसे दूसरे लोग अनुपकारी हो जाते हैं; द्वेष करने लगते हैं, उस दोष स्थानको स्वयं भी सदा प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—जिन कामोंके करनेसे दूसरे लोग क्रोधित हो जाते है और अपकारतक करनेपर उतारू हो जाते हैं, विना किसी प्रमादके उन कामोंको तुरन्त छोड़ देना चाहिए। अर्थात् साधुने यदि किसी आदमीको कोई ऐसा अप्रिय कार्य करते देखा, जिससे लोग उसके दुश्मन हो गये तो उस कार्य-को बुराईका घर जानकर साधुको उससे बचना चाहिए।

'यथैतत्परिहरणीयं तथैतदपि[3]' इत्याह—

तथा—

पिण्डैषणानिरुक्तः कल्प्याकल्प्यस्य[4] यो विधिः सूत्रे।
ग्रहणोपभोगनियतस्य तेन नैवामयभयं स्यात् ॥ १३४ ॥

टीका—पिण्डैषणाध्ययने निरुक्तः-निश्चयेनाभिहितः उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितो यो विधिः कल्पनीयाकल्पनीयः-ग्राह्यत्याज्यलक्षणः, सूत्रे-पारमर्षे आगमे। ग्रहणे नियत[5] परिमितो ग्राह्यो यथोज्झनीयदोषो न भवति, उपभोगे च नियतः द्वात्रिंशत कवलानां न्यूनानामेवाभ्यवहारः कार्यः। तथाप्यार्षे[6]ऽप्युक्तम्—

अद्धमसणस्स सव्वंजनस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वायपवियारणट्ठा छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥ १ ॥

इत्थञ्च ग्रहणोपभोगनियतस्य कल्पनीयस्य तेन विधिनाऽभ्यवह्रियमाणस्य न जातुचिद् आमयभयम्-अजीर्णजनितव्याधिभयं भवेत्। एवं च मान्द्यादि-दोषाधिकरणपरिहारः धर्म्यासु च क्रियासु प्रवृत्तेरपरिहाणिः। तस्मादकल्प्यपरिहारेणापरिमितानियत भोगत्यागेन च भुञ्जानस्य न किञ्चिद्दुष्यतीति ॥ १३४ ॥

अर्थ—परमागममें पिण्डैषणा नामके अध्ययनमें ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य रूप जो विधि बतलाई है, उसी विधिसे जो साधु परिमितका ग्रहण और परिमितका उपभोग करता है, उसे कभी रोगका भय नहीं रहता।

१-वर्तते-फ०, ब०। २-तदपेक्ष-फ०, ब-। तदपेक्ष्य-मु०। ३-चैदमपि-प०। ४-कल्याकल्पश्च-फ०, ब०। कल्पाकल्पस्य-प०। कल्प्याकल्प्यश्च मु०। ५-नियमः-फ०, ब०। ६-तथाचार्यां-प०।

भावार्थ—परमागमके एक अध्ययनमें भिक्षाकी विधि बतलाई है। इसी में वह अध्ययन—कालपिण्डैषणा अध्ययन है। उसमें बतलाया है कि साधुके ग्रहण करने योग्य क्या है? और छोड़ने योग्य क्या है? उसके अनुसार यदि साधु परिमित भोजनको ही ग्रहण करे, जिससे उसे जूठन छोड़नेका पाप न उठाना पड़े तथा परिमित अर्थात् बत्तीस ग्राससे कम ही भोजन करे, तो उसे अजीर्ण मन्दाग्नि वगैरह रोग नहीं हो सकते और धार्मिक क्रियाओंमें हानि होनेकी संभावना नहीं रहती। अतः अपरिमितका त्याग करके भोजन करनेवाले साधुको कोई दोष नहीं लगता।

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

उसीको स्पष्ट करते हैं :—

व्रणलेपाक्षोपाङ्गवदसङ्गयोगभरमात्रयात्रार्थम्।
पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारं पुत्रपलवच्च॥ १३५॥

टीका—'व्रणलेपवत्, अक्षोपाङ्गवच्च' इति दृष्टान्तद्वयम्। व्रणलेपस्तावानेव देयो यावता पूयादिनिर्हरणसंरोहणे भवतः। अतोऽतिमात्रयाऽकिञ्चित्करमेव लेपदानम्। अक्षस्य उपाङ्गः-अभ्यञ्जनम्, तच्च नवनीतादि तावन्मात्रमेव दीयते यावता शकटं भारमुद्वहति अनायासेन। न चास्तीति कृत्वा प्रकामं नवनीतादेरभ्यञ्जनस्य दानम्, निष्फलत्वात्। एवं साधुनाऽपि क्षुद्व्रण संरोहणायाहारलेपप्रदानमसङ्गयोगभरमात्रयात्रार्थं कार्यम। सङ्ग स्नेहः, योगाः मनोवाक्कायाः योगेषु शरीरादिषु लावण्यमृजाद्याशयपरिहारोऽसङ्गः। अतोऽसङ्गयोगः-योगेष्वसंगः' इत्यर्थः। योगानां भरः-क्रियानुष्ठानम्। यावता क्रियासमर्थं शरीरादि भवति तावन्मात्रमेवाभ्यवहरति, नातिरिक्तम्। यात्रा दशविधचक्रवालसमाचारिस्वाध्यायभिक्षाचंक्रमणादिका च यात्रा, तदर्थम्। यथाह—

'त पि ण रूवरसत्थं भुंजंताणं न चेव दप्पत्थं।
धम्मधुरावहणत्थ अरक्खोपगो व जत्तत्थं॥ १॥'

भोजनैषणामधिकृत्याह-'पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारम्।' सर्पोहि भक्ष्यमशित्वा न चर्वणमाचरति ग्रस्त एवं गिलत्येव तथा साधुरपि भुञ्जानो न चर्वणं करोति। तथा चार्षसूत्रम्-

'नो वामाउ हणुआउ दाहिणं हणुय संकमेणा दाहिणाउ वामं' इत्यादि।

पुत्रपलवच्च—पलं मांसम्, 'पुत्रमांसम्' इत्यर्थः। पुत्रशब्दोऽपत्यवचनः। चिलातपुत्र-व्यापादितदुहितृमांसास्वादनवदिति। अयमभिप्रायः-पितुर्भ्रातुर्वा भक्षयतस्तन्मासं न तत्रास्ति रसगार्द्ध्यम्, शरीररक्षणार्थमेव केवलं ताभ्यामास्वादितं न रसार्थं दर्पार्थं वा मासोपयोगः कृतः। तथा साधुनाऽपि रसेष्वगृद्धेन दर्पादिवर्जितन यथालब्ध-मेषणीयम्-भोक्तव्यमिति॥ १३५॥

१-कर ले-प०। २-अग्गिगल-प०। ३-संधारेइणो-प०। ४-पुत्रपल मांस-फ०, ब०। ५-खादन-प०।

अर्थ—शरीरादिकमें निःस्पृहता, संयमका निर्वाह और यात्राके लिए घावके लेपकी तरह, गाड़ीके पहियेके औंगनकी तरह, और पुत्रके मांसकी तरह साँपकी नाईं भोजन करना चाहिए।

भावार्थ—घावपर उतना ही लेप लगाना चाहिए, जितनेसे उसका मवाद दूर हो सके और घाव भर सके। उससे अधिक लेप लगाना बेकार है। पहियेको औंगते समय उतना ही तेल देना चाहिए, जितनेसे गाड़ी सरलताके साथ बोझा ढो सके। अधिक तेल देना बेकार है। इसी प्रकार साधु भी भूखरूपी घावको पूरनेके लिए आहाररूपी लेपको उतना ही लेता है, जितनेसे शरीरादिकमें लावण्य और सफाई वगैरहका भाव उत्पन्न न हो और शरीरादिक नित्य-क्रियाओंके करनेमें—स्वाध्याय, भिक्षाटन वगैरह तथा गमनागमन करनेमें समर्थ बना रहे।

तथा साँप जैसे अपने आहारको चट निगल जाता है—चबा-चबा कर नहीं खाता, वैसे ही साधु भी चबा चबा कर नहीं खाता। तथा—

जिस प्रकार चिलाती पुत्रके द्वारा मारी गई पुत्रीका माँस उसके पिता वगैरहने केवल अपने शरीरकी रक्षाके लिए ही खाया था, उस माँसके स्वादमें उनकी कोई आसक्ति नहीं थी, वैसे ही साधुको भी स्वादमें आसक्त न होकर रूखा-सूखा-जैसा मिल जाये, खा लेना चाहिए।

पुनरभ्यवहारमेव विशिनष्टि—

फिर भी भोजनके ही बारेमें कहते हैं :—

गुणवदमूर्छितमनसा तद्विपरीतमपि चाप्रदुष्टेन ।
दारूपमधृतिना[1] भवति कल्प्यमास्वाद्यमास्वाद्यम्[2] ॥ १३६ ॥

टीका—गुणवत्-इष्टरसगन्धम्। मूर्छितं प्रीत रागयुतं[3] चेतो यस्य स मूर्छितमनाः। न मूर्छितमना अमूर्छितमनाः, तेन अमूर्छितमनसा भक्ष्यमास्वाद्यं भोज्यमिति। तद्विपरीतमिति अमनोज्ञमनिष्टरसगन्धम्। तदपि अप्रदुष्टेन अद्विष्टेन द्वेषरहितेन इत्यर्थः। यात्रासाधनमात्रमालम्बनीकृत्य यत्किञ्चिदेषणीयमरक्तद्विष्टेन चित्तेनाभ्यवहरेत्। दारूपमा धृतिर्यस्याविकारिणी। काष्ठं हि वाष्यादिभिस्तक्ष्यमाणं न द्वेषं भजते, नापि चन्दनपुष्पादिभिः पूज्यमानं रागमुद्वहति। यथा तदचेतनं रागद्वेषरहितं तद्वत्साधुं नापि सत्यपि चेतनावत्वे इष्टानिष्टेऽन्नपानलाभे सति भोक्तव्यम् अरक्तद्विष्टेन कल्पनीयमास्वाद्यभक्षणीयम्। पुनः 'आस्वाद्यम्' इति 'भोक्तव्यम्' इत्यर्थः ॥ १३६ ॥

अर्थ—लकड़ीके समान धैर्यशाली साधु ग्रहण करनेके योग्य स्वादिष्ट भोजनको राग रहित मनसे और स्वाद रहित भोजनको भी द्वेष रहित मनसे यदि लेता है तो वह भोजनके योग्य भोजन होता है।

१–ति भ–फ०, ब०। २–माधाद–फ०, ब०। ३–युत च मनो यस्य–मु०। ४–नाद्विष्टेनेत्यर्थः–फ०, ब०। ५–धुरपि–फ०,–ब०।

भावार्थ—लकड़ीको यदि वसूलासे छीलो तो वह द्वेष नहीं करती, और यदि पुष्प चन्दन वगैरहसे उसकी पूजा करो तो वह राग नहीं करती। उसी प्रकार साधु सचेतन होनेपर भी इष्ट और अनिष्ट अन्न-पानमें राग-द्वेष नहीं करता। इस तरह राग और द्वेष रहित मनसे किया हुआ भोजन ही साधुका उपयुक्त भोजन होता है।

'तच्च भोजनं कालाद्यपेक्षमभ्यवह्रियमाणं नाजीर्णादिदोषकारि भवति' इति दर्शयति-

कालादिक की अपेक्षासे ग्रहण किया हुआ भोजन, अजीर्ण वगैरह रोगोंको उत्पन्न नहीं करता, यह बतलाते हैं '—

कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुलाघवं स्वबलम्।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ॥ १३७ ॥

टीका—भोक्त्रा कालोऽपेक्षणीय' ग्रीष्मवर्षाशिशिरभेदः। ग्रीष्मे बहुपानकं पातव्यमतः स्वल्पतरं भुङ्क्ते येन भक्तं पानं नाऽक्लेशेनैव जीर्यते। तथा वर्षासु साधारणं भक्तं पानं च यथोदरषड्भाग ऊनो भवति तथा भुङ्क्ते। शिशिरे बहुलमेव भुङ्क्ते स्वल्पतरमुदकमापिबति। तथा क्षेत्रं सापेक्ष्यम्, रूक्षं स्निग्धं शिशिरं च त्रिधा क्षेत्रम्। तत्र रूक्षे सुराष्ट्रादौ बहुभक्तभोजी भवति। स्निग्धे जलबहुलविषये मात्रभाम्यवहारं करोति यथा सुजरं भवति। तथा शिशिरक्षेत्रे शीतबहुले कश्मीरादौ अन्नपरिपाकः सुखो भवति यथा तथाऽभ्यहर्तव्यम्। मात्रा निजाग्निबलापेक्षा। प्रमाणयुक्तोऽप्याहारः कस्यचिन्न क्षमते, अतः तादृशी मात्रा कर्तव्या या सुजरा भवति। 'स्वात्म्य' इति स्वभावः। कस्यचिदत्यन्तस्निग्ध एवाहार' सुखं परिणमते, कस्यचिद्रूक्षः, कस्यचिन्मध्यः। विरुद्धद्रव्यसम्पर्कोऽपि कस्यचित् सुखावहः, कस्यचिदसुखकरः, स्वात्म्यस्यानेकप्रकारत्वात्। द्रव्यं माहिषं दधि क्षीरं वा गुरु, लघु तु गव्यं दधि पयो वा। एवमन्येषामपि द्रव्याणां गौरवं लाघवं च खण्डखाद्यदध्योदनादीनां विज्ञाय स्वबलं च वातप्रकोपादि व्याधिदूषितमदूषितं च ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यमन्नादि भुङ्क्ते 'किं भेषजैस्तस्य' इति–न किञ्चिदौषधैस्तस्य प्रयोजनम्। 'अनवकाशानि हि तत्र भेषजानि' इत्यर्थः ॥१३७॥

अर्थ—काल, क्षेत्र, मात्रा, स्वभाव, द्रव्यका भारीपना और हल्कापना तथा अपनी शक्तिको जानकर जो भोजन करता है, उसे ओषधिसे क्या प्रयोजन है?

भावार्थ—भोक्ताको गर्मी, सर्दी, और वर्षा-कालका ध्यान रखकर भोजन करना चाहिए। गर्मीमें पानी अधिक पीना चाहिए और भोजन कम होना चाहिए। जिससे भोजन सरलतासे हजम हो सके। वर्षा ऋतुमें साधारण खान-पान इतना करना चाहिए, जितनेसे पेटका छठा भाग खाली रह सके। सर्दीमें ठंड अधिक पड़ती है, अत' पानी कम पीना चाहिए। तथा भोक्ताको रूखे चिकने और ठंडे प्रदेशका ध्यान रखकर भोजन करना चाहिए। चिकने जलप्रधान प्रदेशमें परिमित भोजन करना चाहिए।

१–सात्म्य–फ०, ब०। २–बहु बहुतर चाल्पमेव–ब०। ३–त्रधा–ब०। ४–ऋक्षेत्रे सु–ब०। ५–बहुवि–ब०। ६–यो वा खण्ड–फ०, ब०।

सोरठ (काठियावाड़) वगैरह रूखे प्रदेशमें पेटका छठा भाग खाली रखकर भोजन करना चाहिए। शीतप्रधान काश्मीर वगैरहमें इतना भोजन करना चाहिए कि वह सुखपूर्वक हजम हो सके। तथा भोजनकी मात्राका भी ध्यान रखना जरूरी है, परिमित आहार भी किसी किसीको हजम नहीं होता। अतः आहारकी मात्रा इतनी होनी चाहिए, जिसका सरलतासे पाचन हो सके। तथा भोजन ग्रहण करते समय अपने स्वभावका भी ध्यान रखना चाहिए। किसीको अत्यन्त चिक्कण भोजन ही अनुकूल पड़ता है, और किसीको सूखा भोजन अनुकूल पड़ता है तथा किसीको न अधिक चिक्कण और न अधिक सूखा भोजन अनुकूल पड़ता है। विरुद्ध वस्तुओंका संयोग भी किसीको अनुकूल पड़ता है और किसीको प्रतिकूल पड़ता है। भैंस का घी-दूध भारी होता है और गौका घी-दूध हल्का होता है। अतः भोजनके समय भोजनके भारीपन और हल्केपनका भी ध्यान रखना चाहिए तथा अपनी शक्ति वगैरहका भी ध्यान रखना चाहिए कि मुझे वात वगैरहकी कोई व्याधि तो नहीं है। उक्त सब बातोका ध्यान रखकर जो भोजन करता है, उसे कभी ओपधि लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वह कभी बीमार नहीं पड़ता।

ननु[1] च पिण्डप्रतिश्रयवस्त्रपात्रादि परिगृह्णन् कथमकिञ्चनः[2] स्यात्साधुरपरिग्रहो भवेत् ? इत्याह—

शंका—भोजन, आश्रय, वस्त्र, पात्र वगैरह ग्रहण करनेवाले साधुको अपरिग्रही कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान करते हैं:—

पिण्डः शय्यावस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत् ।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥ १३८ ॥

टीका—' पिण्डः ' इति आहारश्चतुर्विधोऽशनीयादिः[3]। शय्या प्रतिश्रयः। वस्त्रं पात्रबन्धचोलपट्टकमुखवस्त्रिकादि। आदिग्रहणात् वस्त्रग्रहणे यो विधिरुक्तः[4] स सर्वः परिगृह्यते। पात्रग्रहणात्[5] प्रतिग्रहकमात्रकग्रहणम्। इहाप्यादिग्रहणात् पात्रैषणाविधौ यो विधिरुक्तः तस्यापि ग्रहणम्। ' यच्चान्यत् ' इति औपग्रहिकं दण्डकादि[6] संगृहीतं कल्पनीय तावदुत्सर्गतः सद्धर्मरक्षानिमित्तोक्तम्। देहः शरीरम्, सद्धर्मो दशलक्षणकः क्षमादिः। शरीररक्षणे सति सद्धर्मरक्षणं, तन्मूलत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य। शरीरकं हि संयमानुष्ठानार्थं पोष्यते क्षमादेधर्मस्याधारस्तदिति। कल्पनीयस्य चालाभे लघुतरदोषासेवनं प्राग्वदाधाकर्मग्रहणम्। एवं शय्यावस्त्रपात्रदण्डकादिष्वपि[7] योज्यम्। सर्वे च विषयाः सापवादा मैथुनवर्ज्यम्। एवं सद्धर्मरक्षार्थं[8] देहरक्षणार्थं च सर्वमुक्तम्। न चासौ परिग्रह तत्रामूर्च्छितत्वात्। ' मूर्च्छा परिग्रहः ' इति लक्षणादिति ॥१३८॥

अर्थ—आहार, शय्या, विधिपूर्वक वस्त्र और पात्र-एषणा तथा अन्य जो ग्रहण करने योग्य और ग्रहण न करने योग्यका विधान किया है, वह सब समीचीन धर्म और शरीरकी रक्षाके निमित्तसे कहा है।

१-नु वि-फ०, व०,। २-मपि कि-फ०, व०, । ३-शनादि-फ०, ब०। ४-क्तः समर्थः-प०, फ०, व०। ५-णात् पात्रं प्रतिग्रहक ग्रह-प०। ६-कद-प०,। ७-दि म-प०। ८-र्मस्य रक्षार्थं च-फ०, ब०,।

भावार्थ—'आदि' पदसे वस्त्र और पात्र ग्रहण करनेमें जो विधि बतलाई गई है, उस विधिका ग्रहण किया गया है। ('यच्चान्यद्' पदसे दण्डका ग्रहण किया है) इन सब वस्तुओंका ग्रहण धर्म और शरीरकी रक्षाके निमित्तसे किया जाता है। शरीरकी रक्षा होनेपर ही धर्मकी रक्षा हो सकती है, क्योंकि धर्मानुष्ठानका मूल शरीर है। संयमके पालन करनेके लिए ही शरीरका पोषण किया जाता है। इसी लिए यद्यपि उत्सर्गरूपसे ग्रहण करने योग्य वस्तुके ग्रहणका ही विधान है, तथापि यदि अपवादरूपसे ग्रहण करने योग्य वस्तुका लाभ न हो तो अल्पदोषसे युक्त वस्तुके ग्रहण करनेका विधान किया है। मैथुनके सिवाय अन्य सभी विषयोंमें अपवाद है। इस प्रकार धर्मकी रक्षाके लिए ही यह सब कहा है। किन्तु यह परिग्रह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साधुको उनमें ममत्व नहीं रहता और ममत्वको ही परिग्रह कहते हैं।

एवमुक्ता[1] निष्परिग्रहता, सैव च[2] स्पष्टा पुन क्रियते—

उसी निष्परिग्रहताको फिर भी स्पष्ट करते हैं :—

कल्प्याकल्प्यविधिज्ञः संविग्नसहायको विनीतात्मा।
दोषमलिनेऽपि लोके प्रविहरति मुनिर्निरुपलेपः॥ १३९॥

टीका—कल्पनीयं कल्प्यम्–उद्गमादिशुद्धमाहारोपधिशय्यादि। उद्गमादिदुष्टंवाऽकल्पनीयम्। तस्य विधिः–विधानम्–'कल्पनीयेन शरीरधारणं कुर्यात्, असति अकल्पनीयेनाप्य सता कार्यं यत्नवता प्रावचनेन मार्गेण इत्येष विधिः।' तं जानातीति कल्प्याकल्प्यविधिज्ञः। संविग्न सहायकः संविग्नाः संसार भीरवो ज्ञानक्रिया युक्ताः एवं विधाः[3] सहाया यस्य संविग्नसहायक। असहायः सुसहायो वा। विनीतात्मेति—विशेषेण नीत आत्मा ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारविनयवश्यतां स विनीतात्मा। एवंविधः साधुः दोषमलिनेऽपि लोके मूर्च्छामलिनेऽपि मनुष्यलोके। रागद्वेषौ वा दोषः, ताभ्यामयं मलिनो दूषितः सर्वो लोकः। एवंविधलोकमध्यवर्त्यपि प्रकर्षेण विविधमनेकप्रकारं रजो हरति प्रविहरति मुनिः निरुपलेपः–रागद्वेषाभ्यामस्पृष्टः[4], सर्वधनविनाशकारिणा वा लोभेन मूर्च्छालक्षणेनाग्रस्तो निरुपलेप इति। कर्माबध्नन् पूर्वबद्धमोक्षणाय प्रवर्तत इति॥ १३९॥

अर्थ—जो कल्पनीय और अकल्पनीयकी विधिको जानता है, ससारसे भयभीत सयमी जन जिसके सहायक हैं, और जिसने अपनी आत्माको ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनयसे युक्त कर लिया है, वह साधु राग-द्वेषसे दूषित लोकमें भी राग-द्वेषसे अछूता रह कर विहार करता है।

भावार्थ—उद्गमादिसे शुद्ध आहारादिकको कल्पनीय कहते है। और उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहारादिकको अकल्पनीय कहते हैं। कल्पनीय वस्तुओंसे शरीरकी रक्षा करनी चाहिए। यदि कल्पनीय न मिलें तो अकल्पनीयसे भी रक्षण किया जा सकना है, इत्यादि विधि है। जो साधु इस विधिको जानता है, संसारभीरु सयमी लोगोकी गोष्ठीमें रहता है तथा विनयी है, वह दोषोंसे भरे हुए इस लोकमें भी दोष-

१–मुक्तेन न्यायेन नि–प०। २–च पुनः स्पष्टीक्रियते प०। ३–दिविध,–प०। ४–स्कषा–फ०, ब०।

रहित होकर विचरता है। उसके नवीन कर्म-बन्ध नहीं होता तथा पहले बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है; क्योंकि वह निरुपलेप है और प्रवृत्ति करनेकी विधिको जानता है।

'कथं पुनर्दोषवल्लोकान्तःपाती तत्कृतसंसर्गो दोषैर्न लिप्यते?' इत्याह—

दोषोंसे भरे हुए लोकमें रहकर और उसके साथ सम्बन्ध रखकर भी साधु दोषोंसे लिप्त क्यों नहीं होता? इसका समाधान करते हैं:—

यद्वत्पङ्काधारमपि पङ्कजं नोपलिप्यते तेन।
धर्मोपकरणधृतवपुरपि साधुरलेपकस्तद्वत् ॥ १४० ॥

टीका—'यद्वत्' इति दृष्टान्तोपन्यासे। यथा पङ्काधारं पङ्कमध्यादुत्पन्नं पङ्कमध्ये स्थितं वा पङ्कजं नलिनं। नोपलिप्यते न स्पृश्यते कर्दमेन। धर्मोपकरणधृतवपुरपि साधुरलेपकः–धर्मार्थमुपकरणं धर्मोपकरणं रजोहरणमुखवस्त्रिका चोलपट्टककल्पादिकं तेन धृतवपुरपि कृतशरीरसंरक्षोऽपि स्वव्यतिरिक्तजीवकायकृतसंरक्षणश्च साधुरलेपक एव 'लोभदोषेण न स्पृश्यते शुद्धाशयत्वात् अमूर्छितत्वात्' इत्यर्थः॥ १४० ॥

अर्थ—जिस प्रकार कीचड़से उत्पन्न होनेपर तथा कीचड़के मध्यमें रहनेपर भी कमल कीचड़से लिप्त नहीं होता, वैसे ही धर्मके उपकरणोंसे शरीरको धारण करनेवाला साधु भी दोषोसे लिप्त नहीं होता।

भावार्थ—कमलको पङ्कज कहते हैं, क्योकि वह पङ्क-कीचड़से उत्पन्न होता है। परन्तु जिस प्रकार कीचड़मे पैदा होनेपर कमलको कीचड़ नहीं छूता, उसी प्रकार अन्न-वस्त्र वगैरहसे शरीरका रक्षण करते हुए भी साधुको सांसारिक दोष नहीं छूता, क्योकि उसका आशय निर्दोष है। उसे किसी भी वस्तुसे ममत्व नहीं है।

तथाऽपरोऽपि दृष्टान्तः—

दूसरा दृष्टान्त देते हैं :—

यद्वत्तुरगः सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिसक्तः।
तद्वदुपग्रहवानपि न संगमुपयाति निर्ग्रन्थः॥ १४१ ॥

टीका—यथा तुरगः सत्स्वपि विभूषणेषु बालव्यजनादिष्वश्वमण्डनकेषु वाऽनभिसक्तः–अमूर्च्छितः अकृतगार्द्ध्यः, न तेन परिग्रहेणासौ परिग्रहवान्। तद्वदिति–दृष्टान्तेन समीकरोति दार्ष्टान्तिकमर्थम्। तद्वदुपग्रहवानपि—धर्मायोपकरणमुपग्रहः, तद्वानपि 'धर्मोपकरणयुक्तोऽपि' इत्यर्थः। न संगं स्नेहं मूर्च्छामुपयाति। अत एव च बाह्यग्रन्थाभावादभ्यन्तरलोभादिग्रन्थाभावाच्च निर्ग्रन्थ इति। निर्गतो ग्रन्थो निर्ग्रन्थः॥ १४१ ॥

१–त् ह–प०। २– तत्तछरी–फ०, ब०। ३–अम्य–फ०, ब०।

अर्थ—जैसे घोड़ा अपने योग्य गहनोंसे विभूषित होनेपर भी उनसे मोह नहीं करता। उसी प्रकार निर्ग्रन्थ परिग्रहसे युक्त होनेपर भी उससे मोह नहीं करता।

भावार्थ—यद्यपि निर्ग्रन्थ साधु धार्मिक उपकरणोंको रखते हैं, फिर भी उनमें ममत्व न होनेसे उन्हें परिग्रही नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार घोड़ेको भाँति भाँतिके अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करनेपर भी वह उनसे मोह नहीं करता है, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ साधु भी धर्मोपकरणोंसे मोह नहीं रखता है। इसलिए यह परिग्रह उसके संसार-बन्धका कारण नहीं है।

'कः पुनरयं ग्रन्थः?' इत्याह—

निर्ग्रन्थका स्वरूप बतलाते हैं :—

ग्रन्थः कर्माष्टविधं मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च।
तज्जयहेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः १४२॥

टीका—ग्रथ्यते[1] वेष्ट्यते वध्यते येन स ग्रन्थः। तच्च अष्टप्रकारं कर्म ज्ञानावरणाद्यन्तरायपर्यवसानम्। मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च। मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। अविरतिः अनिवृत्तिः प्राणातिपातादिभ्यः। दुष्टयोगा मनोवाक्काया। मिथ्यात्वादयश्चाष्टविधस्य कर्मणो हेतव इति ग्रन्थशब्दवाच्याः। तेषां[2] कर्ममिथ्यात्वादीनां जयेऽभिभवे निराकरणे यतते मायादिशल्यरहितस्तज्जयहेतोः 'तान् जेष्यामि' इति[3] अशठं सम्यगागमोक्तेन विधिना स निर्ग्रन्थ इति। एतेन मूलसंघादिदिगम्बराःप्रत्युक्ताः॥ १४२॥

अर्थ—आठ प्रकारके कर्म, मिथ्यात्व, अविरति, और अशुभ योग ये सब ग्रन्थ हैं। उन्हें जीतनेके लिए जो कपट रहित होकर विधिपूर्वक प्रयत्न करता है, वही निर्ग्रन्थ है।

भावार्थ—जिसके द्वारा प्राणी बाँधा जाता है, उसे ग्रन्थ कहते हैं। इसी लिए ज्ञानावरणादिक कर्म तथा उनके कारण मिथ्यात्व वगैरहको ग्रन्थ कहते हैं। जिसने बाह्य परिग्रहका त्याग कर दिया है और इन अन्तरङ्गपरिग्रहोंको जीतनेके लिए जो यत्नशील है, वही निर्ग्रन्थ है।

'किं पुनः कल्प्यमकल्प्यञ्च?' इत्याह—

कल्प्य और अकल्प्यका स्वरूप बतलाते हैं:—

यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥ १४३॥

टीका—'यत्' इति यस्मात् ज्ञानं श्रुतमागमः, शील मूलोत्तरगुणाः, तपोऽनशनादिद्वादशभेदम्, उपग्रहम्—उपोद्बलनं संवर्द्धनम्, निग्रहं च दोषाणाम्—दोषाः क्षुत्पिपासादयः शीतोष्णादयो वा रागद्वेषप्रभृतयो वा, तेषां निग्रह निवारणं[4] करोति। कल्पयति समर्थमुपग्रहनिग्रह-

१—यस्मात्तेन ग्रथ्यते वेष्ट्यते स ग्रन्थः—फ० ब०। २—पा मि—फ० ब०। ३—ति सम्य—फ० ब०। ४—निराकरणं—फ०, ब०।

योर्भवति । यद्वस्तु, आहारोपधिशय्यादि । निश्चये व्यवहारे वा । उत्सर्गो निश्चयो विधिः, अपवादो व्यवहारो विधिः । तत्कल्प्यम् । यस्मान्निश्चये व्यवहारे ज्ञानादीनामुपग्रहकारि दोषाणां च निग्रहकारि यद्वस्तु तत् कल्पनीयमवशिष्टमिति ॥ १४३ ॥

अर्थ—यतः जो वस्तु ज्ञान, शील, और तपको बढ़ाती है और दोषोंको दूर करती है वह निश्चयसे कल्प्य है और बाकी सब अकल्प्य है।

भावार्थ—व्यवहारमें जो आहारादि वस्तु श्रुतज्ञान, मूलगुण, उत्तरगुण और तपको बढ़ाती हो, भूख-प्यास अथवा राग-द्वेष वगैरह दोषोंको दूर करती हो, वही साधुके ग्रहण करने योग्य है। किन्तु जिसके सेवनसे धर्माराधनमें प्रमाद हो और काम-क्रोधादिक विकार उत्पन्न होते हो, वह अग्राह्य है।

एनमेवार्थं[1] स्पष्टयति—

उसी बातको ही स्पष्ट करते हैं:—

यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम् ।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च ॥ १४४ ॥

टीका—उपघातो विनाशः, तं करोति यद्वस्तु आहारादि गृह्यमाणं प्रत्युतोपहन्ति सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानमागमाख्यम्, शीलं मूलगुणो[2] उत्तरगुणाश्च, योगा मनोवाक्कायाख्याः अहर्निशाभ्यन्तरानुष्ठेया वा व्यापारा योगाः । तदुपघातकारित्वात् कल्प्यमपि सदकल्प्यमेव द्रष्टव्यम् । प्रवचनकुत्साकरं यच्च-यच्च प्रवचनकुत्साकरं[3] कुत्सां निन्दां गर्हां करोति यत्तत्सर्वमकल्पनीयं मांसमद्यादि अभोज्यादि कुलेषु भक्तपानादिग्रहणं सर्वमेव प्रवचनकुत्साकारि भवत्यकल्प्यमिति ॥ १४४ ॥

अर्थ—जो वस्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और दिन-रातमें की जानेवाली क्रियाओको नष्ट करती है, तथा जिससे जिन-शासनकी निन्दा होती है, वह वस्तु कल्प्य होनेपर भी अकल्प्य है।

भावार्थ—जिस वस्तुसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रमें बाधा उपस्थित होती है, दैनिक समीचीन क्रियाओंको क्षति पहुँचती है और जिसके उपयोगसे जैनेन्द्र-शासन कलङ्कित होता है, वह वस्तु अकल्प्य ही मानी जानी चाहिए।

किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् ।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १४५ ॥

१–एतमे–प० । २–गुणोत्तर–फ०, ब० । ३–करं निन्दा गर्हां ता करोति यत्सर्वं–फ० ।

टीका—किञ्चिदाहारादि उद्गमादिशुद्धमपि कल्प्यमकल्प्यमेव स्यात् घृतक्षीरदधिगुडादि विकारहेतुत्वादनर्थापत्तेः परिहार्यम्। तथा अकल्प्यमपि कल्प्यम्—तदेव क्षीरघृतादिवातविकारिणां कल्प्यं जायते। पिण्ड इति आहारश्चतुर्विधः, शय्या प्रतिश्रयः, वस्त्रं पात्रं च भेषजाद्यं वा। औषधमपि व्याध्यार्तानां मिश्रं सचेतनं वा कल्पनीयमेव नीरोगवपुषस्त्वकल्प्यमिति ॥ १४५ ॥

अर्थ—भोजन, शय्या, वस्त्र, पात्र अथवा औषध वगैरह कोई वस्तु शुद्ध अतएव कल्प्य होनेपर भी अकल्प्य हो जाती है और अकल्प्य होनेपर भी कल्प्य हो जाती है।

भावार्थ—आहार वगैरह उद्गमादि दोषोंसे शुद्ध होनेपर भी अकल्प्य हो जाते हैं। जैसे घी, दूध, दही, गुड़ वगैरह विकारको उत्पन्न करते हैं। अतः कल्प्य होनेपर भी त्यागने योग्य है। तथा अकल्प्य भी कल्प्य हो जाता है। जैसे वही घी दूध वगैरह अविकारी मनुष्योंके लिए कल्प्य होते है। इसी प्रकार औषध भी रोगियोके लिए कल्प्य भी है। और स्वस्थ मनुष्योंके लिए अकल्प्य है।

'कदा कल्प्यं कदा वाऽकल्प्यम्' इति विभजते—

उक्त वस्तुएँ कब कल्प्य होती हैं और कब अकल्प्य होती हैं, यह बतलाते हैं :—

देशं कालं[5] पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान्[6]।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥ १४६ ॥

टीका—देशं प्राप्य किञ्चिदकल्प्यमपि कल्प्यं भवति। कालो दुर्भिक्षादि, तत्राप्येवम्। पुरुषो राजादिः, प्रव्रजितः, तदर्थमकल्प्यमपि कल्प्यम्। अवस्था मांद्यादिका, तत्रापि वैद्योपदेशादकल्प्यमपि कल्प्यम्। उपघातः संसक्तदोषः, तच्च मत्कुणादि[8]-संसक्तमग्राह्यमकल्प्यम्, तदेव चान्यालाभे यत्नात्प्रत्यवेक्ष्य[9] ग्राह्यं कल्प्यमिति। शुद्धपरिणामानिति[10]-शुद्धपरिणामं[11] चेतसः। सर्वत्र कृच्छ्रो[12]? गृह्णतोऽकल्प्यमपि कल्प्यं भवतीति। एतदेव दर्शयति पश्चार्द्धेन—

प्रसमीक्ष्य सम्यगालोच्य कल्पनीय गृह्णतो नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यमिति—न खलु एकान्तेनैव कल्प्यते जायते कल्प्यम्। अथवा नैकान्तेनैव कल्प्यतेऽकल्प्यम् अकल्प्यमेकान्तेनैव न कल्प्यते। न कल्प्यनीयमकल्प्यामिति। यस्माद् देशकालाद्यपेक्षया कल्प्यमकल्प्यं भवति, अकल्प्यमपि कल्पनीयमिति।

अर्थ—देश, काल, क्षेत्र, पुरुष, अवस्था, उपघात और शुद्ध परिणामोंका विचार करके वस्तु कल्प्य होती है। कोई वस्तु सर्वथा कल्प्य नहीं होती।

भावार्थ—किसी देशमें अकल्प्य वस्तु भी कल्प्य होती है। जिस प्रकार जिस देशके लोग साधुजनोंके आहारादिककी विधिसे परिचित नहीं हैं, वहाँ अकल्प्य आहार भी कल्प्य है। दुर्भिक्ष

१-दिविशु-प०। २-श-फ० ब०। ३-चेतनं-प०। ४-ल्प्यमपि विभज्यते-फ०, ब०। ५-ल क्षेत्र पु-ब०। ६-मुपयोगशु-फ०, ब०। ७-णाम-प०। ८-त्कुणादि-प, फ०। मकुणादि-ब० म०। ९-यत्नप्रवेक्ष्य ग्रा-प०। १०-णाममिति-प०। ११-णामचे-फ०। १२-क्रिया गृह्यते-ब०, मु०।

आदिके समयमें भी अकल्प्य कल्प्य हो जाता है। राजघराने वगैरहके किसी बड़े पुरुषने दीक्षा ली हो तो उसके लिए अकल्प्य भी कल्प्य होता है। बीमारी आदिमें वैद्यके कहनेसे अकल्प्य भी कल्प्य होता जीवसे संयुक्त वस्तु, अकल्प्य है; किन्तु यदि दूसरी वस्तु न मिले तो अच्छी तरह देख-भालकर वही कल्प्य हो जाती है। तथा शुद्ध भावोंके होनेपर भी अकल्प्य कल्प्य हो जाता है। अतः कोई वस्तु न सर्वथा कल्प्य ही होती है और न सर्वथा अकल्प्य ही। देश, काल वगैरहकी अपेक्षासे कल्प्य अकल्प्य हो जाता है और अकल्प्य भी कल्प्य हो जाता है।

एवमनैकान्तिकं कल्प्याकल्प्यविधिं निरूप्य योगत्रयनियमनायाह संक्षेपतः—

इस प्रकार अनेकान्तवादके अनुसार कल्प्य और अकल्प्यकी विधिको बतलाकर मन, वचन और काय योगको वशमें करनेके लिए संक्षेपमें कथन करते हैं—

तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना।
नात्मपरोभयबाधकमिह यत्परतश्च सर्वाद्धम्॥ १४७॥

टीका—मनसा तदेव चिन्त्यम्—आलोच्यमार्तरौद्रध्यानद्वयव्युदासेन यन्नात्मनः परस्योभयस्य बाधकं भवति। वाचाऽपि तदेव भाष्यं भाषणीयं यन्नात्मादीनां बाधकं भवति सर्वथा। यतिना कायेनापि धावनवल्गनादिक्रियात्यागेन तदेव कार्यं कर्तव्यं यन्नात्मादीनां बाधकं भवति। सर्वाद्धमिति—अद्धा कालः, 'सर्वकालम्' इत्यर्थः। वर्तमानेऽनागते च। तत्रापि वर्तमाना व्यावहारिकैः परिग्राह्यः, अनागतश्च सर्व एव। अतो मनोवाक्कायैः सम्यग्व्यापाराः कार्यास्तथा यथा स्वल्पोऽपि कर्मबन्धो न जायते इति॥ १४७॥

अर्थ—मुनिको सब प्रकारसे वही विचारना चाहिए, वही बोलना चाहिए और वही करना चाहिए, जो इस लोक और परलोकमें सर्वदा न अपनेको दुखदायी हो, न दूसरोंको दुखदायी हो और न उभय को दुखदायी हो।

भावार्थ—आर्तध्यान और रौद्रध्यानको छोड़कर मनसे वही विचारना चाहिए जो अपनेको, दूसरोंको, और दोनोंको कभी भी बाधक न हो। वाणीसे भी ऐसी ही बात बोलनी चाहिए जो अपनेको और दूसरोंको कभी भी कष्ट देनेवाली न हो। तथा शरीरसे भी वही चेष्टा करनी चाहिए जो अपनेको और दूसरोंको कभी भी कष्ट देनेवाली न हो। सारांश यह है कि मन, वचन और कायसे इस रीतिसे काम लेना चाहिए कि उससे थोड़ासा भी कर्म-बन्ध न हो।

सम्प्रति इन्द्रियनियममाचष्टे—

अब इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिए कहते हैं :—

सर्वार्थेष्विन्द्रियसंगतेषु वैराग्यमार्गविघ्नेषु।
परिसंख्यानं कार्यं कार्यं परमिच्छता नियतम्॥ १४८॥

१—वल्गनादि-प०, फ०, ब०।

टीका—सर्वे च तेऽर्थाश्च शब्दरूपगन्धरसस्पर्शाः । इन्द्रियैः संगता–इन्द्रियाणां गोचरतां गतास्तेषु । वैराग्यमार्गविघ्नेषु–वैराग्यमार्गः सम्यग्ज्ञानक्रियाः, तद्विघ्नेषु–तदन्तरायकारिषु । शब्दादिविषयेषु । परिसंख्यानं कार्यम्—इत्वरानेतान् शब्दादीन् विज्ञाय निस्सारानायतावहितान् परिसंख्याय प्रत्याख्याय गोचरवर्तिनोऽपि रागद्वेषवर्जनद्वारेण 'ज्ञानपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च' इत्युभाभ्यां प्रकाराभ्यां परिसंख्यानं कार्यमित्यर्थः । कस्मात्पुनः संख्यायन्ते गोचरमागता विषयाः शब्दादयः? इत्याह—'कार्यं परमिच्छता नियतम्'। कार्यं सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः । प्रकृष्टं परम् । धर्मार्थकाममोक्षाणां मोक्षाख्यमेव कार्यं परं कार्यम् । कामस्य दुःखात्मकत्वात् दुःखहेतुत्वात् तत्साधनव्यभिचारात् । अर्थस्यार्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिदोषदर्शनात् अनर्थानुबन्धित्वाच्च नृसुरैश्वर्याणां क्षयातिक्लेशयुक्तत्वात् । अभ्युदयलक्षणस्य धर्मस्यार्थकामफलत्वात् दुष्टता । सर्वत्र चात्यन्तिकैकान्तिकसुखस्वभावत्वात् परं कार्यं मोक्षः । तमिच्छता । नियतं 'शाश्वतम्' इत्यर्थः । तच्चेच्छता परं कार्यं विषयसुखेषु निस्पृहेण भवितव्यम् ॥ १४८ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट कार्य मोक्षके अभिलाषी मुनिको वैराग्यके मार्गमें विघ्न करनेवाले इन्द्रिय सम्बन्धी समस्त विषयोंमें सर्वदा नियम करना चाहिए ।

भावार्थ—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शये पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं । ये सभी विषय वैराग्यके मार्ग–सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें बाधा डालते हैं । अतः इनको विनाशी, साररहित और उत्तरकालमें अहितकारक जानकर त्यागना चाहिए । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमेंसे मोक्ष ही उत्कृष्ट पुरुषार्थ है, क्योंकि काम पुरुषार्थ तो दुःखका कारण होनेसे दुःख स्वरूप ही है । अर्थ पुरुषार्थमें अर्थके कमाने, रक्षा करने और नाश होने वगैरहमें अनेक दोष पाये जाते हैं । वह अनर्थका कारण है । मनुष्य तथा देवोंका भी ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है । अतः क्लेशका कारण है । पुण्यानुबन्धी धर्म पुरुषार्थका फल अर्थ और काम है । अतः सर्वथा अविनाशी और सुख स्वरूप होनेके कारण मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है । जो मुनि उस परम पुरुषार्थको प्राप्त करना चाहता है, उसे उक्त विषय-सुखमें निःस्पृह वांछारहित होना चाहिए ।

'निस्पृहता चानित्यत्वादिभावनायत्ता' इत्याह—

निःस्पृहता, अनित्यादि बारह भावनाओंके अधीन है । अतः ग्रन्थकार बारह भावनाओंके चिन्तन करनेका उपदेश देते हैं:—

भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे ।
अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवसंवरविधिश्च ॥ १४९ ॥

१—त्वतादि–ब० ।–त्वता भा–फ० ।–त्वादि भा–मु० ।

निर्जरणलोकविस्तरधर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च ।
बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः ॥ १५० ॥

टीका—भावयितव्यम्—अहर्निशं चिन्तनीयमभ्यसनीयम् । किं तत्? अनित्यत्वम्—सर्वस्थानान्यशाश्वतानि, संसारे नास्ति किञ्चिन्नित्यमिति । तथाऽशरणत्वम्—जन्मजरामरणाभिभूतस्य नास्ति क्वचिदपि शरणम् । तथा एकत्वभावना—'एक एवाहम्' इत्यादिका । तथाऽन्यत्वभावना-अन्य एवाहं स्वजनकेभ्यो धनधान्यहिरण्यसुवर्णादेः शरीरकाच्चेति । तथाऽशुचित्वभावना—आद्युत्तरकारणाशुचित्वादिका । तथा संसारभावना—'माता भूत्वा दुहिता भार्या स्वामी दासो शत्रुर्भवति' इत्यादिका । तथा कर्माश्रवभावना—आश्रवद्वाराणि विवृतानि कर्माश्रवन्तीति भावयेत्तस्मात् स्थगनीयानीति । तथा संवरविधि—आश्रवद्वारनिरोधःस्थगनम् । निरुद्धेष्वाश्रवद्वारेषु कर्मागमनिरोधः कृतो भवति । तथा निर्जरभावना निरुद्धेष्वास्त्यद्वारेषु पूर्वोपात्तस्य कर्मणः तपसा क्षयो भवतीति तथा लोकविस्तरभावनाम् 'ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकेषु भ्रान्तमनादौ संसारे सर्वत्र विस्तृतं जातश्च' इति चिन्तयेत् । स्वाख्यातधर्मचिन्तनं 'क्षमादि दशलक्षणको धर्मः शोभन आख्यातो निर्दोषः भव्यसत्त्वानुग्रहाय' इति भावयेत् । बोधेश्च दुर्लभता भावनीया—मनुष्यजन्मकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्पतायुरुपलब्धौ सत्यामपि सम्यक्त्वज्ञानाचरणानि बोधिः, तस्य दुर्लभत्वमहर्निशं भावयेत् । एवमेता द्वादश भावनाः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥ १४९-१५० ॥

अर्थ—अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, संसार, कर्मोंके आस्रवकी विधि, संवरकी विधि, निर्जरा, लोकविस्तर, अच्छी तरहसे कहा गया धर्म और ज्ञानकी दुर्लभता ये बारह भावनाएँ हैं । इनका चिन्तन करना चाहिए ।

भावार्थ—सभी वस्तुएँ अनित्य है, ससारमें कुछ भी नित्य नहीं है । इस प्रकारके चिन्तन करनेको अनित्वभावना कहते हैं । जन्म, जरा और मृत्युसे घिरे हुए प्राणीको कहीं भी शरण नहीं है, ऐसा चिन्तन करनेको अशरणत्वभावना कहते हैं । मै अकेला ही हूँ इत्यादि विचारनेको एकत्वभावना कहते हैं । अपने कुटुम्बियो, धन-धान्य, सोना-चाँदी वगैरह तथा शरीर आदिसे मैं भिन्न हूँ-ऐसा विचारनेको अन्यत्वभावना कहते है । शरीरके आदि कारण रज-वीर्य तथा उत्तर कारण मज्जादि धातुएँ अपवित्र हैं । अतः शरीर भी अपवित्रताका घर है-ऐसा चिन्तन करनेको अशुचित्वभावना कहते हैं । संसारमें माता, कभी लड़की और पत्नी हो जाती है और पत्नी, माता तथा बहिन हो जाती है । और स्वामी दास तथा शत्रुतक बन जाता है, इस प्रकार संसार-स्वरूपके चिन्तनको ससारभावना कहते हैं । आस्रवके द्वारोंके खुले रहनेपर कर्म आते हैं । अतः उन्हें बन्द करना चाहिए-ऐसा विचार करनेको कर्मास्रवभावना कहते हैं । तथा आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं । आस्रवके द्वारोके बन्द हो जानेपर कर्मोंका आना रुक जाता है, ऐसा विचारनेको सवरभावना कहते हैं । आस्रवके द्वारोंके बन्द होजानेपर तपके

१—ना त्वन्य प० । २—ति वि भा-फ०, ब०, ३—शतम-प० । ४—स्वचत्रमूत जा-प० ।

द्वारा पहले बाँधे हुए कर्मोंका क्षय होता है, ऐसा चिन्तन करनेको निर्जराभावना कहते हैं। यह जीव अनादिकालसे ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोकमें भ्रमण करता है, इत्यादि लोकके स्वरूपके विचारनेको लोकविस्तारभावना कहते हैं। भव्य जीवोंके कल्याणके लिए उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्म अच्छा कहा है, ऐसा चिन्तन करना-धर्म-स्वाख्यातभावना है। मनुष्य जन्म, कर्मभूमि, आर्यदेश, कुल, निरोगता और आयुके पानेपर भी सम्यग्ज्ञानका पाना दुर्लभ है, ऐसा विचारनेको बोधिदुर्लभ-भावना कहते हैं। इस प्रकार इन बारह भावनाओंका रात-दिन चिन्तन करना चाहिए।

सम्प्रति एकैकया कारिकया भावनामेकैकां कथयति। तत्र प्रथमां भावनाऽनित्याख्या, तद्दर्शयन्नाह—

अब एक एक कारिकासे एक एक भावनाको कहते हैं। उनमेंसे पहले अनित्यभावनाको कहते हैं :—

इष्टजनसंप्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदस्तथारोग्यम्।
देहश्च यौवनं जीवितञ्च सर्वाण्यनित्यानि ॥ १५१ ॥

टीका—इष्टेन जनेन सह संयोगोऽनित्यः। ऋद्धिविषयसुखसम्पदः—ऋद्धिः सम्पद् विभूति, साप्यनित्या। विषयाः शब्दादयः, तज्जनिता सुखसम्पदनित्या। आरोग्यं नीरोगता, तदप्यनित्यम्, देहः शरीरकुमाहारस्नानपानाच्छादनानुगृहीतम्, एतदप्यनित्यम्। यौवनमपि कतिपयदिवसरमणीयम्, जीवितमप्यकाण्डभङ्गुरम्। एवम् 'एतत्सर्वमनित्यम्' इति भाव यतो न क्वचित् स्नेहः समुपजायते। निस्सङ्गश्च मोक्षचिन्तायामेव व्याप्रियत इति ॥ १५१ ॥

अर्थ—इष्ट जनका सयोग, ऋद्धि, विषय-सुख, सम्पदा, आरोग्य, शरीर, यौवन और जीवन—ये सभी अनित्य हैं।

भावार्थ—प्रिय जनोका सम्बन्ध अनित्य है। धन सम्पदा भी अनित्य है। विषय और उनसे होनेवाला सुख भी अनित्य है। नीरोगता भी अनित्य है। खान-पान, स्नान और वस्त्रसे रक्षित शरीर भी अनित्य है। जवानी भी चार दिनकी चाँदनी है। जीवन भी असमयमें ही नष्ट हो जानेवाला है। इस प्रकार इन सबकी अनित्यताका विचार करते रहनेसे किसीसे राग उत्पन्न नहीं होता। अत रागरहित प्राणी मोक्षकी चिन्तामें ही लगा रहता है।

अशरणभावनामधिकृत्याह—

अशरणभावनाको कहते हैं —

जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ १५२ ॥

१-म भा-प०। २—संप्रयोगो-प०। ३—एतत्त-प०।

टीका—जन्म-उत्पत्तिः, जरा वयोहानिः, मरणं प्राणपरित्यागः, एभ्यो भयानि तैः। अभिद्रुते-अभिभूते। व्याधयो ज्वरातीसारहृद्रोगादयः, वेदनाः शरीरजा मनोभवाश्च। व्याधिवेदनाग्रस्ते व्याधिवेदनाभिगृहीते, लोके प्राणिसमूहे। जिनवरा जिनप्रधानाः 'तीर्थकराः' इत्यर्थः। तेषां वचनं वाग्योगस्तत्प्रतिपादितोऽर्थः। तमादाय क्षायोपशमिकभाववर्तिभिर्गणधरैर्दृब्धं द्वादशाङ्गं प्रवचनम्। तन्मुक्त्वा अन्यत्र नास्ति शरणं[2] त्राणमिति ॥ १५२ ॥

अर्थ—जन्म, जरा और मरणके भयसे व्याप्त तथा रोग और कष्टोंसे भरे हुए इस संसारमें भगवान् जिनेन्द्रदेवके वचनोके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

भावार्थ—ससारके, सभी प्राणियोके ऊपर जीवन-मरण और बुढ़ापेका भय सवार हैं। सभीके पीछे रोग और कष्ट लगे हुए है। अतः जिनभगवान्के दिव्य उपदेशको सुनकर गणधरदेवोंने जो द्वादशाङ्ग श्रुतकी रचना की है, उस श्रुतके सिवाय अन्य कुछ भी यहाँ शरण नहीं है।

एकत्वभावनामधिकृत्याह—

एकत्वभावनाको कहते हैं :—

एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते।
तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मना कार्यम् ॥ १५३ ॥

टीका—'एकस्य' इति असहायस्य जन्म च मरणञ्च। न खल्वस्य जायमानस्य म्रियमाणस्य वा कश्चित् सहायोऽस्ति। गतयो नारकाद्याः। मरणोत्तरकालं नरकादिगतिषु स्वकृतकर्मफलमनुभवतो नास्ति कश्चित्परः। शुभा देवमनुष्यतिर्यग्योनयः, नरकगतिरशुभा। भवो जन्म, भव एव आवर्तः संसारार्णवः[3]। यत्र प्रदेशे भ्राम्यदास्ते[4] जलं तत्रैव च स आवर्त। जीवस्यापि तत्र तत्र जन्ममरणे समनुभवतो भवावर्तः। तस्माद् आकालिकम्-अकालहीनम्। हितमकेनैवात्मना कार्यम्—हितं संयमानुष्ठानं तत्प्राप्यो वा मोक्षोऽत्यन्ताहितम्, एकेन असहायेनात्मना कर्तव्यमिति ॥ १५३ ॥

अर्थ—संसाररूपी भँवरमें पड़ा हुआ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है। और अकेला ही शुभ और अशुभ गतियोमें जाता है। अतः अकेले ही को अपना स्थायी हित करना चाहिए।

भावार्थ—समुद्रमें जिस-जिस स्थानपर चक्कर खाकर पानी नीचेको जाता है, उसे आवर्त भँवर कहते हैं। संसार-समुद्रमें भी जीव जहाँ जहाँ जन्म लेता या मरता है, वह भव-आवर्त कहा जाता है। उस भवरूपी आवर्तमें जीव अकेला ही जन्म लेता है, और अकेला ही मरता है। जन्म लेते और मरते समय उसका कोई भी सहायी नहीं है। मरनेके बाद नरकादि गतियोमें अपने किये हुए कर्मोंके

१–णत्यागः-प०। २–ण परित्रा-प०। ३–र्णवे-प०, ब०। ४–म्यदस्ताधजल-फ०, ब०।

फलको भी अकेला ही भोगता है। जीवका हित संयमका पालन करना अथवा उसके द्वारा प्राप्त होनेवाला मोक्ष ही है, जो कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता। अतः जब यह जीव अकेला ही कष्ट भोगता है तो उसे अकेले ही अपना हित-साधन भी करना चाहिए।

अन्यत्वभावनामधिकृत्याह—
अन्यत्वभावनाको कहते हैं:—

अन्योऽहं स्वजनात्परिजनाच्च विभवाच्छरीरकाच्चेति।
यस्य नियता मतिरियं न बाधते तं हि शोककलिः ॥१५४॥

टीका—स्वोजनः स्वजनो मातापित्रादिः पत्नीपुत्रादिश्च। अस्मादहमन्यो विभिन्नः पृथक्कर्मा। परिजनो दासदासीप्रभृतिः। अस्माच्च परिजनादन्य एवाहम्। विभवो धनधान्यादि कनकरजतवस्त्रादिर्वा। अस्मादन्योऽहम्। शरीरकमुपभोगाधिष्ठानम्, तस्मादप्यत्यन्तभिन्न एवाहम्। इत्थं यस्येयं बुद्धिर्नियता नक्तदिनमालोचिका, न बाधते तं न पीडयति। हि शब्दो यस्मादर्थे। यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्। यस्मादेवं भावयन्न बाध्यते[1] शोककलिना, तस्मादन्यतर (दन्यत्व) भावना कार्या[2] ॥ १५४ ॥

अर्थ—मैं अपने कुटुम्बियों, नौकर-चाकरों, धन धान्य सम्पदा और शरीरसे विभिन्न हूँ। जिसकी इस प्रकारकी निश्चित मति है उसे शोकरूपी कलिकाल कष्ट नहीं देता।

भावार्थ—जिसकी बुद्धिमें रात-दिन यही विचार बना रहता है कि मैं माता, पिता, पत्नी, पुत्र वगैरह कुटुम्बियोंसे भिन्न हूँ, दासी-दास वगैरह परिजनोंसे भिन्न हूँ, धन-धान्य, सोना-चाँदी, वस्त्र वगैरह विभवसे भिन्न हूँ, भोग उपयोगके आश्रय इस शरीरसे भी भिन्न हूँ, उसे कभी भी शोक नहीं सताता। अत. अन्यत्वभावना करनी चाहिए।

अशुचित्वभावनामधिकृत्याह—
अशुचित्वभावनाको कहते है—

अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च।
देहस्याशुचिभावः स्थाने स्थाने भवति चिन्त्यः ॥ १५५ ॥

टीका—शुचिनोऽपि द्रव्यस्याशुचित्वकरणमस्ति सामर्थ्यं शक्तिर्देहस्य। कर्पूरचन्दनागरु[3]कुंकुमादि द्रव्यं देहसंपर्कादशुच्येव जायते। तस्मादशुचिकरणसामर्थ्याद्देहस्याशुचित्वमनुचिन्तनीयम्। यथाह—

"एतावदेतदशुचि नान्यत् किञ्चिन्न विद्यते।
यथा कायः कलेरङ्ग[4] यद्वा तेनैव दूषितम् ॥"

१–बध्यते–व०। २–अशुचित्व भावना कार्या–फ०ब०। ३–अगरकर्पू–फ०। ४–काले–फ० ब०।

आद्युत्तरकारणशुचित्वाच्च । आदिकारणं शुक्रशोणितम् । उत्तरकारणं जनन्याभवहृतस्य (भ्यवहृतस्य) आहारस्य रसहरण्योपनीतस्य रसस्यास्वादनमत्यन्ताशुचि । एवमाद्युत्तरकारणयोरशुचित्वादशुचिर्देह इति प्रतिक्षणमनुचिन्तनीयम् । स्थाने स्थाने इति शिरःकपालाद्यवयवेषु चरणान्तेषु त्वगाच्छादितासृग्मांसमेदोमज्जास्थिस्नायुजालसन्तानबन्धेषु न क्वचिच्छुचिगन्धोऽस्तीत्यशुचिगन्ध एव विजृंभते इति ॥ १५५ ॥

अर्थ—इस शरीरमें पवित्र पदार्थोंको भी अपवित्र कर देनेकी शक्ति है, इसके आदिकारण तथा उत्तरकारण भी अपवित्र है। अत प्रत्येक स्थानपर उसकी अपवित्रताका विचार करना चाहिए।

भावार्थ—कपूर, चन्दन, अगुरु, केसर वगैरह सुगन्धित द्रव्य शरीरमें लगानेसे दुर्गन्धित हो जाते हैं। तथा शरीरका आदिकारण रज और वीर्य है, क्योंकि प्रारंभमें उन्हींके मिलनेसे शरीर बनना शुरू होता है। बादको माता जो भोजन करती है, उस भोजनका जो रस हरेणीमें आता है उससे शरीर बनता है। अतः शरीरका आरम्भिक कारण भी गन्दा है, और उत्तरकारण भी गन्दा है। और उनके गन्दे होनेसे शरीर भी गन्दा है। इन कारणोंसे सिरसे लेकर पैरतक शरीरके प्रत्येक अङ्गमें अशुचित्व—गन्दगीका विचार करना चाहिए। अर्थात् यह सोचना चाहिए कि यह शरीर चामसे मढ़ा हुआ है। इसके अन्दर खून, माँस, चर्बी, मज्जा, और हड्डियाँ भरी हुई हैं, जो नसोंके जालसे वेष्टित हैं। इसमें कहीं भी शुचिपना नहीं है। अतः अशुचिपना ही बढ़ता रहता है।

संसारभावनामधिकृत्याह—

संसारभावनाको कहते हैं:—

माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे ।
व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥ १५६ ॥

टीका—संसारे परिभ्रमतां सत्त्वानां माता भूत्वा भूयः सैव च दुहिता भवति, सैव च पुनर्भार्या । सैव च संसृतौ परिवर्तमाना जामिरपि भवति । तथा पुत्रो भूत्वा पिता भवति । स एव सुतः पुनर्भ्रातृत्वमायाति । स एव च पुन सपत्नो भवतीत्येवमाजवंजवीभावे प्राये संसारे सर्वसत्त्वाः पितृत्वेन मातृत्वेन पुत्रत्वेन शत्रुत्वेन चेत्यादिना सम्बन्धेन कृतसम्बन्धा बभूवुरिति ॥ १५६ ॥

अर्थ—संसारमें जीव माता होकर पुत्री, बहिन और पत्नी हो जाता है, तथा पुत्र होकर पिता भ्राता और शत्रु तक हो जाता है।

भावार्थ—संसारमें परिभ्रमण करता हुआ जीव माता होकर पुत्री हो जाता है, पुत्री होकर बहिन हो जाता है और बहिन होकर पुत्री हो जाता है। तथा पुत्री होकर पिता हो जाता है, पिता होकर

१–एक ही भवमें अठारहनातेकी कथा प्रसिद्ध है जो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकामें दी गई है। यह ग्रंथ श्रीशुभचन्द्रकृत संस्कृतटीका और नई हिन्दीटीका सहित इसी शास्त्रमालामें छप रहा है।

भाई हो जाता है और भाई होकर शत्रु हो जाता है। इस प्रकार इस संसारमें सभी प्राणी माता, पिता, पुत्र, शत्रु इत्यादि हो चुके हैं। अतः एकसे राग और दूसरेसे द्वेष करना व्यर्थ है।

अथास्रवभावनामधिकृत्याह—

आस्रवभावनाको कहते हैं:—

मिथ्यादृष्टिरविरतः प्रमादवान् यः कषायदण्डरुचिः।
तस्य तथास्रवकर्मणि यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ॥ १५७ ॥

टीका—मिथ्यादर्शनादय कर्मण आश्रवाः। तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणो मिथ्यादृष्टिः। मिथ्यादर्शनोदयाच्च कर्मबन्धः। अविरत सम्यग्दृष्टिरपि यो न विरतः कुतश्चिदपि प्राणातिपातदोषादसावपि कर्मास्रवेषु वर्त्तते। सम्यग्दृष्टिर्विरतोऽपि यः सोऽपि कर्माश्रवत्यादत्ते। प्रमादश्च निद्राविषयकषायविकटविकथाख्यः पञ्चधा। अनेन प्रमादेन युक्त कर्म बध्नाति। कषायप्रमादो गरीयानिति भेदेनोपादानम्। दण्डस्त्रिधा मनोवाक्कायाख्यः। मनसार्त्तरौद्राध्यवसाय कर्मास्रवति। वाचाऽपि हिंसकपरुषादितया कर्म बध्नाति। कायेनापि धावनवल्गनाप्लवनादिरूपेण कर्मादीयते। दण्डयन्तीति दण्डाः। मन एव दण्डयत्यात्मानम्। एवमितरावपि। तस्यास्रवहेतोः कर्मणि क्रियायां यतेत यत्नं कुर्वीत। तेषामास्रवाणां निग्रहो निरासस्तत्साद्यत्नादिति। विवृतान्यास्रवद्वाराणि यथा न संभवन्ति तथा यतेत॥ १५७॥

अर्थ—जो प्राणी मिथ्यादृष्टि अविरत और प्रमादी है तथा कषाय और योगमें रुचि रखता है, उसके कर्मोंका आस्रव होता है। अत. उनके रोकनेका प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन वगैरह कर्मोंके आस्रवमें कारण हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यादर्शनका उदय होता है, अतः उसके कर्मबन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि होकर भी जो हिंसा वगैरह पापोंसे विरत नहीं होता है उसके भी कर्मोंका आस्रव होता है। सम्यग्दृष्टि और विरत होकर भी जो प्रमादी है, उसके भी कर्मोंका आस्रव होता है। प्रमादके पाँच भेद हैं—निद्रा, विषय, कषाय, विकट और विकथा। जो इन प्रमादोंसे युक्त होता है, उसके कर्मबन्ध होता है। यद्यपि प्रमादमें ही कषायका अन्तर्भाव होजाता है तथापि कषाय बलवान् है, अत. उसका अलगसे ग्रहण किया है।

दण्डके तीन भेद हैं—मन, वचन और काय। आर्त और रौद्र परिणामवाला जीव मनसे कर्मबन्ध करता है, हिंसक और कठोर वाणी बोलकर वचनसे कर्मबन्ध करता है और दौड़, उछल कूद वगैरह करके कायसे कर्मबन्ध करता है। जो दण्ड देते है उन्हें दण्ड कहते हैं। मन आत्माको दण्ड देता है, अत. वह मनोदण्ड कहा जाता है। इसी प्रकार वचन और काय-दण्डमें भी समझ लेना चाहिए। ये सब आस्रवके द्वार कहे जाते हैं; क्योंकि इनके द्वारा कर्म आते हैं। अत आस्रवके द्वार खुले न रहें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

संवरभावनामधिकृत्याह—

संवरभावनाको कहते हैं:—

या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्तिः ।
सुसमाहितो हितः संवरो वरददेशितश्चिन्त्यः ॥ १५८ ॥

टीका—पुण्यंकर्म सातादि । पापं ज्ञानावरणादि । तयोः पुण्यपापयोरग्रहणेऽनुपादाने[1] । वाक्कायमानसी वृत्तिर्या व्यापार इत्यर्थः । अग्रहणं च संवृतास्रवद्वारस्य भवति, न पुनः पुण्यमादत्ते न पापम् । सुसमाहितः सुष्ठु समाहितः आत्मन्यारोपितः, हितश्च आयत्यां तदायत्ते च संवर आस्रवनिरोधलक्षणः । वरदास्तीर्थकृतः । ईप्सितार्थप्रदानाद्वरदाः । मोक्षार्थश्चेप्सितः । स चिन्तनीयो भावनीय इत्यर्थः ॥ १५८ ॥

अर्थ—मन, वचन और कायके जिस व्यापारसे न तो पुण्यकर्मका आस्रव होता है और न पाप कर्मका आस्रव होता है, आत्मामें अच्छी तरहसे धारण किये गये उस व्यापारको तीर्थंकर भगवान्के द्वारा उपदिष्ट हितकारक संवर कहते हैं । उसका चिन्तन करना चाहिए ।

भावार्थ—कर्मोंके आस्रवके रोकनेको सवर कहते हैं । वह सवर ही जीवका बड़ा हितकारी है । इच्छित वरको देनेवाले तीर्थंकरोंने उसका उपदेश दिया है । उसकी भावना करनी चाहिए ।

निर्जराभावनामधिकृत्याह—
निर्जराभावनाको कहते हैं:—

यद्वद्विशेषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोषः ।
तद्वत्कर्मोपचितं निर्जरयति संवृतस्तपसा ॥ १५९ ॥

टीका—कथं पुनः संवृतात्मनः कर्मनिर्जरणमिति दर्शयति—निरुद्धेष्वास्रवद्वारेषु संवृतात्मनोऽपूर्वं कर्मप्रवेशो नास्ति, पूर्वोपात्तस्य च कर्मणः प्रतिक्षणं क्षयस्तपस्यतो भवति । यथोपचितस्याजीर्णस्य आमविदग्धविष्टब्धरसशेषलक्षणस्य आहारनिरोधे सति विशोषणाद्यः[2] प्रतिदिवसं क्षयो भवति प्रयत्नेन दोषाणामामादीनाम्[3] तद्वत्कर्मापि ज्ञानावरणादि चितं संसृतौ भ्रमता चतुर्थकाष्टमदशमद्वादशादिभिस्तपोविशेषैर्नीरसीकरोति । नीरसीकृतं च निरनुभाव्यं निष्पीडितकुसुंभवत् परिशटत्यात्म प्रदेशेभ्य इति ॥ १५९ ॥

अर्थ—जैसे बढ़ा हुआ भी विकार प्रयत्न करनेसे लंघनसे नष्ट होजाता है, वैसे ही सवरसे युक्त मनुष्य इकट्ठे हुए कर्मको तपस्यासे क्षीण कर डालता है ।

भावार्थ—संवरसे युक्त मनुष्य किस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करता है यह बतलाते हैं । आस्रवके द्वारोंके बन्द होजानेपर नये कर्मोंका तो प्रवेश ही नहीं होता । और पहले बाँधे हुए कर्म तपस्यासे प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं । जिस प्रकार बढ़ा हुआ भी अजीर्ण खाना बन्द करके लघन करनेसे प्रतिदिन क्षय होता है, उसी प्रकार संसारमें भ्रमण करते हुए जीवने जो ज्ञानावरणादि कर्म बाँध रखे हैं, चतुर्थक,

१–पादानेन–फ० ब० २–विशेषेणाया–फ० ब० । ३–दोपान्तमादी नाम्–फ० ब० ।

अष्टम, दशम, द्वादश आदि तपोंके द्वारा वे नीरस होजाते हैं। और नीरस होजानेसे विना फल दिये ही वे कर्म मसले गये कुसुंभके फूलकी तरह आत्मासे झड़ जाते हैं।

लोकभावनामधिकृत्याह—

लोकभावनाको कहते हैं:—

लोकस्याधस्तिर्यक्त्वं चिन्तयेदूर्ध्वमपि च बाहल्यम्।
सर्वत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगांश्च ॥ १६० ॥

टीका—जीवाजीवाधारक्षेत्रं लोकः, तस्याधस्तिर्यगूर्ध्वंश्च चिन्तयेत्। बाहल्यं विस्तरम्। अधः सप्तरज्जुप्रमाणो विस्तीर्णतया लोकः। तिर्यग् रज्जुप्रमाणः। ऊर्ध्वं ब्रह्मलोके पञ्चरज्जुप्रमाणः। पर्यन्ते रज्जुप्रमाण इति। अध (च) शब्दादूर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाण। सर्वत्र लोके जन्ममरणे समनुभूते व्यापकमधिकरणम्। नास्ति तिलतुषप्रमितोऽपि लोकाकाशदेशो यत्र न जातं न मृतं वा मयेति। रूपिद्रव्योपयोगांश्चेति रूपीणि यानि द्रव्याणि परमाणुप्रभृतीन्यनन्तानन्तस्कन्धपर्यवसानानि, तेषां य उपयोगः परिभोगो मनोवाक्कायाहारोच्छ्वासनिश्वासादिरूपेण सर्वेषां कृतोऽनादौ संपर्यटता, चास्मि न तृप्त इत्यनुक्षणमनुचिन्तयेदिति ॥ १६० ॥

अर्थ—नीचे, तिरछे और ऊपर लोकके विस्तारका विचार करना चाहिए तथा यह भी विचार करना चाहिए कि लोकमें सर्वत्र ही मैं जन्मा और मरा हूँ और सभी रूपी द्रव्योंका मैंने उपभोग किया है।

भावार्थ—जीवों और अजीवोंके आधारभूत क्षेत्रको लोक कहते हैं। उसके तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक या तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोकका विस्तार सात राजू है। तिर्यग्लोकका एक राजू है और ऊर्ध्वलोकका विस्तार ब्रह्मलोकके समीपमें पाँच राजू है और अन्तमें एक राजू है। 'च' शब्दसे अधोलोकसे लेकर ऊर्ध्वलोक तक सम्पूर्ण लोककी ऊँचाई चौदह राजू है। सभी लोकमें मैंने जन्म तथा मरणका अनुभव किया है। लोकाकाशमें तिल बराबर भी कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ मैंने जन्म न लिया हो और मैं मरा न होऊँ। परमाणुसे लेकर अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जितने पुद्गल द्रव्य हैं, कालसे भ्रमण करते हुए मैंने मन, वचन, काय, आहार और श्वास उच्छ्वास वगैरहके द्वारा उन सभीको भोग डाला है, तो भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है। इस प्रकार प्रतिसमय विचार करते रहना चाहिए।

स्वाख्यातधर्मभावनामधिकृत्याह—

स्वाख्यातधर्मभावनाको कहते हैं:—

धर्मोऽयं स्वाख्यातो जगद्धितार्थं जिनैर्जितारिगणैः।
ये[1]ऽत्र रतास्ते संसारसागरं लीलयोत्तीर्णाः ॥ १६१ ॥

१–यत्र र-प०

टीका—श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च सुष्ठु निर्दोषमाख्यातः। किमर्थमाख्यात इत्याह—जगद्धितार्थम्, जगच्छब्देन प्राणिनोऽभिधित्सिता जगद्भ्यः प्राणिभ्यो हितमेतदिति। प्रतिविशिष्टं प्रयोजनमुद्दिश्याख्यातः। जिनैस्तीर्थकृद्भिः। अरयः क्रोधादिपरीषहकर्माख्याः। जितोऽभिभूतो निराकृतोऽरिगणो यैस्ते जितारिगणाः। इत्थंलक्षणे च धर्मे आगमरूपे क्षमादिलक्षणे च। ये रताः सक्तास्ते संसारसागरं लीलया अनायासेन सुखपरम्परया। उत्तीर्णाः परं पारमुपताः। मोक्षं प्राप्ता इत्यर्थः॥ १६१॥

अर्थ—कर्मरूपी शत्रुओंके जेता तीर्थंकरोंने संसारके कल्याणके लिए इस आगमरूप और उत्तमक्षमादि लक्षण धर्मका निर्दोष कथन किया है। इसमें जो अनुरक्त हुए, उन्होंने संसाररूपी समूद्रको अनायास ही पार कर लिया।

भावार्थ—धर्मके मार्ग पर चलनेसे ही मनुष्य आत्म-कल्याण कर सकता है। जबतक वह धर्मके रास्ते पर नहीं चलता, उसका अनादि ससार-परिभ्रमणके चक्रसे छुटकारा नहीं हो सकता। कर्म शत्रुओपर विजय प्राप्त करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्ने इस धर्मके दो रूप बतलाये हैं। पहला आगमरूप है और दूसरा उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप है। आगमरूप धर्मसे मनुष्य स्व और परका बोध करता है और अपनी अविराम साधनासे संसार-चक्रसे मुक्ति-लाभ करता है। उत्तम क्षमादिरूप धर्मका लाभ भी प्राणियोको इसी प्रकार संसार सागरसे पार उतारता है।

दुर्लभबोधित्वभावनामधिकृत्याह—

दुर्लभबोधिभावनाको कहते हैं:—

मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्पतायुरुपलब्धौ।
श्रद्धाकथकश्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधिः॥ १६२॥

टीका—प्राक् तावन्मानुषजन्मैव दुर्लभं चोल्लकादिदृष्टान्तदशकेन विभावनीयम्। सति च मानुषजन्मनि कर्मभूमिः सुदुर्लभा। कर्मभूमिरपि यत्र तीर्थकृत उत्पद्यन्ते सद्धर्मदेशनाप्रवणाः परिनिर्वाणं प्राप्नुवन्ति भव्याः, पञ्च भरतानि, पञ्चैरावतानि विदेहाश्च पञ्चैव। मानुषत्वे कर्मभूमौ च सत्याम् आर्यो देशो मगधो वंगकलिंगादिर्वा दुर्लभः। सत्स्वेतेषु त्रिषु, कुलमन्वयविशुद्धिर्दुर्लभा। इक्ष्वाकुहरिवंशादि कुलम्। एतेष्वपि कुलपर्यन्तेषु कल्पता[1] नीरोगता दुर्लभा। एतेषु च कल्पतान्तेषु[2] अवाप्तेषु दीर्घमायुर्दुर्लभम्। आयुष्कान्तेषु च समासादितेषु श्रद्धाधर्म जिज्ञासा दुर्लभा। सत्यामपि जिज्ञासाया कथकः सद्धर्मस्याख्याता दुर्लभः। सत्यपि कथके श्रवणमाकर्णनं प्रस्तावाभावाद् दुर्लभम्, अनेकगृहकार्यव्यग्रत्वाद् आलस्यमोहावज्ञामदप्रमादकृपणत्वभयशोकाज्ञानकुतूहलादिभिश्च श्रवणं प्रति न प्रवृत्तिर्भवति। सत्स्वप्येतेषु श्रवणपर्यन्तेषु

१–कल्पना–फ० ब०। २–कल्पनान्तेषु,–फ० ब०।

प्राप्तेष्वपि सुदुर्लभा बोधिर्भवति । बोधिः सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानलाभः । तत्सम्यक्त्वं शङ्कादिशल्यरहितं सुदुर्लभं भवतीत्यर्थः ॥ १६२ ॥

अर्थ—मनुष्य जन्म, कर्मभूमि, आर्यदेश, कुल, नीरोगता, और आयुके प्राप्त होनेपर तथा श्रद्धा, सद्गुरु और शास्त्र-श्रवणके होनेपर भी सम्यग्ज्ञानका प्राप्त होना बड़ा कठिन है ।

भावार्थ—सबसे पहले मनुष्य जन्मका पाना ही दुर्लभ है। यदि मनुष्य जन्म मिल भी गया तो कर्मभूमिका मनुष्य होना दुर्लभ है। पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह, ये पन्द्रह कर्म भूमियाँ हैं। इनमें ही तीर्थंकर जन्म लेते हैं और सच्चे धर्मका उपदेश करते हैं, तथा यहींसे भव्यजीव मोक्ष प्राप्त करते हैं। मनुष्य जन्म और कर्मभूमिके प्राप्त होनेपर भी मगध, (बिहार) बंग, (बंगाल) कलिंग (उड़ीसा) वगैरह आर्य देशोंका मिलना दुर्लभ है। इन तीनोके मिलनेपर भी इक्ष्वाकु–हरिवंश जैसे शुद्ध कुलोंका मिलना दुर्लभ है। इन सबके मिलनेपर भी नीरोग शरीरका पाना दुर्लभ है। नीरोगताके पानेपर भी दीर्घ आयुका पाना दुर्लभ है। दीर्घ आयु पर्यन्त सब बातोके मिल जानेपर भी धर्मको जाननेकी इच्छाका होना दुर्लभ है। धर्मको जाननेकी इच्छाके होनेपर भी सच्चे धर्मका उपदेष्टा मिलना दुर्लभ है। उपदेष्टाके मिलनेपर भी उसका उपदेश सुनना दुर्लभ है। क्योकि घरके काम-धन्धोंमें व्यग्र रहनेके कारण तथा आलस्य, मोह, अनादर, घमड, प्रमाद, कजूसी, डर, रंज, अज्ञान, और खेल तमाशेके कारण धर्म-श्रवणकी ओर रुचि ही नहीं होती। मनुष्य जन्मसे लेकर श्रवणपर्यन्त सब बातोके प्राप्त होनेपर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है।

तां दुर्लभां भवशतैर्लब्ध्वाऽप्यतिदुर्लभा पुनर्विरतिः ।
मोहाद्रागात्कापथविलोकनाद्गौरववशाच्च ॥ १६३ ॥

टीका—तां दुर्लभा सम्यग्दर्शनादिकां बोधिमवाप्य। भूयोऽपिदुर्लभा विरतिः सर्वविरतिर्देशविरतिश्च। किं पुनः कारणं सम्यक्त्वलाभे सति विरतिर्दुर्लभेत्याह—मोहोऽज्ञानम्। मोह इदं कृत्वा इदं चानुष्ठाय ततः प्रव्रजिष्यामीति, श्रावकधर्मं वा प्रतिपत्स्ये न सर्वत्यागं कर्त्तुं शक्नोमीत्येतदज्ञानम् । नेदमवगच्छत्यकाण्डभङ्गुरमिदं जीवितं सहसैव ध्वंसते नाम, प्रस्तावं प्रतीक्षत[1] इति। रागाद्वा न लभते विरतिम्। पत्नीपुत्रादिषु, अनुरक्तहृदयो न शक्नोति त्यक्तुं गृहवासरतिम्। कुत्सिता पन्थानः कापथा, तैर्विलोकनं चित्तभ्रम । क पुनरत्र पन्था संसारादुत्तारणे क्षम इति कापथजनितभ्रान्तिदर्शनादपि भ्रंशमवाप्नोति। दूरतर एव चारित्रलाभः। गौरववशाच्चेति गौरवमादर, शक्तिः ऋद्धिरससुखेषु। ऋद्धिर्विभूतिर्महती द्रव्यसम्पत् ता हातुं न शक्नोति लोभकषायानुगतचेता। रसेष्वभीष्टेषु तिक्तादिषु शक्तिरादरो गौरवं तं शक्नोति हातुं रसनेन्द्रियवशीकरणात् । सुखगौरवं यथर्तुव्यपेक्षं प्रवातनिवातसाधारण शय्यासु शयनाहारमिष्टचन्दनादिविलेपनं गन्धधूपमाल्यादिसेवनमिष्टस्त्रीपरिभोगश्च तदप्रत्यलः परिहर्त्तुम्। अतो बोधिलाभे सत्यपि सर्वविरतिर्दुर्लभेत्युक्तम् ॥ १६३ ॥

१–प्रतीत–फ० ।

अर्थ—सैकड़ों भवोंमें उस दुर्लभ सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करके भी अज्ञानसे, रागसे, कुमार्गके देख लेनेसे और सांसारिक सुखके अधीन होनेसे चारित्रका प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ—सैकडों भव धारण करनेके बाद यदि किसी तरह सम्यग्ज्ञानका लाभ हो भी गया तो देशचारित्र और सकलचारित्रका पाना बड़ा कठिन हैं, क्योकि मनुष्यके पीछे मोह वगैरह लगे हुए हैं। मोहके वशीभूत हुआ मनुष्य सोचता है कि अमुक अमुक काम करके दीक्षा लूँगा। अथवा श्रावकके व्रत लूँगा। क्योकि मैं सकल त्याग नहीं कर सकता हूँ। मोहके उदयसे वह यह नहीं जानता है कि यह जीवन क्षणभगुर है, यह अचानक ही नष्ट होजाता है और यह किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता है। तथा रागके कारण भी चारित्र धारण नहीं कर पाता; क्योंकि पत्नी–पुत्र वगैरहमें अनुरक्त होनेके कारण वह घर नहीं छोड़ सकता। इसके सिवाय अनेक कुमार्गोंके मोहजालमें पड़कर भी वह सुमार्गको ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए भी चारित्रका लाभ उसे नहीं हो पाता। तथा लोभ कषायके वशमें होकर वह धन-सम्पदाको छोड़नेमें हिचकता है। रसना इन्द्रियके वशमें होनेके कारण इष्ट रसोंको नहीं छोड़ सकता। सुखमें आसक्त होनेके कारण ऋतुके अनुकूल आहार–विहार, शय्या, चन्दन वगैरहका लेप, धूप, माला, स्त्री वगैरहको छोड़नेमें असमर्थ होता है। अतः सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेपर भी सकलचारित्रका पाना दुर्लभ है।

तत्प्राप्य विरतिरत्नं विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः।
इन्द्रियकषायगौरवपरीषहसपत्नविधुरेण ॥ १६४ ॥

टीका—सकलं विरतिरत्नं प्राप्य यदुक्तं पूर्वं दुर्लभं तदवाप्य सर्वविरतिरत्नम्। विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः। विरागस्य मार्गो रागप्रहाणमार्गः यथोक्तलक्षणः, शास्त्रे "हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्", "दुःखमेव वा" इत्यादि। एवंलक्षणकस्य विरागमार्गस्य विजय परिचयोऽभ्यसनम्। अधिगम्यते प्राप्यतेऽधिगम्य', दुःखेनाधिगम्यो दुःप्राप्य इत्यर्थः। कस्मात् पुनर्दुःखेनाधिगम्यत इत्याह—इन्द्रियाणि परिपन्थानि विराग-मार्गस्य विघ्नकरणानि[2]। कषायाः क्रोधादयः, सपत्नाः शत्रव परिपन्थिनः। गौरवमुक्तलक्षणं त्रिधा–ऋद्धिरससाताख्यम्। क्षुत्पिपासादयः परिषहा, ते चानन्यतुल्याः सपत्नाः। एभिरि-न्द्रियादिभिः सपत्नैर्विधुरो विसंस्थुल आकुलीकृतः न वैराग्यमार्गमभ्यसितुं समर्थो भवति। इन्द्रियादिसपत्नविधुरेण न शक्यते विरागमार्गविजयः कर्तुमिति ॥ १६४ ॥

अर्थ—उस सकलचारित्ररूप रत्नको प्राप्त करके, इन्द्रिय, कषाय, विषय-सुखमें आदरभाव और परीषहरूप शत्रुओंके द्वारा व्याकुल हुए मनुष्यके लिए वैराग्य-मार्गको जीतना अत्यन्त कठिन है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ, क्रोधादि कषाय, धन-सम्पदा, रस और सुखमें आदरभाव और भूख प्यास की बाधा, ये सभी वैराग्य मार्गके शत्रु है। सकलचारित्र धारण करके भी जो इन्हें नहीं जीत सका, वह वैराग्य मार्गका अभ्यास नहीं कर सकता। अतः वैराग्यका मार्ग सकलचारित्रसे भी दुष्कर है।

१-सम्पन्न–व०। २-कारणानि–फ० व०।

तस्मात्परीषहेन्दियगौरवगणनायकान् कषायरिपून् ।
क्षान्तिवलमार्दवार्जवसन्तोषैः साधयेद्धीरः ॥१६५॥

टीका—यस्मादेते रिपवो बलिनः कषायगणनायका । तस्मात् कषायानेव पूर्वं नायकानिन्द्रियादीनां विजयेत । जितेषु च नायकेषु हतं सैन्यमनायकमिन्द्रियादीनि। गणशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, इन्द्रियगणस्य, परीषहगणस्य, गौरवगणस्य च नायकाः प्रवर्तका नेतारः। तान् कषायान् वैरिणः क्षान्तिवलमार्दवार्जवसन्तोषैर्यथासंख्यं साधयेद्धीरः। बल-शब्दः प्रत्येकमाभिसंबध्यते, क्षान्तिबलेन मार्दवबलेन आर्जवबलेन सन्तोषबलेन चतुरङ्गबले-नामुना बलेन साधयेत् उत्थितान् विरागमार्गाद्धीरः सात्विक इत्यर्थः। यथासंख्यं क्रोधादयो रिपवः क्षान्त्यादिर्बलैः साध्या भवन्ति ॥ १६५ ॥

अर्थ—अतः धीर मनुष्यको परीषह, इन्द्रिय और गौरव (विषय सुखमें आदर भाव)के समूहके नायक कषायरूपी शत्रुओंको क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोषरूपी बलके द्वारा जीतना चाहिए।

भावार्थ—यतः ये शत्रु बलवान् हैं और उनका प्रधान नेता कषाय है, अतः पहले कषायोंको ही जीतना चाहिए। क्योंकि सेनापतिके पराजित होनेपर विना नायककी सेना स्वय ही पराजित हो जाती है। गण शब्दको प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए। अर्थात् इन्द्रियगण, परीषहगण, और गौरव-गणके नेता कषायरूपी शत्रुओंको क्रमश क्षमाबल, मार्दवबल, आर्जवबल और सन्तोषरूपी चतुरङ्ग सेनासे वशमें करना चाहिए। अर्थात् क्रोध कषायको क्षमाबलसे, मान कषायको मार्दवबलसे, माया कषायको आर्जवबलसे और लोभ कषायको संतोषबलसे जीतना चाहिए।

संचिन्त्य कषायाणामुदयनिमित्तमुपशान्तिहेतुं च ।
त्रिकरणशुद्धमपि तयोः परिहारासेवने कार्ये ॥ १६६ ॥

टीका—कषायाणामुदयनिमित्तमालोच्य क्रोधादीनामनेकनिमित्तेन अयं क्रोधादि कषायो जायत इति उपशान्तिहेतुं च संचिन्त्य अनेन क्रियमाणेनायमुपशाम्यति कषायः प्रशमं गच्छति। अतस्तयोरुदयनिमित्तप्रशमहेत्वोर्यथासंख्यं परिहार आसेवनं च कार्यम्। परिहारोऽपि कार्य[1] कायवाग्मनोभिः कृतकारितानुमतिभिश्चोदय—निमित्तस्य, उपशान्तिहेतू-नामपि कृतकारितानुमतिभिः[2] कषायादिभिश्चासेवनं त्रिकरणशुद्धं कार्यमिति रागद्वेषमोहाना निवारणार्थम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—कषायोंके उदयके निमित्तको और उपशमके निमित्तको अच्छी तरहसे विचारकर मन, वचन और कायकी शुद्धिसे उन दोनोंका क्रमश. त्याग और सेवन करना चाहिए।

भावार्थ—यह विचारना चाहिए कि किस निमित्तसे क्रोध वगैरह उत्पन्न होते हैं और किस निमित्तसे उनकी शान्ति होती है ? दोनोंका विचार करके मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमो-

१—परिहारो सेवने कार्यः ब. । २—मति......रागद्वेषमोहाना फ.।

दनासे उत्पत्तिके निमित्तोको त्यागना चाहिए और शान्तिके निमित्तोंका पालन करना चाहिए। अर्थात् जिन जिन कारणोंसे कषाय उत्पन्न होती हो, उन उन कारणोंसे दूर रहना चाहिए और जिन जिन कारणोसे कषाय शान्त होती हो, उन उन कारणोंका अभ्यास करना चाहिए।

सेव्यः क्षान्तिर्मार्दवमार्जवशौचे च संयमत्यागौ।
सत्यतपोब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्मविधिः॥ १६७

टीका—सेव्योऽनुष्ठेयो दशविधो धर्मः। तान् दशभेदान् नामग्राहमाचष्टे। क्षान्तिः 'क्षमूष्' सहने, क्षमितव्या आक्रोशप्रहारादय। मार्दवं मानविजयस्तद्धत्तापनोदः। आर्जवं ऋजुता यथाचरिताख्यायिता। शुचिभाव शौचम्। अलोभता विगततृष्णत्वम्। संयमः पञ्चास्रवादिविरमणं पृथिवीकायसयमादिर्वा सप्तदशभेदः। वधबन्धनादित्यागः प्रासुकैषणीयं वा साधुभ्यो भक्तपानवस्त्रपात्रादिदानं यतिरेव ददाति स च त्यागः। सत्यं सद्भ्यो हितं सत्यम्। तच्चापि संवादनादि चतुर्विधम्। तपो द्वादशभेदमनशनादिकम्। ब्रह्म अब्रह्मणो निवृत्तिर्मैथुननिवृत्तिरित्यर्थः। अकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्यं निष्परिग्रहता। धर्मोपकरणादृते नान्यत् किञ्चन परिग्राह्यम्। एष धर्मस्य विधिर्भेद इत्यर्थः॥ १६७॥

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, त्याग, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, और आकिञ्चन्य—धर्मके ये दस भेद हैं। इनका सेवन करना चाहिए।

भावार्थ—धर्मके दस भेदोका पालन करना चाहिए। उन दस भेदोंको बतलाते हैं। शान्तभावसे गाली-गलौज और मार वगैरहके सहनेको क्षमा कहते हैं। मान कषायके जीतनेको मार्दव कहते हैं। सरलताको आर्जव कहते हैं, अर्थात् जैसा करना वैसा ही कहना आर्जव है। पवित्रताको शौच कहते है, अर्थात् लोभ न करना—तृष्णाका न होना-शौच है। आस्रवके कारण हिंसा वगैरह पाँच पापोंसे विरक्त होना अथवा पृथिवीकाय वगैरहमें संयम करना संयम है। वध, बन्धन वगैरहका त्यागना अथवा साधुओंको प्रासुक भिक्षा देना त्याग है। हितकर वचन बोलना सत्य है। अनशन आदिको तप कहते हैं। मैथुनसे निवृत्त होनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। परिग्रहके अभावको अर्थात् धर्मके उपकरणोंके सिवाय अन्य कुछ भी परिग्रहके न रखनेको आकिञ्चन्य कहते है।

क्षान्तेः प्राधान्यं प्रदर्शयन्नाह—

क्षमाधर्मकी प्रधानता बतलाते हैं—

धर्मस्य दया मूलं न चाक्षमावान् दयां समादत्ते।
तस्माद्यः क्षान्तिपरः स साधयत्युत्तमं धर्मम्॥ १६८॥

टीका—योऽयं दशप्रकारो धर्मस्तस्य धर्मस्य दया मूलम्। दया प्राणिनां रक्षाऽहिंसेत्यर्थः। सा मूलं प्रतिष्ठा, धर्मस्याहिंसादिलक्षणत्वात्। प्राणिप्राणरक्षणार्थश्चाशेष-

व्रतोपदेशः। न चाक्षमावान् दयां समादत्ते। अविद्यमानक्षान्तिरक्षमः, नासौ दया-समादत्ते, न संगृह्णातीति। क्रोधाविष्टो हि न कश्चिदपेक्षते चेतनमचेतनं वा ऐहिकमामुष्मिकं वा प्रत्यवायम्, तस्माद्यः क्षमाप्रधानः क्षान्त्या वा प्रकृष्टः स साधयत्याराधयति। दशलक्षणमुत्तमं धर्ममिति॥ १६८॥

अर्थ—धर्मका मूल दया है; किन्तु जो क्षमाशील नहीं है वह दयाको धारण नहीं कर सकता। अत जो क्षमा धर्ममें तत्पर है, वही उत्तम धर्मको साधन करता है।

भावार्थ—धर्मके जो दस भेद बतलाये गये हैं, उनका मूल दया है। क्योंकि दया अहिंसाको कहते हैं और धर्मका लक्षण अहिंसा ही है। जितने व्रत बतलाये गये हैं वे सब प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिए ही बतलाये गये हैं। किन्तु जो क्षमाशील नहीं है, वह प्राणियों-पर दया नहीं कर सकता, क्योंकि क्रोधी मनुष्यको चेतन-अचेतन अथवा इसलोक—परलोकका कोई ध्यान नहीं रहता। अतः जो क्षमाधर्मके पालन करनेमें सदा तत्पर रहता है वही दशलक्षण धर्मका पालन कर सकता है।

मार्दवमधिकृत्याह—

मार्दवधर्मको कहते हैं.—

विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे विनयश्च मार्दवायत्तः।
यस्मिन् मार्दवमखिलं स सर्वगुणभाक्त्वमाप्नोति॥ १६९॥

टीका—विनयो ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराख्यः। तदायत्ता गुणाः[2]। स च विनयो मार्दवायत्तः। मार्दवं च मानविजयः। गर्वे निराकृते उपचारविनयोऽभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिकः शक्यः कर्त्तुम्। यत्र च पुरुषे मार्दवमखिलं जात्यादिमदाष्टकनिराकारि स सर्वगुणभाग् भवति। ज्ञानदर्शनचारित्रसाध्याः सर्वे गुणास्तत्र संभवन्तीति। तस्मान्मानं निराकृत्य मार्दवमासेवनीयम्॥ १६९॥

अर्थ—सब गुण विनयके आधीन हैं और विनय मार्दवधर्मके आधीन है। जिसमें पूर्ण मार्दवधर्म है वह सब गुणोंको प्राप्त करता है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके प्रति मन, वचन और कायसे जो आदरभाव प्रगट किया जाता है, उसे विनय कहते हैं। सब गुणोंका मूल विनयगुण है। यह विनय-गुण उसीको प्राप्त होता है, जो मानको जीत लेता है, क्योंकि गर्वसे दूर हो जानेपर ही दूसरोंके लिए उठकर खड़ा हो जाना, और हाथ जोड़ना वगैरह काम किये जा सकते हैं। और जिस मनुष्यमें आठों मदोंको दूर करनेवाला मार्दवधर्म वास करने लगता है, वह मनुष्य सर्वगुण-सम्पन्न होता है—सभी गुण आकर उसमें बस जाते हैं। अत मानको दूर करके मार्दवका सेवन करना चाहिए।

१-प्रसादः ब०। २-गुणाः सर्वे मूलोत्तराख्याः ब०।

मायामधिकृत्याह—

आर्जवधर्मको कहते हैं :—

नानार्जवो विशुध्यति न धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा ।
धर्मादृते न मोक्षो मोक्षात्परं सुखं नान्यत् ॥ १७० ॥

टीका—माया शाठ्यं कौटिल्यम्, तत्प्रतिपक्षमार्जवं ऋजुता यथाचेष्टितं तथाख्याति, न किञ्चिदपह्नुते । यस्तु तथा न करोति, स खल्वनार्जवः, तस्य च शुचिर्नास्ति । तस्माद्यथाख्यातापराधप्रतिपन्नप्रायश्चित्तस्य शुद्धिर्जायते । तद्विपरीतस्य न जातुचिच्छुद्धिः । न चाशुद्धात्मा धर्ममाराधयति क्षमादिकम् । न चामुं धर्ममन्तरेण मोक्षावाप्तिः । न च मोक्षावाप्तिमन्तरेणैकान्तिकात्यन्तिकादिसुखलाभ इति । तस्मादृजुना भवितव्यमालोचनादाविति ॥ १७० ॥

अर्थ—आर्जवके विना शुद्धि नहीं होती । अशुद्ध आत्मा धर्मका आराधन नहीं कर सकता । धर्मके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और मोक्षसे बढकर दूसरा कोई सुख नहीं है ।

भावार्थ—कुटिलताको माया कहते हैं । उसका प्रतिपक्षी आर्जव है । आर्जव सरलताको कहते हैं । अर्थात् जैसा किया वैसा कह देना और गुरुसे कुछ भी न छिपाना आर्जवधर्म है । जो ऐसा नहीं करता, उसकी शुद्धि नहीं होती । अत जो अपने किये हुएको जैसाका तैसा गुरुसे कह देता है और गुरु जो प्रायश्चित्त देते हैं, उसका पालन करता है, उसकी शुद्धि होती है । किन्तु जो किये हुए अपराधको छिपा जाता है, उसकी शुद्धि कभी भी नहीं होती । ऐसा कपटी आत्मा क्षमा वगैरह धर्मका भी ठीक ठीक पालन नहीं कर सकता और उनके पालन किये विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । तथा मोक्ष प्राप्त किये विना अविनश्वर सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः साधुको आलोचना आदि करते समय सदा सरल रहना चाहिए ।

शौचमधिकृत्याह—

शौचधर्मको कहते हैं :—

यद्द्रव्योपकरणभक्तपानदेहाधिकारकं शौचम् ।
तद्भवति भावशौचानुपरोधाद्यत्नतः कार्यम् ॥ १७१ ॥

टीका—द्विविधं शौचं द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्य शौच्यं बाह्यद्रव्यम् । बाह्यद्रव्यं च सचेतनमचेतनं वा शैक्षादि, "अट्ठारस पुरिसेसु वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु । पव्वावणा अणरिहा अणहा पुण इत्थिया चेव ॥" इत्यादि सदोषत्वात्त्याज्यम् । उपकरणमुपकारि ज्ञानादीनाम् । तच्चोद्गमादिशुद्धं शुचि भवति, अन्यथाऽशुचीति । तथा भक्तपानमप्युद्गमादिदोषरहितं शुचि, अन्यथाऽशुचीति । देहशौचं तु पुरीषाद्युत्सर्गपूर्वकं निर्लेपं निर्गन्धं चेति एतानि प्रयोजनान्यधिकृत्य यत्प्रवृत्तं तदधिकारकं तद्भवति तत्कार्यं कर्त्तव्यं भवतीति । भाव शौचस्यानु-

परोधादबाधनात्। यत्नत इति प्रयत्नतः परीक्ष्य सचेतनमितरद्वा उपकरणादि मलप्रक्षालना दिष्वपि प्रवचनोक्तेन विधिनाऽनुष्ठेयम्। भावशौचं तु निर्लोभता। लोभकषायानुरञ्जितो दुःप्रक्षाल इति, तत्प्रक्षालनं च परमार्थतो भावशौचमिति॥ १७१॥

अर्थ—द्रव्य उपकरण खान-पान और शरीरको लेकर जो शौच किया जाता है, उसे प्रयत्नसे इस प्रकार करना चाहिए कि उससे भाव-शौचमें बाधा न हो।

भावार्थ—शौच दो तरहका होता है—एक द्रव्यशौच और दूसरा भावशौच। द्रव्यशौच बाह्य द्रव्यको लेकर किया जाता है। जितना भी चेतन अथवा अचेतन बाह्य द्रव्य है, उसे सदोष जान त्याग देना चाहिए। ज्ञानादिकमें जो सहायक हो, उसे उपकरण कहते हैं। जो उपकरण उद्गम आदि दोषोंसे शुद्ध होता है, वह पवित्र होता है। जो वैसा नहीं होता है, वह अपवित्र है। खान-पान भी जो उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है वह पवित्र होता है और जो वैसा नहीं होता वह अपवित्र है। मल-मूत्रका त्याग करनेके बाद लेप और गन्धसे रहित देह पवित्र है। ये सब द्रव्य शौच हैं। इन सब द्रव्य शौचोंको इस प्रकार करना चाहिए कि भावशौचमें कोई बाधा न आवे। अर्थात् उपकरणको खूब देख-भाल करके ही लेना चाहिए और मल-शुद्धिमें भी शास्त्रमें उपदिष्ट विधिके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। निर्लोभताको भावशौच कहते हैं। जिसका आत्मा लोभ कषायसे रंगा हुआ है, उसकी शुद्धि होना कठिन है। और लोभका त्याग ही यथार्थमें भावशौच है।

संयममधिकृत्याह—

संयमधर्मको बतलाते है—

पञ्चास्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः॥ १७२॥

टीका—सम्यगुपरम पापस्थानेभ्य. सयमः सप्तदश प्रकार.—पञ्चास्रवाः प्राणातिपातमृषा-भाषणादत्तादानमैथुनपरिग्रहाः कर्मादानहेत—वस्तेभ्यो विरमणं विरतिकरणं संयमः। पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि तेषां निग्रहो नियमनं निरोध। शब्दादिषु गोचरप्राप्तेष्वरक्त-द्विष्टता माध्यस्थ्यम्। कषः संसार, कष्यते यत्र जीवः स्वकृतैः कर्मभिः कदर्थ्यते पीड्यते तस्यायाः प्राप्तिहेतवः क्रोधादयश्चत्वारस्तेषां जयोऽभिभवउदयनिरोध, उदितानां वा विफलतापादनम्। दण्डा मनोवाक्कायाख्याः। अभिद्रोहाभि मानेर्ष्यादिलक्षणो मनोदण्डः। हिंस्रपरुषानृतादिलक्षणो वाग्दण्डः। धावनवल्गनप्लवनादि—रूपः कायदण्डः। एभ्यो विरतिर्निवृत्ति। एवमेष संयमः सप्तदशभेदो भवति। आर्षे त्वन्येन क्रमेणायमेवार्थो निबद्ध। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियेषु संयमः। तथा पुस्तकाद्यपरिग्रहः अजीवकायसंयमः। प्रेक्षाप्रेक्षाप्रमार्जनापरिष्ठापनसंयमः मनोवाक्काय संयम इति॥ १७२॥

अर्थ—आस्रवके कारण पॉच पापोंसे विरक्त होना, पाँचों इन्द्रियोंका दमन करना, चार कषायोंको जीतना और मन, वचन, और कायकी प्रवृत्तिको रोकना—इस प्रकार सयमके सत्रह भेद है।

भावार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—ये पाँच पाप कर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इनका त्याग करना चाहिए। स्पर्शन वगैरह पॉच इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिए। जो शब्द आदि कानमें पड़ें उन्हें सुनकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। जहॉपर जीव अपने द्वारा किये हुए कर्मोंसे सताया जाता है, उसे कष अर्थात् संसार कहते हैं। उस संसारकी प्राप्तिके कारण क्रोध वगैरह कषाय कहे जाते हैं। उन्हें जीतना चाहिए, अर्थात् उनके उदयको रोकना चाहिए। और जो उदयमें आ रहे है, उन्हें बेकार कर देना चाहिए।

दण्डके तीन भेद हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। अभिद्रोह अभिमान और ईर्षा वगैरहको मनोदण्ड कहते हैं। हिंसक, कठोर और असत्य वचनको वचनदण्ड कहते हैं। दौड़ना कूदना फाँदना वगैरहको कायदण्ड कहते हैं। इनको नहीं करना चाहिए। ये सब संयमके भेद हैं। आगममें इन्हें दूसरी तरहसे गिनाया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रियकी रक्षा करना संयम है। पुस्तक वगैरह न रखना अजीवकाय सयम है।

त्यागमधिकृत्याह—

त्यागधर्मको कहते है—

बान्धवधनेन्द्रियसुखत्यागात्त्यक्तभयविग्रहः साधुः।
त्यक्तात्मा निर्ग्रन्थस्त्यक्ताहंकारममकारः॥ १७३॥

टीका—बान्धवाः स्वजनकाः, धनं हिरण्यसुवर्णादि, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, तद्विषयं सुखम्। एषां त्यागादिन्द्रियसम्बन्धी सुखत्यागः। प्राप्तेषु विषयेषु स्पर्शादिषु माध्यस्थ्यम्। त्यक्तभयविग्रहः साधुः, भयमिहपरलोकादानादि सप्तविधम्, विग्रह शरीरं तस्य त्यागो निष्प्रतिकर्मशरीरता, कलहः द्वन्द्वादिर्वा विग्रहः। व्यक्तात्मा असंयमपरिणामलक्षण आत्मा। अष्टविधग्रन्थविजयप्रवृत्तो निर्ग्रन्थः। त्यक्ताहंकारममकार इति अरक्तद्विष्ट इत्यर्थ॥ १७३॥

अर्थ—कुटुम्ब, धन और इन्द्रिय सम्बन्धी सुखको त्याग देनेसे जिसने भय और कलहको त्याग दिया है तथा अहंकार और ममकारको त्याग दिया है, उस त्यागमूर्ति साधुको निर्ग्रन्थ कहते हैं।

भावार्थ—कुटुम्ब, धन, इन्द्रिय-सुख, भय, कलह अथवा शरीर, राग, द्वेष आदि परिग्रहके त्यागनेको त्याग कहते हैं।

सत्यमधिकृत्याह—

सत्यको कहते हैं:—

अविसंवादनयोगः कायमनोवागजिह्मता चैव ।
सत्यं चतुर्विधं तच्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥ १७४ ॥

टीका—विसंवादनमन्यथास्थितस्यान्यथा भाषणम्, गामश्वम् अश्वं वा गामिति भाषते । पिशुनो वाऽन्यथा चान्यथा च व्युद्ग्राह्य प्रीतिच्छेदनं करोति विसंवादयति । विसंवादनेन योगः सम्बन्धः, न विसंवादनयोगोऽविसंवादनयोगः । सत्यं यथा दृश्यमानवस्तु—भाषणम् । कायेनाजिह्मता जिह्मः कुटिलो मलीमसः, कायेनान्यवेषधारितया प्रतारयति, न जिह्मोऽजिह्म द्वितीय सत्यभेद । मनसा वाऽजिह्मता सत्यम्, मनसा प्रागालोच्य भाषते वा, प्रायो न तादृगालोचयति जिह्मेन येन पर प्रतार्यते, एष तृतीयो भेदः । वागजिह्मता च सत्यम् जिह्मा वाक् सद्भूतनिह्नवा, असद्भूतोद्भावनं कटुकपरुषसावद्यादि चेति चतुर्थो भेदः । एतच्च जैनेन्द्र एव मते, नान्यत्र सत्यमिति ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसा देखना वैसा कहना, काय, मन और वचनकी अकुटिलता, ये सत्यके चार भेद हैं । यह सब धर्म जिनेन्द्रदेवके मतमें ही कहा गया है । अन्य मतोंमें नहीं कहा गया ।

भावार्थ—अन्य वस्तुको अन्यरूपमें कहना, जैसे गायको घोड़ा कहना और घोड़ेको गाय कहना विसवादन है । अथवा चुगलखोर आदमी झूठी बातें बनाकर किसीकी प्रीतिको नष्ट करता है, उसे भी विसवादन कहते हैं । इस प्रकारके विसवादनको न करना और जैसी बात हो वैसी कहना, यह सत्यका पहला भेद है । जिह्म कुटिलको कहते हैं, कुटिल आदमी झूठा वेष बनाकर शरीरसे दूसरोंको ठगता है । ऐसा न करना सत्यका दूसरा भेद है । मनमें कुटिलताका न होना भी सत्य है । सच्चा आदमी पहले मनमें विचार करता है । वह ऐसी बातें नहीं सोचता, जिससे दूसरोंको ठगा जासके । यह सत्यका तीसरा भेद है । वचनमें कुटिलताका न होना भी सत्य है । सच्ची बातको छिपाना, झूठी बातको प्रकट करना, तथा कडुवा, कठोर और सावद्य वचन बोलना असत्य है । ऐसा न करना सत्य है । यह सत्यका चौथा भेद है । सत्यके ये चार भेद जिनशासनमें ही कहे गये हैं, क्योंकि अन्य मतोंमें कठोर आदि वचनोंको असत्य नहीं कहा गया है ।

तपः सम्प्रत्युच्यते—

तपको कहते हैः—

अनशनमूनोदरता वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥ १७५ ॥

टीका—तत्रानशनं चतुर्थभक्तादि षण्मासान्तम्, तथाऽपरं भक्तप्रत्याख्यानम्, इङ्गिनीमरणम्, पादोपगमनमिति । ऊनोदरता द्वात्रिंशतः कवलेभ्यो यथाशक्ति नूनयत्याहारं यावदष्टकवलाहार इति । वृत्तिर्वर्तनं भिक्षा तस्या संक्षेपणं परिमितग्रहणं दत्तिभिर्भिक्षाभिश्च । रसत्यागः, रसाः क्षीरदधिनवनीतघृतगुडादिप्रभृतयो विकृतयस्तासां त्याग । कायक्लेश

कायोत्सर्गोत्कटुकासनातापनादिः। संलीन आगमोपदेशेन, तद्भाव संलीनता इन्द्रियनोइन्द्रिय-भेदात् द्विधा। इन्द्रियैः संलीन संहतेन्द्रियव्यापारः कूर्मवत्, यथाऽङ्गानि स्वात्मन्याहारयति कूर्म तद्वादिन्द्रियाणि आत्मन्याहृत्य तिष्ठति साधू रागद्वेषहेतुभ्य शब्दादिभ्यो निवर्त्य व्यवस्थापितेन्द्रिय इन्द्रियसंलीनः। नोइन्द्रियं मन क्रोधादयश्च। आर्त्तरौद्रध्यानरहिते मनसि नोइन्द्रियसंलीनः। क्रोधादीनामुदयनिरोधः उदयप्राप्तानां च वैफल्यापादनं नो-इन्द्रियसंलीनता। षोढा विभक्तं बाह्यं तपः परोक्षलक्ष्यत्वाद्बाह्यमुच्यते ॥ १७५ ॥

अर्थ—अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता-ये बाह्यतप कहे गये हैं।

भावार्थ—एक उपवास लेकर छह उपवासतक खान-पानका त्यागना अनशन है। तथा भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और पादपोपगमनमें जो जीवनपर्यन्त खान-पानका त्याग किया जाता है, वह भी अनशनतप है। बत्तीस कौरसे यथाशक्ति कम आहार करना ऊनोदर है। भिक्षाको परिमित करनेके लिए घर वगैरहका परिमाण करना कि आज मैं इतने घरोंसे भिक्षा ग्रहण करूँगा, वृत्तिसंक्षेप है। दूध, दही, घी, गुड़ वगैरह रसोंके त्यागको रसत्याग कहते हैं। कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, आतापन वगैरहके द्वारा शरीरको क्लेश देनेको कायक्लेश कहते हैं। संलीनताके दो भेद हैं—इन्द्रियसंलीनता और नोइन्द्रियसंलीनता, जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको संकोच लेना है, उसी प्रकार साधु राग-द्वेषके कारण शब्द वगैरहसे अपनी इन्द्रियोंको संकोच लेता है। इसे इन्द्रियसंलीनता कहते हैं। आर्तध्यान, रौद्रध्यानका न होना, क्रोध वगैरहको उत्पन्न न होने देना और यदि उत्पन्न हो जावे तो उसे विफल कर देना नोइन्द्रियसंलीनता है। बाह्यतपके ये छह भेद हैं। ये छहों तप दूसरोंके द्वारा देखे जाते हैं, इसलिए उन्हें बाह्यतप कहते हैं।

आभ्यन्तरतपोनिरूपणायाह—

आभ्यन्तरतपका निरूपण करते हैं:—

प्रायश्चित्तध्याने वैयावृत्यविनयावथोत्सर्गः।
स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमभ्यन्तरं भवति ॥ १७६ ॥

टीका—प्रायो बाहुल्येन चित्तविशोधनं प्रायश्चित्तमालोचनादि कृतातीचारमल-प्रक्षालनार्थम्। एकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानमामुहूर्तात्। तत्रार्त्तरौद्रे व्युदसनीये। आर्त्तं चतुर्विधम् अमनोज्ञविषयसंप्रयोगे तद्विप्रयोगार्थं चित्तनिरोध। शिरोरोगादिवेदनायाश्च विप्रयोगार्थो मनोनिरोध.। मनोज्ञविषयसम्प्रयोगे तदविप्रयोगार्थो मनोनिरोध.। चन्दनोशीरादिजनित-सुखवेदनायाश्चाविप्रयोगार्थश्चित्तनिरोध आर्त्तध्यानम्। रौद्रं हिंसानुबन्धि, मृषानुबन्धि, स्तेयानुबन्धि, विषयसंरक्षं चेति। एतयोस्त्यागस्तप। धर्म्यं शुक्लं च ध्यानमनुष्ठेयम्। धर्मादनपेतं धर्म्यं चतुर्विधम्-आज्ञाविजयमपायविजयं विपाकविजयं संस्थानविजयं चेति।

शुक् शोको दुःख शारीरं मानसं चेति तल्लुनाति विच्छेदयतीति शुक्लम् । पृषोदरादिपाठाच्च संस्कारः । तच्चतुर्विधम्–पृथक्त्ववितर्कं सविचारम्, एकत्ववितर्कमविचारम्, सूक्ष्मक्रियम प्रतिपाति, व्युपरतक्रियमनुवर्त्तनम् । व्यापृतभावो वैयावृत्यम्, आचार्योपाध्यायादीनां भक्त पानवस्त्रपात्रादिना दशानामुपग्रह, शरीरशुश्रूषा चेति । विनीयते येनाष्टविध कर्म स विनय ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारभेदः । तत्रोपचारविनयो विनयार्हेषु अभ्युत्थानमासदानाञ्जलिप्रग्रह दण्डकग्रहणचरणप्रक्षालनमर्दनादि । व्युत्सर्गोऽतिरिक्तोपकरणसंसक्तभक्तपानादेरुज्झनम् । अभ्यन्तरस्य च मिथ्यादर्शनकषायादेरपाकरणम् । स्वाध्याय पञ्चधा-वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेशश्च । तत्र वाचना आलापकदानम्, संजातसन्देहपृच्छनपृच्छना, अनुप्रेक्षा मनसा परिवर्तनमागमस्य, आम्नाय आत्मानुयोगकथनम्, धर्मोपदेश आक्षेपणी विक्षेपणी संवेदनी निर्वेदनी चेति कथा धर्मोपदेशः । एवमभ्यन्तरमपि षोढा तपः ॥ १७६ ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, उत्सर्ग और स्वाध्याय इस प्रकार आभ्यन्तरतप छह प्रकारका होता है ।

भावार्थ—किये हुए दोषोंको दूर करनेके लिए जो आलोचना आदि की जाती है । उसे प्रायश्चित्त कहते हैं । अन्तर्मुहूर्तके लिए एक विषयमें मनके लगानेको ध्यान कहते हैं । उसके चार भेद हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल । आर्त्तध्यानके भी चार भेद हैं—(१) अप्रिय वस्तुका सम्बन्ध होनेपर उसके वियोगके लिए चिन्ता करना, (२) सिरदर्द वगैरहकी पीड़ाको दूर करनेके लिए चिन्ता करना, (३) प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर उसके सयोगके लिए चिन्ता करना और (४) चन्दन खस वगैरहके लगानेसे उत्पन्न हुए सुखका वियोग न होनेके लिए चिन्ता करना ।

रौद्रध्यानके भी चार भेद हैं—(१) हिंसामें आनन्द अनुभव करना, (२) झूठ बोलनेमें आनन्द अनुभव करना, (३) चोरी करनेमें आनन्द अनुभव करना और (४) परिग्रह-संचयमें आनन्द अनुभव करना । ये दोनों ही ध्यान छोड़नेके योग्य हैं और धर्म्य तथा शुक्लध्यान करनेके योग्य हैं ।

धर्मयुक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं । उसके भी चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय विपाकविचय और सस्थानविचय ।

जो ध्यान शारीरिक और मानसिकदुःखका छेदन करता है, उसे शुक्लध्यान कहते हैं, उसके भी चार भेद हैं :—(१) पृथक्त्ववितर्कविचार (२) एकत्ववितर्कअविचार, (३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति, और (४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति ।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, गण, कुल, सघ, रोगी, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके साधुओंकी सेवा-शुस्रूषा करनेको वैयावृत्य कहते हैं । ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचारके भेदसे विनयके

१–तत्त्वार्थसूत्र आदिमें इसके स्थानपर निदान नामका भेद किया है । निदानका अर्थ होता है—आगामी सुख प्राप्तिके लिए चिन्ता करना ।

चार भेद हैं। विनय करनेके योग्य आदरणीय पुरुषोंको देखकर उठना, उन्हें बैठनेके लिए आसन देना, उनके आगे हाथ जोड़ना, उनके उपकरण लेना, पैर धोना, अङ्ग दबाना वगैरह उपचारविनय है। शेष तीनों स्पष्ट हैं। अधिक उपकरण, भक्त-पान वगैरहके त्यागनेको बाह्यव्युत्सर्ग कहते हैं। और मिथ्या-दर्शन आदिके त्यागनेको अभ्यन्तरव्युत्सर्ग कहते हैं।

स्वाध्यायके पाँच भेद हैं—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। शब्द तथा अर्थके पाठको वाचना कहते हैं। सन्देह दूर करनेके लिए पूछनेको पृच्छना कहते हैं। आगमके अर्थका मनमें चिन्तन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। पाठके शुद्धतापूर्वक उच्चारण करनेको आम्नाय कहते हैं। आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, और निर्वेदनीकथाके करनेको धर्मोपदेश कहते हैं। इस प्रकार आभ्यन्तर-तपके भी छह भेद होते हैं।

सम्प्रति ब्रह्मचर्यप्रतिपादनायाह—

अब ब्रह्मचर्यको कहते हैं—

दिव्यात्कामरतिसुखात्त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।
औदारिकादपि तथा तद्ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥ १७७ ॥

टीका—दिव्यं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कविमानवासिदेव्यः, ताभ्यो विरतिस्त्रिविधं त्रिविधेनेति। मनसा न करोति न कारयति, नानुमन्यते। एवं वाचा कायेन चेति ते नवभेदाः। औदारिकं मानुष्यतिर्यक्स्त्रीषु। तत्र मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च विरतिरिति नवकम्। तदेतद्ब्रह्माष्टादशभेदं भवति ॥ १७७ ॥

अर्थ—देवता सम्बन्धी तथा औदारिकशरीर सम्बन्धी कामभोगसे नौ नौ प्रकारसे विरत होनेसे ब्रह्मचर्यके अठारह भेद होते हैं।

भावार्थ—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवियोंके भोग-सुखसे मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनापूर्वक विरत होनेसे नौ भेद होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्यके अठारह भेद हैं।

आकिञ्चन्यमधिकृत्याह—

आकिञ्चन्यधर्मको कहते हैं:—

अध्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रहं वर्णयन्ति निश्चयतः।
तस्माद्वैराग्येप्सोराकिञ्चन्यं परो धर्मः ॥ १७८ ॥

टीका—अध्यात्मशब्देनात्मन्येव व्यापारः, "कथमयमात्मा बध्यते कथं वा मुच्यत इति" तदध्यात्मविदः। ते विदितपरम्पराः परिग्रहं मूर्च्छालक्षणं वर्णयन्ति। मूर्च्छा गार्ध्यम्। निश्चयनयाभिप्रायेणात्मनः प्रतिविशिष्टः परिणामः परिग्रहशब्दवाच्यः। यस्मादेवंलक्षणकः परिग्रहस्तस्माद्वैराग्यमिच्छता आकिञ्चन्यं परो धर्मः, न क्वचिन्मूर्च्छा कर्त्तव्येति यावत् ॥ १७८ ॥

अर्थ—अध्यात्मज्ञानी निश्चयसे ममत्वको परिग्रह कहते हैं। अतः जो वैराग्यका इच्छुक है, उसका आकिञ्चन्य परमधर्म है।

भावार्थ—जो यह जानते हैं कि 'आत्मा कैसे बँधता है और कैसे छूटता है।' उन आत्मज्ञानियोंको अध्यात्मज्ञानी कहते हैं। अध्यात्मज्ञानी निश्चयनयसे आत्माके मोहपरिणामको ही परिग्रह कहते हैं। क्योंकि उसके होनेसे ही मनुष्य बाह्य परिग्रहके संचयमें प्रवृत्त होता है। अत जो वैराग्यके अभिलाषी हैं, उन्हें शरीरादिकसे भी ममत्व नहीं करना चाहिए। यही आकिञ्चन्यधर्म है।

धर्मानुष्ठाने फलं दर्शयति—

धर्मका फल बतलाते हैं:—

दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम्।
दृढरूढघनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥ १७९॥

टीका—दशप्रकारः क्षमादिर्धर्मः, तदनुष्ठायिनस्तदासेविनः। सदैवानवरतम्। रागद्वेष। मोहानामुपशमो भवति। एते च संसारभ्रमणस्य मूलं दृढं रूढं घनाश्च सुष्ठु दृढं रूढा जाता घना बहुलाः प्रभूतकर्मांशा। अथवा यथासंख्यं दृढो रागः, रूढो द्वेषः, घनो मोह। एवं विधानामपि स्वल्पैनव कालेन भवत्युपशमः क्षयो वा ॥ १७९॥

अर्थ—जो दस प्रकारके धर्मका सदा पालन करते हैं। उनके चिरकालसे संचित दुर्भेद्य राग, द्वेष और मोहका थोड़े ही समयमें उपशम हो जाता है।

भावार्थ—संसारके मूलकारण राग, द्वेष और मोह हैं। चिरकालसे सचित होते-होते वे आत्मामें स्थिरसे हो जाते हैं, और उनका भेदन करना बड़ा कठिन होता है। किन्तु जो उक्त दस धर्मोंका सदा सेवन करते हैं, उनके दुर्भेद्य राग-द्वेष और मोह क्षणभरमें ही शान्त हो जाते हैं।

तथा—

ममकाराहंकारत्यागादतिदुर्जयोद्धतप्रबलान्।
हन्ति परीषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥ १८०॥

टीका—ममकारो माया, लोभश्च। अहंकारो मानः क्रोधश्च। तयोर्ममकाराहंकारयोस्त्यागः। किं भवतीत्याह—अतिदुर्जयोद्धतप्रबलान् अतीव दुर्जयानुद्धतांश्च सावष्टम्भान् प्रकृष्टबलांश्च। हन्ति विनाशयति। परीषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् परीषहा क्षुत्पिपासादयः, गौरवं गृद्ध्यादिः, कषाया क्रोधादयः, दण्डा मनोवाक्कायाख्या[1], इन्द्रियाणि[1], एषां व्यूहाः समूहाः चक्रव्यूहगरुडव्यूहादिवद् व्यूहा ग्राह्याः। तान् हन्ति विजयतेऽभिभवतीत्यर्थः ॥ १८०॥

१—णि—स्पर्शनादीनि, फ० ब०।

अर्थ—अहंकार और ममकारके त्यागसे अत्यन्त दुर्जय, उद्धत और बलशाली परीषह, गौरव, कषाय, योग और इन्द्रियोंके समूहको नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—माया और लोभको ममकार कहते हैं और मान और क्रोधको अहंकार कहते हैं। जो दस धर्मोंका पालन करता है, उसके ममकार और अहंकार छूट जाते हैं। और उनके छूटनेसे वह आत्माके प्रबल शत्रु परीषह वगैरहके व्यूहको भेदनेमें समर्थ होता है।

यथा वैराग्यमार्गे स्थैर्यं भवति तथा च यतत इत्याह—

जिस रीतिसे वैराग्यमार्गमें स्थिरता होती है, वैसा यत्न करता है, यह कहते हैं :—

प्रवचनभक्तिः श्रुतसम्पदुद्यमो व्यतिकरश्च संविग्नैः ।
वैराग्यमार्गसद्भावभावधीस्थैर्यजनकानि ॥ १८१ ॥

टीका—प्रोच्यन्ते येन जीवायस्तत्प्रवचनम्, तत्र भक्तिः सेवा तदनुध्यानपरता, संघभट्टारको वा प्रवचनं प्रवक्तीति । श्रुतसम्पदि उद्यम उत्साहः, श्रुतमागमस्तस्य सम्पद् उपचय. अपूर्वमपूर्वमधीते प्रवचनम्। व्यतिकरश्च संविग्नैः, संविग्नाः संसारभीरवस्तैः सह सम्पर्को यथोक्तक्रियानुष्ठायिभिर्व्यतिकरः संसर्ग । एभिर्वैराग्यमार्गस्थैर्यं भवति। न केवलं वैराग्यमार्गस्थैर्यम्, सद्भावभावयोर्बुद्धिस्तस्याश्च भवति स्थैर्यम्। सद्भावा जीवादयः। एते च यथा भगवद्भिरुक्तास्तथेति स्थिरीभवति बुद्धिः। भावः क्षयोपशमजं दर्शनादि भगवत्सु वा तीर्थकृत्सु साधुषु "एते वन्दनीया. पूजनीया." इति एवंविधाया धियः स्थैर्यं जनयन्त्येतानीत्यर्थः ॥ १८१ ॥

अर्थ—प्रवचनमें भक्ति, शास्त्र-सम्पत्तिमें उत्साह और संसारसे भीतजनोंका सम्पर्क वैराग्यमार्गमें जीवादिक पदार्थोंमें और क्षयोपशमादिक भावोंमें बुद्धिको स्थिर करते हैं।

भावार्थ—शास्त्रको प्रवचन कहते हैं। क्योंकि उसके द्वारा जीवादि पदार्थोंका कथन किया जाता है। अथवा परम भट्टारक अर्हन्तदेवको प्रवचन कहते हैं—क्योंकि वे प्रवचनका उपदेश करते हैं, उनमें भक्ति रखनेसे नये-नये शास्त्रोंका अध्ययन करके अपने शास्त्र-ज्ञानको खूब बढानेसे और ससारसे विरक्त साधुजनोंके सम्पर्कमें रहनेसे मन वैराग्य-मार्गमें दृढ होता है। जीवादिक तत्त्वोंमें आस्तिक्य-बुद्धि होती है और क्षयोपशमादिजन्य सम्यग्दर्शनादि भावोंकी प्राप्ति होती है। अर्थात् भक्तिपूर्वक शास्त्राभ्यास करने और साधुजनोंकी संगति करनेसे वैराग्य मार्गमें मन स्थिर हो जाता है। तीर्थंकरोंके द्वारा कहे गये पदार्थोंमें यह भाव दृढ हो जाता है, कि तत्त्व वैसे ही हैं, जैसे कि भगवान्ने कहे हैं, तथा तीर्थंकरोंमें पूज्य बुद्धि भी और अधिक दृढ हो जाती है।

एतेष्वेव धीस्थैर्यमिच्छता चतुर्विधा धर्मकथाऽभ्यसनीयेत्याह—

इन्हींमें बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए चार प्रकारकी धर्म-कथाके अभ्यास करनेका निर्देश करते हैं :—

आक्षेपणी विक्षेपणी विमार्गबाधनसमर्थविन्यासा ।
श्रोतृजनश्रोत्रमनःप्रसादजननी यथा जननी ॥ १८२ ॥

चतुर्विधा धर्मकथाप्रस्तुतेति तच्छेपमाह :—

चार प्रकारकी कथाके शेषांशको बतलाते हैं :—

संवेदनीं च निर्वेदनीं च धर्म्यां कथां सदा कुर्यात् ।
स्त्रीभक्तचौरजनपदकथाश्च दूरात्परित्याज्याः ॥ १८३ ॥

टीका—आक्षिपत्यावर्जयत्यभिमुखीकरोति या सा आक्षेपणी कथा शृङ्गारादिप्राया । विक्षिपति भोगाभिलाषाद्या कामभोगेषु वैमुख्यमापादयति सा विक्षेपणी । विमार्गः सम्यग्दर्शनादित्रयविपरीतःसुगतादिप्रदर्शितस्तस्य बाधनं दोषवत्वख्यापनम् । विमार्गबाधने समर्थः शक्तो विन्यासो रचना यस्या सा विमार्गबाधनसमर्थविन्यासा । शृणोतीति श्रोता जनो लोकः श्रोतृजनस्तस्य श्रोत्र मनश्च तयोः प्रसादो हर्षो जन्यते यया सा श्रोतृजनश्रोत्रमनःप्रसादजननी । यथा जननी माता हितकारिणी सदुपदेशदायिनी स्वापत्यानां श्रोत्रमनसी प्रसादयति परितोपयति, तथैपापीति सम्बन्धः ॥ १८२ ॥

टीका—सम्यग्वेद्यते भयं ग्राह्यते श्रोता यया सा संवेदिनी कथा । नरकगतावुष्णा वेदनाः शीताश्च, न चास्त्यक्षिनिमेषमात्रमपि तस्या वेदनाया विच्छेदः । तत्र तादृशीं वेदनामनुभवता जघन्येन दसवर्षसहस्राण्युत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । तिर्यग्योनावपि शीतोष्णक्षुतृपातिगुरुभारसंतापजं दुःखं वाहनताडनदमनच्छेदनादि चेति । मानुषेष्वपि काणखञ्जवामनजडबधिरान्धकुब्जविकृताकृतित्वानि ज्वरकुष्टाशोपकासातिसारहृद्रोगवेदनाश्च । तथा प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यवधबन्धनाभियोगादिदुःखानुभवः । देवेषु चोत्कर्षविशेषदर्शनादात्मनश्चतद्धानेर्दुःखानुभवः । तथा बलवता देवेनाभियोगादन्येऽल्पपुण्याः करिवृषभाश्वमयूरादिरूपाणि कारिताः सन्तो वाह्यन्ते प्रतिसेव्यन्ते च । तथा च्यवनकाले आयुषिषण्मासावशेषे उपपत्तिस्थानानि बीभत्सानि विकृताकृतीन्यवधिनालोक्य महद्दशर्म भजन्ते । अतश्चतुर्विधादपि संसारादुद्विजते मोक्षार्थमेव च घटत इति । निर्वेदं नीयते यया कामभोगेषु सा निर्वेदनी । इत्वराः कामभोगा न तृप्तिमाधातुमात्मनः पृत्यलाः । सदा क्लिन्नश्च स्त्रीव्रणो दुर्गन्धिरशुचिरत्यन्तजुगुप्सितस्तत्र चारतिरित्येवं पामन इव कंडूपरिगतकण्डूय मोहोदयात्सुखमिति मन्यते, अतो निर्विण्णः परित्यज्य कामभोगान् निःसङ्ग सिद्धिवध्वाराधने प्रवर्तत इति । एवमेता संवेदनीं निर्वेदनीं च धर्म्या कथा सदा कुर्यात्, धर्मादनपेतामित्यर्थः । स्त्र्यादिकथाश्च दूरात् परित्याज्या । तत्र स्त्रीकथा, रूपयौवनलावण्यवेषभाषाचङ्क्रमणानि योषितां वर्णयति यया सा स्त्रीकथा, भक्तमाहारस्तत्कथा, ओदनव्यञ्जनखण्डखाद्यादिपरिनिष्ठितान्ता भक्तकथा । चौरा मलिम्लुचा अमुना प्रकारेण खात्राणि खनन्ति, इष्टकाश्च गालयन्ति, तालकान्युद्धाटयन्तीति चौर-

कथा। जनपदकथा "सेतुजानि ऋतुजानि वा सस्यान्यस्मिन् जनपदे जायन्ते, अस्मिन्नतिप्रभूतो गवां रसः, शालिमुद्गगोधूमादि वोत्पद्यतेऽत्र नान्यत्रेति" जनपदकथा। एवमेता मनसापि नालोच्या किमुत वाचेति दूरात् परिहार्याः॥ १८३॥

अर्थ—उन्मार्गका उच्छेद करनेमें समर्थ रचनावाली, और श्रोताजनोंके कानों और मनको माताकी तरह आनन्द देनेवाली आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी धर्मकथा सदैव करनी चाहिए। तथा स्त्रीकथा, आत्मकथा, चौरकथा और देशकथाको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—जो कथा जीवोंको धर्मकी ओर अभिमुख करती है, उसे आक्षेपणी कहते हैं। जो कथा जीवोंको कामभोगसे विमुख करती है, उसे विक्षेपणी कहते हैं। जो कथा जीवोंको संसारसे भयभीत करती है, उसे संवेदनी कहते हैं। जैसे नरकगतिमें सर्दी और गर्मीका बड़ा कष्ट है। एक क्षणके लिए भी उस कष्टसे छुटकारा नहीं होता। कमसे कम दस हजार वर्षतक और अधिकसे अधिक तेतीस सागरतक वहाँ यह कष्ट भोगना पड़ता है। तिर्यञ्चगतिमें भी सर्दी, गर्मी, भूख प्यास और अतिभारके दुःखके साथ ही साथ सवारीमें जुतना, डंडे वगैरहसे पीटा जाना, नासिका वगैरहका छेदा जाना आदिका दुःख भोगना पड़ता है। मनुष्यगतिमें भी काना, लंगड़ा, बौना, नासमझ, बहरा, अन्धा, कुबड़ा और कुरूप होनेके सिवाय ज्वर, कोढ़, यक्ष्मा, खाँसी, दस्त तथा हृदयके रोगोंका कष्ट भी उठाना पड़ता है। तथा प्रियजनका वियोग, अप्रियजनका संयोग, इच्छित वस्तुका न मिलना, गरीबी, अभागापन, मनकी खेद-खिन्नता और वध-बन्धन वगैरहके अनेक दुःखोंको भी भोगना पड़ता है। देवगतिमें अन्य देवोंका उत्कर्ष और अपना अपकर्ष देखकर दुःख होता है, तथा बलवान् देवकी आज्ञासे अन्य अल्प पुण्यवाले देवता हाथी, बैल, घोड़ा, और मयूर वगैरहका रूप धारण करके सवारीके काममें लाये जाते हैं। तथा जब स्वर्गसे च्युत होनेमें छह माह बाकी रह जाते हैं, तो अवधिज्ञानसे अपने गन्दे और भद्दे जन्म-स्थानको जानकर वे बड़े दुःखी होते हैं। इस प्रकारकी संवेदनीकथासे यह जीव चतुर्गतिरूप संसारसे डरकर मोक्षमें लगता है। जो कथा कामभोगसे वैराग्य उत्पन्न कराती है, उसे निर्वेदनी कहते हैं। जैसे कामभोग क्षणिक हैं, वे आत्माकी तृप्ति करनेमें समर्थ नहीं हैं। स्त्रीकी योनि सदा गीली, दुर्गन्धित, अपवित्र और अत्यन्त ग्लानिकी उत्पन्न करनेवाली होती है। उसमें रति करनेवाला मनुष्य मोहके उदयसे उसी तरह सुख मानता है, जैसे खाजका रोगी खाजको खुजानेमें सुख मानता है। अतः विरक्त हुआ मनुष्य कामभोगोंको छोड़कर मुक्ति-लक्ष्मीकी आराधना करता है। इस प्रकार इन धर्मयुक्त चारो कथाओंको करना चाहिए, क्योंकि ये कथाएँ कुमार्गका नाश करनेमें समर्थ होती हैं, और जिस प्रकार माता हितकर उपदेश देकर अपनी सन्तानके कान और मनको प्रसन्न करती हैं, उसी प्रकार ये कथाएँ भी सुननेवालोंके कान और मनको आनन्दित करती हैं। अत. इन कथाओंको सदा करना चाहिए। और स्त्रीकथा, भक्तकथा, चौरकथा, और देशकथाको दूरसे ही छोड़ना चाहिए।

स्त्रियोंके रूप, यौवन, लावण्य, वेष, भूषा तथा चाल-ढालकी चर्चा करनेको स्त्रीकथा कहते हैं। भात, दाल, शाक, खांड, खाजा वगैरह भोजनकी चर्चा करनेको भक्तकथा कहते हैं। चोर अमुक प्रकारसे गडे खोदते हैं, ईंटें गलाते हैं, गाँठें छेदते हैं, ताले खोलते हैं, दूसरोंको ठगते हैं इत्यादि चर्चा

करनेको चौरकथा कहते हैं। अमुक देशमें सब तरहका धान्य पैदा होता है, अमुक देशमें दूध बहुतायतसे होता है, अथवा चावल, मूँग, गेहूँ वगैरह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह ये चीजें पैदा नहीं होती हैं—इस प्रकारकी चर्चाको जनपदकथा कहते हैं। इन कथाओंको मनमें भी नहीं सोचना चाहिए, वचनसे कहनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ १८२-१८३ ॥

अपि च—

और भी :—

यावत्परगुणदोषपरिकीर्तने व्यापृतं मनो भवति ।
तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् ॥ १८४ ॥

टीका—यावदिति कालपरिमाणम्। यावन्तं कालं परस्य गुणान् दोषांश्च परिकीर्तयत्युद्घाटयति तत्प्रवणव्यापारो भवति। परदोषोद्घट्टने व्यापारयति व्यग्रं मनः करोति, पैशून्यात् कर्मबन्धकारि। तावदिति तावन्तं कालं वरं शोभनतरं निर्जरालाभात्। विशुद्धे ध्याने निर्मले शुक्ले। व्यापृतमक्षणिकं मनः कृतमिति। ननु च परगुणोत्कीर्तनं न निन्द्यम् ? उच्यते अध्यात्मचिन्तापन्नस्य न तेनापि किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १८४ ॥

अर्थ—जितने समयतक मन दूसरोंके गुण और दोषोंके कथनमें लगा रहता है, उतने समयतक उसे विशुद्ध ध्यानमें लगाना श्रेष्ठ है।

भावार्थ—दूसरोंके गुणों और दोषोंके प्रकट करनेमें मनके लगे रहनेसे कर्मबन्ध होता है। अतः इसकी अपेक्षा निर्मल ध्यानमें मन लगाना उत्तम है, क्योंकि उससे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

शङ्का—दूसरेके गुणोंको प्रकट करना तो बुरा काम नहीं है ?

समाधान—अध्यात्मचिन्तनमें लगे हुए साधुको उससे भी क्या प्रयोजन है। अतः दूसरोंके गुण-दोषोंकी आलोचनामें मनको न लगाकर विशुद्ध ध्यानमें ही उसे लगाना चाहिए।

विशुद्धध्यानप्रदर्शनायाह—

विशुद्धध्यानको कहते हैं :—

शास्त्राध्ययने चाध्यापने च संचिन्तने तथात्मनि च ।
धर्मकथने च सततं यत्नः सर्वात्मना कार्यः ॥ १८५ ॥

टीका—शिष्यन्तेऽनेनोन्मार्गप्रस्थिता इति शास्त्रम्। शास्तीति शास्त्रम्, कर्तृव्यापारविवक्षायाम्। तस्याध्ययनमपूर्वग्रहणं पूर्वगृहीतानुचिन्तनं वाचनादानमित्यादि, अध्यापनग्रहणात्। संचिन्तने सचिन्त्य पश्चाद्दोषादिविशुद्धमध्यापति। पर्यालोचते चात्मनि "किमद्य मया कृतं शास्त्रोक्तं किं वा नो कृतमिति।" दशविधधर्माख्याने च सततं यत्न सर्वात्मना मनोवाक्कायैः कार्यः ॥ १८५ ॥

अर्थ—शास्त्रके पढ़नेमें, पढ़ानेमें, आत्मचिन्तनमें और धर्मोपदेशमें सदा मन, वचन, और कायसे यत्न करना चाहिए।

भावार्थ—नये-नये शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। पहले पढ़े हुए शास्त्रोंका विचार करना चाहिए और विचार करके दूसरोंको पढ़ाना चाहिए। तथा प्रतिदिन यह सोचना चाहिए कि 'आज मैंने शास्त्रविहित कर्म किये हैं या नहीं?' इसके सिवाय दश प्रकारके पूर्वोक्त कथन करनेमें भी मनको लगाना चाहिए। ये सभी कार्य विशुद्ध ध्यानमें गर्भित है।

शास्त्रशब्द व्युत्पत्त्यर्थमाह—

शास्त्र-शब्दकी व्युत्पत्ति करते हैं:—

शास्विति वाग्विधिविद्भिर्धातुः पापठ्यतेऽनुशिष्ट्यर्थः।
त्रैङिति च पालनार्थे विनिश्चितः सर्वशब्दविदाम्॥ १८६॥

टीका—शासु अनुशिष्टाविति। वाग्विधिविदश्चतुर्दशपूर्वधराः। पापठ्यत इति अनुशासनेऽत्यर्थं पठ्यत इत्यर्थः। अनेकार्था धातव इत्यन्यस्मिन्नप्यर्थे वृत्तिरस्तीति तद्दर्शयति—अनुशिष्ट्यर्थ इति। त्रैङ् पालने। विनिश्चितो विशेषेण नियतः। सर्वशब्दविदां प्राकृतसंस्कृतशब्दप्राभृतज्ञानां विनिश्चित इत्यर्थः॥ १८६॥

अर्थ—चौदह पूर्वके धारी 'शास्' धातुको 'अनुशासन' अर्थमें पढ़ते है। और 'त्रैङ्' धातुको सभी शब्दवेत्ता 'पालन' अर्थमें निश्चित करते हैं।

भावार्थ—शास्त्र शब्द दो धातुओंसे बना है। उनमेंसे 'शास्' धातुका अर्थ 'अनुशासन' है और 'त्रैङ्' धातुका अर्थ 'पालन' है। उक्त धातुओंका यह अर्थ हमारा रचा नहीं है, किन्तु चौदह पूर्वके धारी और संस्कृत प्राकृत आदि शब्दोंके ज्ञाता इन अर्थोंको न केवल मानते हैं, किन्तु ये अर्थ उन्हींके बतलाये हुए और निश्चय किये हुए हैं।

यस्माद्रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः॥ १८७॥

टीका—शास्त्रनिर्वचनद्वारेण शब्दं संस्कारयति। रागद्वेषाभ्यामुद्धतमुल्बणं चित्तं येषां तत्र रागद्वेषोद्धतचित्तान् सम्यगनुशास्ति। सद्धर्मे क्षमादिदशलक्षणे सद्धर्मविषयमनुशासनं करोति[1]। संत्रायते च दुःखात् शारीरान्मानसाच्चेति परिरक्षति यस्मात्तस्माच्छास्त्रमभिधीयते। सद्भिर्यथान्यायवादिभिर्निश्चयेनोच्यते निरुच्यत इत्यर्थः॥ १८७॥

१—कारयति, ब०।

अर्थ—यत राग और द्वेषसे जिनके चित्त व्याप्त हैं, उनको समीचीन धर्ममें अनुशासित करता है और दुःखसे बचाता है, इसलिए सज्जन उसे शास्त्र कहते हैं।

भावार्थ—ऊपर 'शास्' धातुका अर्थ अनुशासन और 'त्रैङ्' धातुका अर्थ रक्षण बतलाया है। इन्हीं दोनों धातुओंसे शास्त्र शब्द बना है। अत जो रागी और द्वेषी मनुष्योंको उत्तम क्षमादिरूप दशलक्षणधर्मकी शिक्षा देता है, और नरकादि गतियोंके शारीरिक और मानसिक दुःखोसे उन्हें बचाता है, उसे शास्त्र कहते हैं। न्यायके अनुसार बोलनेवालोंने शास्त्रका यही अर्थ निश्चित किया है।

शासनसामर्थ्येन तु संत्राणबलेन चानवद्येन।
युक्तं यत्तच्छास्त्रं तच्चैतत्सर्वविद्वचनम् ॥ १८८ ॥

टीका—शासनसामर्थ्येनानुशासनसमर्थमिदं द्वादशाङ्गं प्रवचनमतस्तेन शासनसामर्थ्येन संसारस्वभावमनुवदता तद्विपरीतं च मोक्षमार्गं दर्शयता निराबाधं परिरक्षता च शरणागतान् प्राणिनोऽनवद्योपायेन, कश्चित् परिरक्षत्यन्यानुपघ्नंच तथेदं शासनं कस्यचिदुपघातकं युक्तमिदं प्रतिबन्द्धम्। यतः शास्त्रमुक्तेनार्थद्वयेन तच्चैतच्छास्त्रं सर्वविदः सर्वज्ञस्य वचनमन्वर्थद्वारेण क्षीणाशेषरागद्वेषमोहस्य नान्यस्येति ॥ १८८ ॥

अर्थ—जो निर्दोष शासनशक्ति और रक्षणके बलसे युक्त होता है, उसे शास्त्र कहते हैं। ऐसा शास्त्र सर्वज्ञका वचन ही हो सकता है।

भावार्थ—द्वादशाङ्गरूप प्रवचन लोकका अनुशासन करनेमें समर्थ है, तथा संसारका स्वभाव बतलाकर और उससे विपरीत मोक्षके मार्गको दर्शाकर शरणमें आये हुए प्राणियोंकी निर्दोष उपायसे रक्षा करनेमें समर्थ है। जिस प्रकार राजा दूसरोंका वध करके किसी एककी रक्षा करता है, उसी प्रकार यह शास्त्र किसीका घातक नहीं है। अत शास्त्र उक्त दोनो बातोंसे युक्त होता है, अतः वह वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह भगवान् सर्वज्ञदेवका वचन ही हो सकता है। क्योंकि उन्हींके वचनोंमें जगत्को निर्दोष शिक्षण देनेकी और निर्दोष रीतिसे उससे रक्षण करनेकी अनुपम सामर्थ्य है।

तदेव सर्वज्ञवचनमुद्देशतो दर्शयन्नाह—

अब उन्हीं सर्वज्ञदेवके वचनोंको बतलाते हैं —

जीवाजीवाः पुण्यं पापास्रवसंवराः सनिर्जरणाः।
बन्धो मोक्षश्चैते सम्यक् चिन्त्या नवपदार्थाः ॥ १८९ ॥

टीका—जीवा इति संभवन्तः प्राणभाज उक्ताः। ते च द्रव्यभावभेदेन प्राणा द्विप्रकाराः। तत्र द्रव्यप्राणाः "पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिःश्वासबलं तथायुरिति।" भावप्राणास्तु ज्ञानदर्शनोपयोगाख्याः। एभिः प्राणैरजीविषुर्जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवाः। तद्विपरीतास्त्वजीवाः। पुण्यं सातादिद्वाचत्वारिंशत्कर्मप्रकृतयः। पापं द्व्यधिकाशीति कर्मभेदानाम्। आस्रवः कायवाग्मनोभिः कर्मयोग आत्मनः। एषामेवाश्रवाणां निरोधः संवरः। सह निर्जरणेन सनिर्जरणाः। निरुद्धेष्वास्रवद्वारेषु गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचरणयुक्तस्य तपोऽनुष्ठानात् कर्म निर्जरणं भवतीति। मिथ्यादर्शनादयो बन्धहेतवः। तद्योगात् सकषायः सन्नात्मा कर्मणोयोग्यान् दलानादत्ते स बन्धः। बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। इत्थमेते सम्यक् चिन्त्याः सम्यगालोच्या अन्यस्मै प्रतिपाद्या नव पदार्थाः। ननु च शास्त्रे सप्ताभिहिताः, कथमत्र नवेति ? उच्यते-शास्त्रे पुण्यपापयोर्बन्धग्रहणेनैव ग्रहणात् सप्त संख्या। इह तु भेदेनापादानं पुण्यपापप्रकृतिविभागप्रतिपादनार्थमिति ॥ १८९ ॥

अर्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नौ पदार्थोंका अच्छी तरह चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—जो अपने अपने योग्य प्राणोंको धारण करते हैं, उन्हें जीव कहते हैं। वे प्राण दो प्रकार के होते हैं—एक द्रव्यप्राण और दूसरे भावप्राण। पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस द्रव्यप्राण हैं। तथा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, भावप्राण हैं। इन प्राणोंसे जो जिये थे, जीते हैं, और जीवेंगे, उन्हें जीव कहते हैं। उनसे विपरीत अजीव होते हैं। सातावेदनीय वगैरह ४२ कर्मप्रकृतियोंको पुण्य कहते हैं। असातावेदनीय आदि ८२ कर्मप्रकृतियोंको पाप कहते हैं। मनोयोग, वचनयोग, और काययोगसे आत्मामें कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं। आस्रवके रोकनेको संवर कहते है। आस्रवके द्वारोंके रोके जानेपर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे युक्त साधुके तप करनेसे जो कर्म झड़ते हैं वह निर्जरा है। बन्धके कारण मिथ्यादर्शन वगैरहके निमित्तसे कषाय सहित आत्मा जो कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं। बन्धके कारणोंके अभाव और निर्जराके निमित्तसे आत्मासे समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार इन नौ पदार्थोंका अच्छी तरह मनन करना चाहिए और दूसरोंको उपदेश देना चाहिए।

शङ्का—अन्य शास्त्रोंमें तो सात पदार्थ बतलाये हैं। यहाँ नौ क्यों कहे हैं ?

समाधान—अन्य शास्त्रोंमें पुण्य और पापका अन्तर्भाव बन्धमें कर लिया गया है। अतः वहाँ सात ही गिनाये हैं। यहाँ पुण्य कर्मों और पाप कर्मोंका भेद बतलानेके लिए उनका पृथक् ग्रहण किया है।

जीवभेदप्रतिपादनायाह—

जीवोंके भेद बतलाते हैं :—

जीवा मुक्ताः संसारिणश्च संसारिणस्त्वनेकविधाः ।
लक्षणतो विज्ञेया द्वित्रिचतुःपञ्चषड्भेदाः ॥ १९० ॥

टीका—द्विप्रकारा जीवाः। मुक्ताः सकलकर्मक्षयभाज एकरूपाः। संसारिणस्त्वनेकविधाश्चतुर्गतिप्रवृत्ता ये ते चानेकभेदाः—नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः। पुना रत्नप्रभापृथिवीनारका इत्यादिभेदाः। तिर्यञ्चोऽप्येकद्वित्रितुःपञ्चेन्द्रियभेदाः। पुनरेकेन्द्रियाः पृथिव्यादिभेदाः। द्वीन्द्रियाः शंखशुक्तिकादयः। त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयः। चतुरिन्द्रिया मक्षिकाभ्रमरपतङ्गादयः। पञ्चेन्द्रिया गोमहिष्यजाविकादयो गर्भव्युत्क्रान्तादयः संमूर्च्छजाश्च। मनुष्या आर्यम्लेच्छादिभेदाः गर्भजाः संमूर्च्छजाश्चेति। देवा भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाः। भवनपतयो दशासुरादयः। व्यन्तराः किन्नरादयोऽष्टभेदाः ज्योतिष्का पञ्चप्रकाराः सूर्यादयः। वैमानिकाः सौधर्मवास्यादय इति ॥ १९० ॥

अर्थ—जीव दो प्रकारके होते हैं—मुक्तजीव और ससारीजीव । संसारीजीव दो, तीन, चार, पाँच और छह भेदरूप अनेक प्रकारके होते हैं। उन्हें अपने-अपने चिन्होंसे जान लेना चाहिए।

भावार्थ—जीव दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे मुक्तजीव समस्त कर्मोंसे मुक्त होनेके कारण सब एकसे ही होते हैं। किन्तु संसारीजीव अनेक प्रकारके होते हैं। सबसे पहले चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं—नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। फिर रत्नप्रभा पृथिवी वगैरहकी अपेक्षासे नारकियोंके अनेक भेद हैं। तिर्यञ्चोंके एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदि भेद हैं। एकेन्द्रियोंके पृथिवी आदि भेद हैं। दोइन्द्रियोंके शंख-सीप वगैरह भेद हैं। तेइन्द्रियोंके चींटी आदि भेद हैं। चौइन्द्रियोंके मक्खी, भौंरा, पतङ्ग वगैरह भेद हैं। पञ्चेन्द्रियके गाय, भैंस, बकरा, मेंढ़ा वगैरह तथा गर्भज और संमूर्च्छन वगैरह भेद हैं। मनुष्योंके आर्य, म्लेच्छ, गर्भज, समूर्च्छन आदि भेद हैं। देव, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक होते हैं। भवनवासियोंके असुरकुमार वगैरह दस भेद हैं। व्यन्तरोंके किन्नर वगैरह आठ भेद हैं। ज्योतिषकोंके सूर्य वगैरह पाँच भेद हैं। और वैमानिकोंके सौधर्मवासी वगैरह भेद हैं।

प्रकरणकारस्त्वनेकविधत्वमन्यथा दर्शयति—

ग्रन्थकार ससारीजीवोंके दो-तीन वगैरह भेदोंको कहते हैं—

द्विविधाश्चराचराख्यास्त्रिविधाः स्त्रीपुंनपुंसका ज्ञेयाः ।
नारकतिर्यग्मानुषदेवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥१९१॥

टीका—चरा जंगमास्तेजोवायुद्वीन्द्रियादयः अचराः स्थावराः पृथिव्यादय। त्रिविधाः स्त्रियः पुमांसो नपुंसकाः। नारकादिभेदेन चतुर्विधाः। शासनेऽभिहिताः ॥ १९१ ॥

१-धा लक्षणतो विज्ञेया, ब.।

अर्थ—संसारीजीव चर और अचरके भेदसे दो प्रकारके और स्त्री, पुरुष और नपुंसकके भेदसे तीन प्रकारके जानने चाहिए। तथा नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे चार प्रकारके कहे गये हैं।

भावार्थ—तेजकाय, वायुकाय द्वीन्द्रिय वगैरह जंगम प्राणियोंको चर कहते हैं। पृथिवीकाय वगैरह स्थावर प्राणियोंको अचर कहते हैं। संसारीजीवके ये दो भेद हैं। तथा स्त्री वगैरहकी अपेक्षासे तीन भेद हैं और नारकी वगैरहकी अपेक्षासे चार भेद हैं।

पञ्चविधास्त्वेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्च निर्दिष्टाः।
क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड् भेदाः॥ १९२॥

टीका—पञ्चप्रकारा एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया कथिताः। भूमिजलवह्निवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियादयश्चेति षड् भेदाः॥ १९२॥

अर्थ—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय–ये पाँच भेद कहे हैं। और पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस–ये छह भेद कहे हैं।

भावार्थ—संसारीजीवके एकेन्द्रिय वगैरहकी अपेक्षासे पाँच भेद है। और पृथिवी वगैरह छह कायोंकी अपेक्षासे छह भेद हैं।

एवमनेकविधानामेकैको विधिरनन्तपर्यायः।
प्रोक्तः स्थित्यवगाहज्ञानदर्शनादिपर्यायैः॥ १९३॥

टीका—एवमुक्तेन न्यायेनानेकविधानामनेकभेदानामेकैको विधिर्मूलभेदोऽनन्तपर्यायोऽनन्तभेदः कथितः। केन कारणेन स्थितितोऽवगाहतो ज्ञानतो दर्शनतश्च। स्थितितस्तावदनन्तपर्यायः। अनादौ संसारेऽनन्ताः स्थितिपर्यायाः। अवगाहतोऽप्यसंख्येयप्रदेशावगाहे हीनाधिकसमप्रदेशभेदेनावगाहोऽपि बहुप्रकारः। तथा ज्ञानतोऽप्यनन्तपर्यायता दर्शनतश्च। यथोक्तम्—"अणंता णाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा।" एकैको नारकादिभेदो यथासंभवमनन्तपर्यायो भवति॥ १९३॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक भेदोंमेंसे एक-एक मूलभेदके स्थिति, अवगाह, ज्ञान, दर्शन वगैरह पर्यायोंकी अपेक्षासे अनन्त भेद कहे हैं।

भावार्थ—उक्त प्रकारके संसारीजीवोंके अनेक भेद हैं। उन अनेक भेदोंमेंसे भी एक-एक भेदके स्थिति वगैरहकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तेतीस सागर तक होती

है। अतः स्थितिकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं। एक जीवकी अवगाहना लोकके असख्यातवें भागके बराबर है। शरीरके छोटे-बड़े होनेके कारण प्रदेशोंकी हीनता और अधिकता होनेसे अवगाहनाकी अपेक्षा भी बहुतसे भेद होते हैं। तथा ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षासे भी अनन्त भेद होते हैं, क्योंकि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके ज्ञानसे लेकर केवलज्ञानपर्यन्त ज्ञानके अनन्त भेद हैं। इस प्रकार एक एक नारकादि भेदके संभव अनन्त भेद होते हैं।

जीवलक्षणामभिधित्सयाह—

जीवका लक्षण कहते हैं—

सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥ १९४ ॥

टीका—सामान्यलक्षणं सर्वजीवानामुपयोगश्चेतना ज्ञानदर्शनव्यापारः। खलु शब्दोऽवधारणे। उपयोग एव सामान्यलक्षणम्। सर्वजीवानामिति। तमुपयोगं विस्पष्टयति—साकारोपयोगः आकारो विकल्पः सहाकारेण साकारः सविकल्पो ज्ञानव्यापारः। अनाकारो दर्शनोपयोगः। सामान्यग्रहणं निर्विकल्पमित्यर्थः। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः—मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानाख्यः। दर्शनोपयोगश्चतुर्धा—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनाख्यः ॥ १९४ ॥

अर्थ—सब जीवोंका सामान्य लक्षण उपयोग ही है। वह दो प्रकारका होता है—साकार और अनाकार। साकारउपयोगके आठ भेद हैं, और अनाकारउपयोगके चार भेद हैं।

भावार्थ—जानने-देखने रूप चैतन्य-व्यापारको उपयोग कहते हैं। यह उपयोग ही सब जीवोंका सामान्य लक्षण है। उसके दो भेद हैं—साकारउपयोग और अनाकारउपयोग। 'यह घट है' इस प्रकारके विकल्पको आकार[1] कहते हैं और सविकल्पक ज्ञान-व्यापारको साकारोपयोग कहते हैं। तथा निर्विकल्पक दर्शन-व्यापारको अनाकारउपयोग कहते हैं। ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोगके चार भेद हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

तानाष्टौ भेदांश्चतुरश्च विस्तरतः कथयति—

उन आठ और चार भेदोंको विस्तारसे कहते हैं—

ज्ञानाऽज्ञाने पञ्चत्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः।
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः ॥ १९५ ॥

१–'आकारोऽर्थ विकल्पः स्यात्।'

टीका—यथासंख्यं पञ्चविकल्पं मत्यादिज्ञानम्, त्रिविकल्पकमज्ञानं मत्यज्ञानादि। एषोऽष्टप्रकार उपयोगः साकारः। तुशब्दोऽवधारणे। अष्टविध एवेति। चक्षुर्दर्शनादिसामान्योपयोगश्चतुर्धैवेति॥ १९५॥

अर्थ—पाँच प्रकारका ज्ञान और तीन प्रकारका अज्ञान इस प्रकार आठ प्रकारका उपयोग साकार होता है। और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शनका विषय अनाकार होता है।

जीवस्यैवमुपयोगलक्षणस्य सतः परिणतिविशेषान् भावान् दर्शयन्नाह—

इस प्रकार जीवका लक्षण उपयोग है। अब उसके भावोको बतलाते हैं—

भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारिणामिकश्चैव।
औपशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पञ्चैते॥ १९६॥

टीका—पञ्चैते जीवस्य भावाः परिणतिविशेषाः कर्मोदयोपशमक्षयोपशमक्षयनिर्वृत्ताः। औदयिकः, पारिणामिकः, औपशमिकः, क्षायिक क्षायोपशमिकश्च पञ्चेति॥ १९६॥

अर्थ—जीवके औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक-ये पाँच भाव होते हैं।

भावार्थ—जीवकी परिणति विशेषको भाव कहते हैं। वे पाँच प्रकारके होते हैं, और कर्मोंके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय वगैरहसे उत्पन्न होते हैं।

एषामेवौपशमिकादिभेदानां क्रमेण भेदानचष्टे—

इन औपशमिकादि भावोके भेद क्रमश कहते है—

ते चैकविंशतित्रिद्विनवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः।
षष्ठश्च सान्निपातिक इत्यन्यः पञ्चदशभेदः॥ १९७॥

टीका--कर्मोदये भव कर्मोदयनिर्वृत्तो वा औदयिकः स एकविंशतिभेदः। गतिर्नारकादिका चतुर्विधा, कषायाः क्रोधादयश्चतुर्धा, लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकाख्यं त्रिधा, मिथ्यादर्शनमश्रद्धालक्षणमेकप्रकारम्, अज्ञानमेकविधम्, असंयतत्वमेकप्रकारम्, असिद्धत्वमेकविधं, लेश्याः षट्प्रकाराः। एते गत्यादयः सर्वे कर्मोदयात् प्रादुर्भवन्ति। अनादिपारिणामिको भावस्त्रिविधः जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्व चेति। नैते कर्मोदयाद्यपेक्षन्ते। कर्मोपशमनिर्वृत्त-औपशमिकः, सम्यक्त्वं चारित्रं च द्विविध। क्षयोत्थ. कर्मक्षयाज्जातः क्षायिक,। स नव-

१–त्वेकविं–व।

भेदः—केवलज्ञानम्, केवलदर्शनम् दानलब्धिः, लाभलब्धिः, भोगलब्धिः, उपभोगलब्धिः, वीर्यलब्धिः, सम्यक्त्वं चारित्रंचेति । क्षयोपशमजः, क्षायोपशमिकः । सोऽष्टादशभेदः—मत्यादिज्ञानं चतुर्विधम्, अज्ञानं मत्यज्ञानादि त्रिविधम्, दर्शनं चक्षुर्दर्शनादि त्रिविधम्, दानादिलब्धयः पञ्च, सम्यक्त्वं, चारित्रं, संयमासंयमश्चेति । षष्ठश्च सान्निपातिक इति सान्निपातः संयोग । सन्निपातः प्रयोजनमस्येति सान्निपातिकः संयोगजो भाव । तत्र पञ्चानांभावानामौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकानां द्विकादिसंयोगेन षड्विंशतिर्विकल्पा भवन्ति । तत्र विरोधित्वादेकादश त्याज्या । शेषाः पञ्चदशाविरोधिनः संभवन्ति । तेषामविरोधानां पञ्चदशानां ग्रहणं कृतं प्रकरणकारेणेति । ते चामी विशेषा । अन्यः षट्कविकल्पः सान्निपातिक इत्यर्थ ॥ १९७ ॥

अर्थ—वे औदयिक आदि भाव इक्कीस, तीन, दो, नौ और अठारह प्रकारके जानने चाहिए। तथा छट्ठा सान्निपातिक नामका एक अन्य भाव भी है। उसके पन्द्रह भेद हैं।

भावार्थ—कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है उसे औदयिक कहते हैं। उसके इक्कीस भेद है:—नरक आदि चार गतियाँ, क्रोध वगैरह चार कषाय, स्त्री, पुरुष और नपुसक लिङ्ग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयत, एक असिद्धत्व और छह लेश्या। ये सभी भावकर्मके उदयसे होते हैं। पारिणामिकभाव अनादि हैं। उसके तीन भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। ये भाव कर्मोंकी अपेक्षासे नहीं होते हैं।

कर्मोके उपक्षमसे जो भाव होता है, उसे औपशमिक कहते हैं। उसके दो भेद है—सम्यक्त्व और चारित्र। कर्मोंके क्षयसे जो भाव होता है, उसे क्षायिक कहते हैं। उसके नौ भेद हैं—केवलज्ञान केवलदर्शन, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, सम्यक्त्व और चारित्र। कर्मोंके क्षयोपशमसे जो भाव होता है, उसे क्षयोपशमिक कहते हैं। उसके अठारह भेद है:—चार प्रकारका मत्यादिज्ञान, तीन प्रकारका अज्ञान, तीन प्रकारका चक्षुर्दर्शन आदि दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम। इन पाँच भावोके सिवाय एक छट्ठा भाव और भी है, जिसे सान्निपातिकभाव कहते हैं। सान्निपात संयोगको कहते हैं। पाँचो भावोंके संयोगसे जो भाव होते हैं उन्हें सान्निपातिकभाव कहते हैं। अर्थात् सान्निपातिक कोई स्वतन्त्र भाव नहीं है, किन्तु सयोगज भाव है। उसके छब्बीस भेद होते हैं—दो सयोगी दस, तीन संयोगी दस, चार सयोगी पाँच, और पाँच सयोगी एक। इनमेंसे विरोधी होनेसे ग्यारह भाव छोड़ने योग्य हैं। शेष पन्द्रह भाव अविरोधी हैं। ग्रन्थकारने अविरोधी पन्द्रह भावोका ही ग्रहण किया है।

एभिर्भावैः स्थानं गतिमिन्द्रियसम्पदः सुखं दुःखम् ।
संप्राप्नोतीत्यात्मा सोऽष्टविकल्पः समासेन ॥ १९८ ॥

टीका—एभिरौदयिकादिभिर्भावैः स्थानं प्राप्नोतीत्यात्मा। स्थानमिति स्थीयते यत्र संसारे तत्स्थानं सामान्येनाविशेषितं प्राप्नोति। यत उक्तम्—

"सव्वाट्ठाणाइं असासयाइं इह चेव देवलोएअ।
असुरसुरनारयाणं (नराइणं) सिद्धिविसेसा सुहाइं च॥१॥"

गतिं नारकादीनां च गतिं प्राप्नोति भावैरेव। ननु च गतिस्थानयोर्नास्ति विशेषः? उच्यते—नरकगतावेव जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि स्थानानि बहूनि सन्तीति तत्प्रतिपादनार्थं स्थानग्रहणं पृथगिति। इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि। एषां सम्पत्समग्रताऽविकलतावाऽतश्चेन्द्रियसम्पदं प्राप्नोतीत्यात्मा। अथवा इन्द्रियाणि च सम्पदश्चविभूतय इत्यर्थः। तथा सुखं दुःखं औदयिकभाववशादवाप्नोति। अतति गच्छति तास्तान् स्थानादिविशेषान् प्रकर्षेणाप्नोतीत्यात्मा। स चाष्टभेदः संक्षेपतोऽनुगन्तव्यः॥१९८॥

अर्थ—इन भावोंसे आत्मा स्थान, गति, इन्द्रिय सम्पत्ति सुख और दुःखको प्राप्त करता है। संक्षेपसे उसके आठ भेद हैं।

भावार्थ—इन औदयिक आदि भावोंसे आत्मा स्थानको प्राप्त करता है। संसारमें जहाँ आत्मा ठहरता है, उसे स्थान[1] कहते है। वह स्थान कर्मोंके उदयसे ही प्राप्त होता है। भावोसे ही गति प्राप्त होती है।

शङ्का—गति और स्थानमें तो कोई अन्तर नहीं है?

समाधान—नरकादिक गतियोमें ही जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट बहुतसे स्थान हैं। उन्हें बतलानेके लिए स्थानका पृथक् ग्रहण किया है। इन्द्रियोकी सम्पूर्णताको इन्द्रिय-सम्पत् कहते हैं। अथवा इन्द्रियाँ और सम्पत्ति ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। इन्द्रिय-सम्पत् भी भावोंसे ही प्राप्त होती है। तथा सुख-दुःख भी औदयिकभावके कारण ही प्राप्त होते हैं। संक्षेपमें उस आत्माके आठ भेद हैं।

तानष्टौ विकल्पानभिधातुकाम आह—

उन आठ भेदोको बतलाते हैंः—

द्रव्यं कषाययोगादुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति[2]।
चारित्रं वीर्यं चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य॥१९९॥

टीका—द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चरित्रात्मा, वीर्यात्मा, चेति अष्टविधाऽष्टप्रकारा मार्गणा गवेषणा परीक्षा तस्यात्मनः कार्येति॥१९९॥

अर्थ—द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा—ये आत्माकी आठ मार्गणाएँ हैं।

१—श्रीहरिभद्रसूरिकी टीकामें स्थानका अर्थ—स्थिति—आयु किया है। पृ० ३९। २—चैव—ब०।

भावार्थ—मार्गणा खोजने अथवा परीक्षा करनेको कहते हैं। द्रव्य आदि आठ प्रकारोंसे आत्माकी खोजकी जाती है।

सम्प्रत्येषां द्रव्याद्यात्मनां स्वरूपविवक्षयाह—

अब इन द्रव्यात्मा आदिका स्वरूप कहते हैं—

जीवाजीवानां द्रव्यात्मा सकषायिणां कषायात्मा।
योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ २०० ॥

टीका—जीवत्वमनादिपारिणामिको भावः। जीवश्च द्रव्यमन्वयी सर्वत्र परिणामपर्यायेऽनुस्यूतं द्रव्यति तांस्तान् पर्यायानाप्नोति नारकादीन्। सर्वत्राविच्छेदेन वर्तते। एकं द्रव्यं द्रव्यात्मा सर्वत्रान्वेति यस्मादिति। एवमजीवानामपि योऽन्वय्यंशः पुद्गलाना स द्रव्यात्मा। धर्मादीनां तु परप्रत्यया उत्पादादिपरिणामास्तत्राप्यन्वयी द्रव्यात्मेति। कषाया क्रोधादयस्ते सन्ति येषा ते कषायिणस्तेषां कषायिणामात्मा कषायैः सहैकत्वापत्ते कषायात्मेत्युच्यते। योगा मनोवाक्कायलक्षणास्तदेकत्वपरिणत आत्मा य स खलु योगात्मा सयोगानामिति। उपयोगो ज्ञानदर्शनव्यापारो ज्ञेयविशेषस्तत्परिणत आत्मा उपयोगात्मेति सर्वजीवविषय। सर्वग्रहणमुक्तपरिग्रहार्थम्॥ २०० ॥

अर्थ—जीव और अजीवोंके द्रव्यात्मा होती है। सकषाय जीवोंके कषायात्मा होती है। सयोगियोके योगात्मा होती है और सब जीवोंके उपयोगात्मा होती है।

भावार्थ—जीवत्व अनादि पारिमाणिकभाव है। और जीव अन्वयी द्रव्य हैं, क्योंकि वह सब पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता है। जो नारकादिक पर्यायोंको प्राप्त करता है, उसे द्रव्य कहते हैं। जीव भी अपनी सब पर्यायोमें रहता है, अत वह द्रव्य है। द्रव्यको ही द्रव्यात्मा कहते हैं, क्योंकि वह अपनी समस्त दशाओंमें अन्वित रहता है। इसी प्रकार अजीव पुद्गल, धर्म वगैरहमें जो अन्वयी अश होता है, उसे द्रव्यात्मा कहते हैं। इस तरह जीव, अजीव द्रव्योंके द्रव्यात्मा होती है। सारांश यह है कि चेतन और अचेतन छहों द्रव्योमें जो स्थितिरूप अश है, जो कि द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें कायम रहता है, उसे यहाँ 'आत्मा' शब्दसे कहा गया है। क्योंकि सब द्रव्य अपने उस अशको कभी नहीं छोड़ते हैं। (जिस प्रकार सोनेके अभूपणोंमें सुवर्णत्व स्थायी अश है, अत वह सुवर्णकी आत्मा कहा जाता है, उसी प्रकार सब द्रव्योंका अपना अपना स्थायी अश उनकी द्रव्यात्मा जानना चाहिए) कषायसे युक्त जीवोंको सकषाय कहते हैं और उनकी आत्माको सकषायात्मा कहते हैं। क्योंकि उनकी आत्मा कषायके साथ हिली मिली होती है। मन, वचन, कायरूप योगसे युक्त आत्माको योगात्मा कहते हैं। वह योगात्मा सयोगियोंके होती है। जानने-देखनेरूप व्यापारको उपयोग कहते हैं। उससे युक्त आत्माको उपयोगात्मा कहते हैं। यह उपयोगात्मा सभी जीवोंके होती है, क्योंकि जीवका लक्षण उपयोग ही है।

ज्ञानं सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् ।
चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥ २०१ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्पन्नस्यात्मनस्तत्त्वार्थश्रद्धानपरिणामभाजो यो ज्ञानपरिणामः स ज्ञानात्मा । दर्शनात्मा चतुर्दर्शनादिपरिणतस्यात्मनस्तदेकतापत्तेर्दर्शनात्मा । सर्वजीवविषयप्राणातिपातादिपापस्थानेभ्यो विरतस्य तदाकारपरिणतस्य चारित्रात्मा । वीर्यं शक्तिश्चेष्टा । तेन वीर्येण सर्वे संसारिणो वीर्यात्मान उच्यन्ते ॥ २०१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके ज्ञानात्मा होती है । सब जीवोंके दर्शनात्मा होती है । व्रतियोंके चारित्रात्मा होती है और सब संसारियोंके वीर्यात्मा होती है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनसे युक्त आत्माका जो ज्ञानरूप परिणाम तत्त्वार्थके श्रद्धानसे युक्त होता है, उसे ज्ञानात्मा कहते हैं । अतः सम्यग्दृष्टीकी आत्मा ज्ञानात्मा होती है । चक्षु, अचक्षु वगैरह दर्शनोंसे युक्त आत्माको दर्शनात्मा कहते हैं । यह आत्मा सभी जीवोंके होती है; क्योंकि सभी जीवोंमें दर्शन पाया जाता है । जीवहिंसा वगैरह पापके स्थानोंसे विरक्त साधुके चारित्रात्मा होती है । वीर्य शक्तिको कहते हैं । शक्ति सभी जीवोंमें पाई जाती है । अतः सब संसारी जीवोंके वीर्यात्मा होती है ।

एवमेतेऽष्टौ आत्मनो विकल्पाः प्रतिपादितास्तत्र द्रव्यात्मानमाशङ्कते—अजीवविषया त्मेति ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावश्चेतनः प्रतीतः, कथं पुद्गलादिष्वात्मशब्दप्रवृत्तिरित्युच्यते—

इस प्रकार आत्माके ये आठ भेद बतलाये हैं । उनमेंसे द्रव्यात्माके बारेमें यह शङ्का होती है, कि आत्मा चेतन है और वह ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमयी है । अतः जो जीवके साथ अजीवके भी द्रव्यात्मा बतलाई गई है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि अजीव पुद्गलादिकको आत्मा शब्दसे कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर देते हैं:—

द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु, नयविशेषेण ।
आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥ २०२ ॥

टीका—उपचारो व्यवहारः शब्दनिबन्धनः । स च शब्दो निमित्तमाश्रित्य प्रतीतः । तच्च निमित्तमुभयत्र तुल्यम् । स यथैव चेतनो भवति तथाऽचेतनोऽपि अन्वयी पुद्गलांशोऽ तततीति भवत्यात्मशब्दवाच्यः । सर्वद्रव्यविषयश्चैष न्याय इति । नयविशेषेणेत्याह—सामान्यग्राहिणा नयभेदेन सर्वत्रात्मशब्दप्रवृत्तिः । अथ सोऽप्यात्मा द्रव्यक्षेत्रादिविवक्षयास्ति न सर्वथा । तत्र स्वरूपेणादिष्टो विवक्षित आत्मास्ति, पररूपेणादिष्टो नास्ति । यथैव स्वास्तित्वादस्तीत्युच्यते, तथा परनास्तित्वान्नास्तीत्युच्यते । स्वावगाहक्षेत्रादिष्टस्तेनैव पर्यायेणास्ति,

१–पतितः–ब० ।

नान्येन । एवं कालात्मा वर्तमानतयादिष्टोऽस्ति, अतीतानागततया नास्ति । औदयिकादीना-मन्यतमेन भावेनादिष्टोऽस्ति, शेष भावेन नास्ति ॥ २०२ ॥

अर्थ—नय विशेषसे सब द्रव्योंमें ' द्रव्यात्मा ' ऐसा व्यवहार होता है। आत्माकी अपेक्षासे आत्मा है और परकी अपेक्षासे अनात्मा है।

भावार्थ—शाब्दिक व्यवहारको उपचार कहते है वह उपचार किसी निमित्तको लेकर किया जाता है। वह निमित्त जीव और अजीव—दोनोंमें ही समान है, क्योंकि जो अन्वयरूपसे सब पर्यायोंमें गमन करता है, उसे आत्मा कहते हैं। अत जिस प्रकार चेतनद्रव्य अपनी पर्यायोंमें अन्वयी है, उसी प्रकार पुद्गलादिकद्रव्य भी अपनी पर्यायोंमें अन्वयी हैं। अतः उन्हें भी आत्मा शब्दसे कहा जाता है। इसलिए सामान्यग्राही नयके द्वारा सब द्रव्योंमें आत्मा शब्दका व्यवहार होता है। वह आत्मा भी अपने द्रव्य, क्षेत्र वगैरहकी अपेक्षासे ही है, सर्वथा नहीं है। अर्थात् जब उस आत्माको उसीके स्वरूपसे विवक्षित किया जाता है, तब वह है और जब उसे पररूपसे विवक्षित किया जाता है, तो वह नहीं है। जिस प्रकार अपने अस्तित्वकी अपेक्षासे वह ' सत् ' कही जाती है, उसी प्रकार दूसरेके अस्तित्वकी अपेक्षासे वह ' असत् ' कही जाती है। सारांश यह है कि हरेक वस्तु अपने स्वरूपसे ही है, और पर स्वरूपसे नहीं है। जैसे घट अपने स्वरूपसे है, और पट अपने स्वरूपसे है, किन्तु न घटमें पटका स्वरूप पाया जाता है और न पटमें घटका स्वरूप पाया जाता है। अत घट, पट स्वरूपसे नहीं है और पट घट स्वरूपसे नहीं है। इसी प्रकार ससारकी सभी वस्तुएँ अपने अपने स्वरूपसे ' सत् ' हैं और अपनेके सिवा शेष सब स्वरूपोंसे ' असत् ' हैं, इसी प्रकार आत्मा अपने क्षेत्रकी अपेक्षासे है और पर-क्षेत्रकी अपेक्षासे नहीं है। वर्तमानकाल भी अपेक्षासे है, अतीत, अनागत कालकी अपेक्षासे नहीं है। तथा औदयिक आदि भावोंमेंसे किसी एक विवक्षित भावकी अपेक्षा है और अविवक्षित अन्य भावोंकी अपेक्षा नहीं है। सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने भावकी अपेक्षासे ही सत् होती है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, और पर-भावकी अपेक्षासे असत् होती है। स्वद्रव्य और परद्रव्यका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। वही घट जिस क्षेत्रमें वर्तमान है, उसी क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् है, अन्य क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् नहीं है। यदि ऐसा न माना जावेगा तो या तो घट व्यापक हो जावेगा या उसका बिलकुल अभाव ही हो जायगा। तथा घट जिस कालमें है, उसी कालकी अपेक्षासे सत् है, अन्य कालकी अपेक्षासे असत् है। यदि ऐसा न माना जायगा तो या तो घट नित्य हो जावेगा या उसका अभाव हो जायेगा। इसी तरह घट अपने विवक्षित भावकी ही अपेक्षा है, अविवक्षित परभावकी अपेक्षा नहीं है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सम्पूर्ण व्यवस्था भंग हो जावेगी।

इस प्रकार समस्त वस्तुएँ सत् और असत् जाननी चाहिए।

एवं संयोगाल्पबहुत्वाद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः ।
जीवस्यैतत्सर्वं स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥ २०३ ॥

टीका—संयोगस्तावद्येन येन संयुक्तस्तेन तेन रूपेणात्मास्ति, येनासंयुक्तस्तेन नास्ति। नारका नरकगतिसंयोगेनैव विद्यन्ते, न देवगतिसंयोगेनेति। अल्पत्वेन बहुत्वेन चोद्दिष्टः स्यादस्ति स्यान्नास्ति। अल्पत्वे मनुष्याः, देवा असंख्येयाः। तत्रासंख्येयत्वेनैव तिर्यञ्चोऽनन्तसंख्याः। तेन तिर्यक् संख्यात्मना मनुष्यो नास्तीति मनुष्येभ्यस्तिर्यञ्चोऽनन्ताः। तेन कारणेन संख्यात्मना नास्ति मनुष्य इत्याद्यला (दिना) ल्पबहुत्वादिचिन्ता कार्या। आदिग्रणान्नामाद्यनुयोगद्वारभेदेनास्तित्वनास्तित्वे भावयितव्ये। अनेकश इत्यनेकेन भेदेन निर्देशस्वामित्यादिनापि आत्मा परिमृग्यः परीक्षणीयः। एवं च जीवस्य स्वतत्त्वं सर्वमेव लक्षणैर्दृष्टम्। लक्ष्यते येन येनात्मा देशादिना तल्लक्षणं बहुप्रकारम्। तैर्लक्षणैर्दृष्टमुपलब्धमनेकभेदमित्यर्थः॥ २०३॥

अर्थ—इस प्रकार संयोग, अल्पबहुत्व वगैरहके द्वारा अनेक प्रकारसे आत्माका विचार करना चाहिए। यहाँ जीवका यह सब स्वरूप लक्षणोंके द्वारा उपलब्ध होता है।

भावार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी तरह संयोग, अल्पबहुत्व वगैरहकी अपेक्षासे भी आत्माका विचार करना चाहिए। यथा आत्मा जिस जिससे सयुक्त है, उसकी अपेक्षासे है और जिस जिससे सयुक्त नहीं है, उसकी अपेक्षासे नहीं है। जैसे नारकी नरकगतिके सयोगकी अपेक्षासे ही हैं देवगतिके सयोगकी अपेक्षासे नहीं है। इसी प्रकार आत्मा अल्पत्व और बहुत्वकी अपेक्षासे भी सत् और असत् है। जैसे मनुष्य थोड़े हैं। देव उनसे असख्यात गुने हैं और तिर्यञ्च अनन्त हैं। अत तिर्यञ्चोंकी सख्याकी अपेक्षा मनुष्य नहीं हैं, क्योंकि मनुष्योसे तिर्यञ्च अनन्त हैं और अपनी सख्याकी अपेक्षा मनुष्य हैं। आदि शब्दसे नाम आदि[1] अनुयोगद्वारोंकी अपेक्षासे भी सत् और असत्का विचार करना चाहिए। तथा निर्देश स्वामित्व वगैरहकी[2] अपेक्षासे भी आत्माका विचार करना चाहिए। इस प्रकार विचार करनेसे आत्माके स्वरूपकी प्रतीति होती है।

उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि।
सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात्॥ २०४॥

टीका—उत्पत्तिरुत्पादः। विगमो विनाशः। नित्यत्वं ध्रौव्यम्। सर्वमेवोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सद्भवत्यंगुलिवत्। यथा मूर्त्तत्वेनांगुलिरवस्थिता ध्रुवा, ऋजुत्वेन विनष्टा वक्रत्वेनोत्पन्नेति। एवं यदुत्पादादित्रयवत्तदस्ति सर्वम्। यन्नास्ति तदुत्पादादित्रयवदपि न भवति। खरविषाणादिवत्। अतो विकल्पद्वयमुक्तम्—स्यादस्ति, स्यान्नास्तीति। सदसद्वा भवतीति तृतीयविकल्पः स्यादस्ति च नास्ति चेति। अन्यथार्पितानर्पितर्पितविशेषादिति चत्वारो

१–नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदिके द्वारा।

२–निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, तथा, विधान, आदिकी अपेक्षासे।

विकल्पा सूचिताः—स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति। तत्रास्ति च नास्ति चेति एकस्य घटादेर्द्रव्यस्य देशो ग्रीवादिः सद्भावपर्यायेणादिष्टो ग्रीवत्वेन, अपरश्च देशस्तथैव वस्तुनोऽसद्भावपर्यायैरादिष्टो वृत्तबुध्नत्वेन परगतपर्यायेण वा तद्वस्तु अस्ति च नास्ति चेति भावना कार्या। स्यादवक्तव्य इति सकलमेवाखण्डितं तद्वस्तु अर्थान्तरभूतैः पटादिभिः पर्यायैर्निजैश्चोर्ध्वकुण्डलोष्ठायतवृत्तग्रीवादिभिर्युगपदभिन्नकाले समादिष्टं नास्तीति वक्तुं न शक्यते, न चास्तीति वक्तुं पार्यते। युगपदादेशद्वयप्राप्तौ वचनविशेषातीतत्वादेवावक्तव्यमिति। अस्ति चावक्तव्यश्चेति पञ्चमो विकल्पः। तस्यैव घटादेर्वस्तुनः एको देशः सद्भावपर्यायैरादिष्टोऽपरो देशः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च युगपदादिष्टस्तद्द्रव्यमस्ति चावक्तव्यं च। षष्ठो विकल्पो नास्ति चावक्तव्यश्च तस्यैव घटादेर्द्रव्यस्य एकदेशः परपर्यायैरादिष्टः, अपरदेशः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च युगपदादिष्टः, तद्द्रव्यं नास्ति चावक्तव्यं च भवति। अथ सप्तमो विकल्पः—तदेव घटादिद्रव्यमेकस्मिन् देशे स्वपर्यायैरादिष्टम्, अन्यत्र देशे परपर्यायैरादिष्टम्, अपरत्र देशे स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च युगपदादिष्टम्, अस्ति च नास्ति चावक्तव्यं चेति। एवमयं सप्तप्रकारो वचनविकल्पः। अत्र च सकलादेशास्त्रयः—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः। शेषाश्चत्वारो विकलादेशाः—स्यादस्ति च नास्ति, च क्रमेण भावना, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति। अतोऽन्यथा चान्यथार्पितं विशेषितमुपनीतम्, अनर्पितमविशेषितमनुपनीतं चेत्येतस्माद्विशेषात् सप्तविकल्पं भवतीति ॥ २०४ ॥

अर्थ—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षणसे युक्त है, वह सब सत् है। और जो उससे विपरीत है, वह असत् है। इस प्रकार अर्पित और अनर्पितके भेदसे वस्तु सत् और असत् होती है।

भावार्थ—उत्पत्तिको उत्पाद कहते हैं। विनाशको विगम अथवा व्यय कहते हैं। और नित्यताको ध्रौव्य कहते हैं। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है, वह सब सत् होता है। जैसे किसीने अपनी सीधी अंगुलीको मोड़ लिया। तो सीधीसे टेढ़ी होनेपर भी अंगुली अंगुली ही रही, अतः वह ध्रौव्य है। तथा सीधापन नष्ट होकर टेढ़ापन आगया। अतः सीधेपनका नाश हो गया और टेढ़ेपनकी उत्पत्ति हो गई। इस प्रकारसे जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होता है, वह सब सत् है और जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नहीं होते हैं, वह असत् है। जैसे गधेके सींग। इससे ग्रन्थकारने 'स्यात् है' और 'स्यात् नहीं, है' इन दो विकल्पोंको कहा है। 'सदसद्' से 'स्यात् है और स्यात् नहीं है' यह तीसरा विकल्प बतलाया है। और 'अन्यथार्पितानर्पितविशेष' से शेष चार विकल्प सूचित किये हैं। वे चार विकल्प इस प्रकार है —'स्यात् अवक्तव्य है', 'स्यात् है और अवक्तव्य है', 'स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है', स्यात् है, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है।

(पहला और दूसरा भङ्ग ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। तीसरा भङ्ग इस प्रकार है:—किसी एक घट वगैरह पदार्थका गर्दन वगैरह भी गर्दन वगैरहकी अपेक्षासे सत् है और उसीके अन्य भागों की अपेक्षासे असत् है। अर्थात् गर्दनका भाग गर्दनरूप ही है, न अन्य भाग गर्दनरूप हैं और न

गर्दनका भाग अन्य भागरूप ही है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि घट घटरूपसे सत् है और पटरूपसे असत् है। अतः घट 'स्यात् है और स्यात् नहीं है' कहा जाता है। इन्हीं दोनों धर्मोंको यदि एक साथ कहनेकी विवक्षा हो तो चौथा 'स्यात् अवक्तव्य' भङ्ग होता है। जैसे यदि उसी घटको पटादि वगैरह परपर्यायोंसे और अपनी ऊँचा, गोलाकार वगैरह पर्यायोंसे एक साथ कहा जाये तो न तो उसे असत् ही कहा जा सकता है और न सत्की कहा जा सकता है। इस तरह एक साथ दोनो धर्मोंकी विवक्षा होनेपर वचनके अगोचर होनेसे वस्तु 'स्यात् अवक्तव्य' कही जाती है। उसी घटको जब अपनी पर्यायोंसे तथा एक साथ अपनी और परकी पर्यायोसे विवक्षित किया जाता है तो वह घट 'स्यात् सत् और अवक्तव्य' कहा जाता है। उसी घटको जब परपर्यायोंकी अपेक्षासे और एक साथ अपनी तथा परपर्यायोकी अपेक्षासे विवक्षित किया जाता है तो वह घट 'स्यात् असत् और अवक्तव्य' कहा जाता है। वही घट जब क्रमशः और एक साथ अपनी और परकी पर्यायोंसे विवक्षित किया जाता है, तो उसे 'स्यात् सत् और असत् और अवक्तव्य' कहा जाता है। इस प्रकार वचनके ये सात प्रकार हैं। इनमें स्यात् सत्, स्यात् असत्, और स्यात् अवक्तव्य ये तीन भङ्ग सकलादेश हैं और शेष चार भङ्ग विकलादेश हैं। वस्तुके जिस धर्मकी विवक्षा होती है, उसे अर्पित या प्रधान कहते हैं। और जिस धर्मकी विवक्षा नहीं होती, उसे अनर्पित या गौण कहते हैं। इस गौणता और मुख्यताके भेदसे उक्त सात विकल्प होते हैं। इन्हें ही सप्तभङ्गी नय कहते हैं।[1]

उत्पादादित्रयभावनायाह—

उत्पाद वगैरहका स्वरूप कहते हैं—

योऽर्थो यस्मिन्नाभूत् साम्प्रतकाले च दृश्यते तत्र ।
तेनोत्पादस्तस्य विगमस्तु तस्माद्विपर्यासः ॥ २०५ ॥

टीका—घटार्थो मृत्पिण्डे नास्ति नाभूदित्यर्थः । स च मृत्पिण्डश्चक्रकारोपणादिना परिकर्मविधिना वर्तमानकाले परिनिष्पन्न उपलभ्यते घटोऽयमुत्पन्न इति । तेनाकारेणोत्पाद स्तस्य घटस्येति । विगमस्तु विनाशस्तस्मादुत्पादाद्विपर्यासो[2] विपरीतः । पिण्डो विनष्टो नोपलभ्येत न दृश्यत इति ॥ २०५ ॥

अर्थ—जिसमें जो अर्थ नहीं था; किन्तु वर्तमानमें देखा जाता है। उसकी उस अर्थसे उत्पत्ति होती है और विनाश उससे विपरीत है।

भावार्थ—मिट्टीके पिण्डमें घट पदार्थ नहीं था, किन्तु उस मिट्टीके पिण्डको कुम्हारके चाकपर रखकर जब घुमाया जाता है तो वह घड़ेकी शकलमें बदल जाता है। इस प्रकार मिट्टीके पिण्डकी

१–सप्तभङ्गीका विस्तृत विवेचन 'इसकी भूमिका और सप्तभंगीतरङ्गिणी' में देखिए। २–विपर्यासो मु० प्रतौ नास्ति।

उस घटरूपसे उत्पत्ति होती है। इसे ही घटका उत्पाद कहते हैं। घट उत्पन्न होनेके बाद वह मिट्टीका पिण्ड फिर दिखलाई नहीं पड़ता वह नष्ट हो जाता है। यही विनाश है। जैनधर्ममें उत्पाद और विनाश तराजूके दो पलड़ोंकी ऊँचाई–निचाईकी तरह सहभावी हैं। जिस प्रकार तराजूका यदि एक पलड़ा नीचा होता है, तो दूसरा पलड़ा अवश्य ही ऊँचा होता है, इसी प्रकार जिस समय मिट्टीके पिण्डका विनाश होता है, उसी समय घटका उत्पाद होता है और जिस समय घटका उत्पाद होता है, उसी समय मृत्पिण्डका विनाश होता है। जैनदर्शनमे न तो विनाश तुच्छाभावरूप है और न वस्तुकी किसी पहली पर्यायका विनाश हुए विना दूसरी पर्यायकी उत्पत्ति होती है।

साम्प्रतकाले चानागते च यो यस्य भवति सम्बन्धी।
तेनाविगमस्तस्येति स नित्यस्तेन भावेन ॥ २०६ ॥

टीका—वर्तमकालेऽनागते भविष्यति च काले। च शब्दादतीतकाले[1]। यः पदार्थो मृदादिस्वरूपं न जहाति, वर्तमानघटपर्यायसम्बन्धी मृन्मृदिति त्रिकालविषयः पिण्डघट-कपालावस्थासु न नष्टो न विगतः, स तेन भावेन मृदादिना ध्रुवो भवति नित्यः। एवं यदस्ति तत्सर्वमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपम्। नच ध्रौव्यमन्तरेणोत्पादविनाशयोर्निर्जीवयो. संभव.। क्वचिदु-त्पद्यते च वस्तु ध्रौव्यनाशवदेव। विनश्यदपि ध्रौव्योत्पादापेक्षम्। ध्रुवमुत्पादविनाशापेक्षम विनाशापेक्षमविनाश (विना) भावित्वात् परस्परमुत्पादादीनामिति ॥ २०६ ॥

अर्थ—वस्तुका जो स्वरूप वर्तमान, अतीत और अनागत कालमें रहता है, उस स्वरूपसे उस वस्तुका नष्ट न होना–यही उस स्वरूपसे नित्यता है।

भावार्थ—मिट्टी अतीत पिण्ड अवस्थाओंमें है, वर्तमान घट अवस्थामें है और आगामी कपाल अवस्थामें बराबर वर्तमान रहती है। तीनों ही अवस्थाओंमें मिट्टीका नाश नहीं होता। केवल उसकी आकृ-तियाँ बदल जाती हैं। अत. मिट्टी मिट्टीरूपसे नित्य है।

इस प्रकार समस्त वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं। न कोई सर्वथा ध्रुव ही हैं और न कोई सर्वथा उत्पाद-व्यय रूप ही है। ध्रौव्यके विना उत्पाद, व्यय नहीं हो सकते, जैसे कि मिट्टीके विना न पिण्ड अवस्थाका नाश हो सकता है और न घटकी उत्पत्ति हो सकती है। यदि कोई वस्तु उत्पन्न होती है तो ध्रौव्य और विनाशकी अपेक्षासे ही उत्पन्न होती है, जिस प्रकार घटका उत्पाद मिट्टीकी ध्रुवता और पिण्डके विनाशके विना सभव नहीं है। यदि कोई वस्तु नष्ट होती है तो ध्रौव्य और उत्पादकी अपेक्षासे ही नष्ट होती है, जैसे पिण्डका नाश मिट्टीकी ध्रुवता और घटके उत्पादकी अपेक्षा रखता है। जो उत्पादविनाशशील है, वही ध्रुव है। सर्वथा ध्रुव कोई वस्तु नहीं है। अतः ये तीनों ही परस्परमें अविनाभावी[2] हैं।

१–अतीतकालादयः परा–फ० ब०। २–पञ्चास्तिकाय और पंचाध्यायीमें उत्पाद-विनाशका विस्तृत स्वरूप देखें।

अजीवानधिकृत्याह—

अजीव द्रव्योका वर्णन करते हैं:—

धर्माधर्माकाशानि पुद्गलाः काल एव चाजीवाः ।
पुद्गलवर्जमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः ॥ २०७ ॥

टीका—धर्मद्रव्यम्, अधर्मद्रव्यम्, आकाशद्रव्यम्, पुद्गलद्रव्यम्, कालद्रव्यमिति पञ्चाजीवद्रव्याणि। तत्र तेषु पञ्चसु पुद्गलद्रव्यं रूपरसगन्धस्पर्शवत् । शेषं द्रव्यचतुष्टयमरूपं रूपादिवर्जितमित्यर्थः । रूपिण इत्यत्र गन्धरसस्पर्शाः सर्वदा रूपाविनाभाविन इति परमाणावपि सम्भवन्तीति दर्शितं भवति ॥ २०७ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गलद्रव्य—ये पाँच अजीव द्रव्य हैं। पुद्गलके सिवाय शेष चारों द्रव्य अरूपी हैं और पुद्गलद्रव्य रूपी कहे गये हैं।

भावार्थ—अजीव द्रव्य पाँच हैं। उनमें से केवल एक पुद्गलद्रव्य रूपी है। उसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चारों गुण पाये जाते हैं। ये चारों गुण परस्परमें अविनाभावी हैं। इसलिए रूपी होनेसे उन चारोंका ग्रहण होता है। अतः जितने भी परमाणु हैं, उन सबमें चारों ही गुण पाये जाते हैं। इसलिए वे रूपी कहे जाते हैं। परन्तु शेष द्रव्योंमें रूपादि गुण नहीं पाये जाते, इसलिए वे अरूपी अथवा अमूर्तीक कहलाते हैं।

स्कन्धास्तु—

पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमे कुछ और भी कहते है.—

द्व्यादिप्रदेशवन्तो यावदनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः ।
परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः ॥ २०८ ॥

टीका—द्व्यादिप्रदेशभाजः स्कन्धाः संघाताः एकद्व्यणुकप्रभृतयः। द्वयोरण्वोस्त्रयाणां वेत्यादिप्रारब्धाः यावदनन्तप्रदेशाः सर्वे स्कन्धाः। परमाणुस्तु न स्कन्धशब्दाभिधेयोऽप्रदेशत्वात्। न हि तस्य द्रव्यप्रदेशाः सन्त्यन्ये। स्वयमेवासौ प्रदेशः। प्रकृष्टो देशोऽवयवः प्रदेशः। न ततः परमन्यः सूक्ष्मतमोऽस्ति पुद्गलः । द्रव्यप्रदेशो वर्णरसगन्धस्पर्शगुणेषु भजनीयः सेवनीयः। प्रदेशत्वेन सन्निहितस्य वर्णादयोऽवयवास्तैरवयवैः सप्रदेश एवासौ द्रव्यावयवैरप्रदेश इति। यथोक्तं शास्त्रे—"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च" ॥ १ ॥ इति।

१–प्रदेशिकः स्क- ख.।

अर्थ—दो आदि प्रदेशीसे लेकर अनन्तप्रदेशी तक स्कन्ध होते हैं। परमाणुके प्रदेश नहीं होते। रूप वगैरह गुणोंकी अपेक्षासे परमाणुका विभाग कर लेना चाहिए।

भावार्थ—दो आदि प्रदेशवाले पुद्गलोंको स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध नाम संघातका है। अनेक परमाणुओंके संघात अर्थात् सम्बन्ध विशेषको स्कन्ध कहते हैं। जिस प्रकार दो परमाणुओंके मेलसे द्व्यणुक नामका स्कन्ध और तीन परमाणुओंके मेलसे त्र्यणुक नामका स्कन्ध होता है, इसी तरह अनन्त परमाणुओंके मेलसे अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अतः परमाणुके सिवाय शेष जितने पुद्गलद्रव्य हैं, जिनमें एकसे अधिक परमाणु पाये जाते हैं, वे सब स्कन्ध कहलाते हैं। केवल परमाणु स्कन्ध नहीं कहा जाता; क्योंकि वह अप्रदेशी है। अखण्ड एक द्रव्य होनेसे उसके अन्य प्रदेश नहीं होते। वह स्वयं एकप्रदेश है। पुद्गलके सबसे छोटे अवयवको प्रदेश कहते हैं। परमाणुसे सूक्ष्म कोई दूसरा पुद्गल नहीं होता। अतः परमाणु बहुप्रदेशी न होनेके कारण अप्रदेशी है। पर अप्रदेशी परमाणुमें भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। इसलिए गुणोंकी अपेक्षासे भी परमाणु सप्रदेशी ही है केवल द्रव्यरूप अवयवोंके न होनेके कारण भी वह अप्रदेशी है। शास्त्रमें कहा है—

'वह परमाणु कारण है, क्योंकि उसीसे समस्त स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। वह अन्त्य और सूक्ष्म है; क्योंकि उससे भी छोटा द्रव्य नहीं होता। वह नित्य है; क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता तथा उसमें एक रस, एक गन्ध, एक रूप और दो स्पर्श (स्निग्ध रूक्षमेंसे कोई एक और शीत उष्णमेंसे कोई एक) होते हैं तथा उसके कार्योंसे ही उसे जाना जाता है, क्योंकि सूक्ष्म होनेके कारण वह स्वयं दिखलाई नहीं देता'।

कस्मिन् पुनर्भावे औदयिकादौ धर्मादीन्यजीवद्रव्याणि वर्तन्त इत्याह—

औदयिक आदि भावोंमें धर्म आदि अजीव द्रव्योंके कौनसा भाव होता है, यह बतलाते हैं:—

भावे धर्माधर्माम्बरकालाः पारिणामिके ज्ञेयाः।
उदयपरिणामिरूपं तु सर्वभावानुगा जीवाः ॥२०९॥

टीका—अनादिपारिणामिकभावे धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चत्वारि वर्त्तन्ते जीवभव्यत्वादिवत्। यथा चानादि संसारस्तथा धर्मादिद्रव्यपरिणामोऽपीति। न जातुचिद्धर्मादिद्रव्यरहित असील्लोक। पुद्गलद्रव्यं पुनरौदयिके भावे भवति पारिणामिके च। परमाणुः परमाणुरिति अनादिपारिणामिको भाव। आदिमत्पारिणामिकस्तु द्व्यणुकादिरभ्रेन्द्रधनुरादिश्च। वर्णरसादिपारिणामिकस्तु परमाणूनां स्कन्धाना चौदयिको भावः द्व्यणुकादिसंहतिपरिणामश्चेति॥ २०९॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यके पारिणामिकभाव जानना चाहिए। पुद्गलद्रव्यके औदयिक और पारिणामिकभाव होते हैं। तथा जीवोंके तो सभी भाव होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार जीवके भव्यत्व वगैरह भाव पारिणामिक होते हैं, उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंके भी पारिणामिकभाव ही होता है, क्योंकि जैसे संसार अनादि है,

वैसे ही धर्मादि द्रव्य भी अनादि है। लोक कभी भी धर्मादि द्रव्योंसे रहित नहीं था। पुद्गलद्रव्यके औदयिक और पारिणामिकभाव होते हैं। पुद्गलका परमाणुरूप परिणाम तो अनादि है और द्व्यणुक बादल, इन्द्रधनुष वगैरह परिणाम सादि है। परमाणुओं और स्कन्धोंमें जो रूप-रस वगैरह परिणाम पाये जाते हैं तथा परमाणुओंके मिलनेसे जो द्व्यणुक वगैरह परिणाम बनते हैं, वे औदयिक हैं। सारांश यह है कि अनादि परिणामको पारिणामिकभावमें और सादि परिणामको औदयिकभावमें समझना चाहिए। रूप, रसादि परिणाम यद्यपि अनादि हैं; परन्तु उनमें जो हानि-वृद्धि होती रहती है। वह सादि है।

जीवाः पुनः सर्वभावेषु औपशमिकादिषु वर्तन्त इति पूर्वमेवभावितम्। अथकोऽयं लोक इत्याशङ्क्ते, किं द्रव्यान्तरमुतान्यत् किंचिदित्याह—

अब यह बतलाते है कि यह लोक क्या वस्तु है? क्या यह भी कोई द्रव्य है या और और कुछ है?—

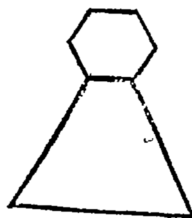
जीवके औपशमिक वगैरह पाँचों ही भाव होते हैं, यह पहले बतला चुके हैं।

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः॥ २१०॥

टीका— जीवा अजीवा धर्माधर्माकाशपुद्गलाः कालश्च षड् द्रव्याणि। लोकपुरुषः पुरुष इव लोकपुरुषः प्रतिविशिष्टस्थानत्वात्। अत्र जीवादीनां द्रव्याणामाधारभूतं यत्क्षेत्रं तल्लोकशब्दाभिधेयं लोकपुरुष इत्युक्तम्। तत्र निबन्धनमाह—वैशाखस्थान इति। वैशाखं धानुष्कस्यस्थानकम्। ऊर्ध्वमवस्थितः पुरुषो विक्षिप्तजङ्घाद्वयः कट्यां व्यवस्थापिताकुञ्चितहस्तद्वयो यथा तद्वल्लोकपुरुष इति॥ २१०॥

अर्थ—इस प्रकार जीव और अजीवके भेदसे छह द्रव्य होते हैं। यही लोक-पुरुष है। दोनों हाथोंको कमरके दोनों ओर कूलोंपर रखकर, पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुषके समान उसका आधार है।

भावार्थ—छहों द्रव्योंके समूहको लोक कहते हैं। अर्थात् जितने क्षेत्रमें छहों द्रव्य रहते हैं, उतने क्षेत्रको लोक कहते हैं। वह लोक-पुरुषके आकार है। अतः उसे यहाँ लोक-पुरुषके नामसे कहा है। दोनों जाँघोंको फैलाकर और दोनो हाथोंको कमरके दोनों बाजुओंपर रखकर खड़े हुए मनुष्यके समान लोकका आकार जानना चाहिए। यथा—



१–पञ्चास्तिकाय।

अर्थ—दो आदि प्रदेशीसे लेकर अनन्तप्रदेशी तक स्कन्ध होते हैं। परमाणुके प्रदेश नहीं होते। रूप वगैरह गुणोंकी अपेक्षासे परमाणुका विभाग कर लेना चाहिए।

भावार्थ—दो आदि प्रदेशवाले पुद्गलोंको स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध नाम संघातका है। अनेक परमाणुओंके संघात अर्थात् सम्बन्ध विशेषको स्कन्ध कहते हैं। जिस प्रकार दो परमाणुओंके मेलसे द्वयणुक नामका स्कन्ध और तीन परमाणुओंके मेलसे त्र्यणुक नामका स्कन्ध होता है, इसी तरह अनन्त परमाणुओंके मेलसे अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अतः परमाणुके सिवाय शेष जितने पुद्गल-द्रव्य हैं, जिनमें एकसे अधिक परमाणु पाये जाते हैं, वे सब स्कन्ध कहलाते हैं। केवल परमाणु स्कन्ध नहीं कहा जाता; क्योंकि वह अप्रदेशी है। अखण्ड एक द्रव्य होनेसे उसके अन्य प्रदेश नहीं होते। वह स्वयं एकप्रदेश है। पुद्गलके सबसे छोटे अवयवको प्रदेश कहते हैं। परमाणुसे सूक्ष्म कोई दूसरा पुद्गल नहीं होता। अत. परमाणु बहुप्रदेशी न होनेके कारण अप्रदेशी है। पर अप्रदेशी परमाणुमें भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। इसलिए गुणोंकी अपेक्षासे भी परमाणु सप्रदेशी ही है केवल द्रव्यरूप अवयवोंके न होनेके कारण भी वह अप्रदेशी है। शास्त्रमें कहा है—

'वह परमाणु कारण है; क्योंकि उसीसे समस्त स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। वह अन्त्य और सूक्ष्म है; क्योंकि उससे भी छोटा द्रव्य नहीं होता। वह नित्य है; क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता तथा उसमें एक रस, एक गन्ध, एक रूप और दो स्पर्श (स्निग्ध रूक्षमेंसे कोई एक और शीत उष्णमेंसे कोई एक) होते हैं तथा उसके कार्योंसे ही उसे जाना जाता है, क्योंकि सूक्ष्म होनेके कारण वह स्वयं दिखलाई नहीं देता'।

कस्मिन् पुनर्भावे औदयिकादौ धर्मादीन्यजीवद्रव्याणि वर्तन्त इत्याह—

औदयिक आदि भावोंमें धर्म आदि अजीव द्रव्योंके कौनसा भाव होता है, यह बतलाते हैं—

भावे धर्माधर्माम्बरकालाः पारिणामिके ज्ञेयाः।
उदयपरिणामिरूपं तु सर्वभावानुगा जीवाः ॥२०९॥

टीका—अनादिपारिणामिकभावे धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चत्वारि वर्त्तन्ते जीवभव्यत्वादिवत्। यथा चानादि संसारस्तथा धर्मादिद्रव्यपरिणामोऽपीति। न जातुचिद्धर्मादिद्रव्यरहित असील्लोक। पुद्गलद्रव्यं पुनरौदयिके भावे भवति पारिणामिके च। परमाणुः परमाणुरिति अनादिपारिणामिको भाव। आदिमत्पारिणामिकस्तु द्वयणुकादिरभ्रेन्द्रधनुरादिश्च। वर्णरसादिपारिणामिकस्तु परमाणूनां स्कन्धानां चौदयिको भावः द्वयणुकादिसंहतिपरिणामश्चेति॥ २०९॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यके पारिणामिकभाव जानना चाहिए। पुद्गलद्रव्यके औदयिक और पारिणामिकभाव होते हैं। तथा जीवोंके तो सभी भाव होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार जीवके भव्यत्व वगैरह भाव पारिणामिक होते हैं, उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंके भी पारिणामिकभाव ही होता है, क्योंकि जैसे संसार अनादि है,

वैसे ही धर्मादि द्रव्य भी अनादि है। लोक कभी भी धर्मादि द्रव्योंसे रहित नहीं था। पुद्गलद्रव्यके औदयिक और पारिणामिकभाव होते हैं। पुद्गलका परमाणुरूप परिणाम तो अनादि है और द्व्यणुक बादल, इन्द्रधनुष वगैरह परिणाम सादि है। परमाणुओं और स्कन्धोंमें जो रूप-रस वगैरह परिणाम पाये जाते हैं तथा परमाणुओंके मिलनेसे जो द्व्यणुक वगैरह परिणाम बनते हैं, वे औदयिक हैं। सारांश यह है कि अनादि परिणामको पारिणामिकभावमें और सादि परिणामको औदयिकभावमें समझना चाहिए। रूप, रसादि परिणाम यद्यपि अनादि हैं; परन्तु उनमें जो हानि-वृद्धि होती रहती है। वह सादि है।

जीवाः पुनः सर्वभावेषु औपशमिकादिषु वर्तन्त इति पूर्वमेवभावितम्। अथकोऽयं लोक इत्याशङ्कते, किं द्रव्यान्तरमुतान्यत् किंचिदित्याह—

अब यह बतलाते है कि यह लोक क्या वस्तु है? क्या यह भी कोई द्रव्य है या और और कुछ है?—

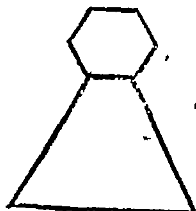
जीवके औपशमिक वगैरह पाँचों ही भाव होते हैं, यह पहले बतला चुके हैं।

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः॥ २१०॥

टीका— जीवा अजीवा धर्माधर्माकाशपुद्गलाः कालश्च षड् द्रव्याणि। लोकपुरुषः पुरुष इव लोकपुरुषः प्रतिविशिष्टस्थानत्वात्। अत्र जीवादीनां द्रव्याणामाधारभूतं यत्क्षेत्रं तल्लोक-शब्दाभिधेयं लोकपुरुष इत्युक्तम्। तत्र निबन्धनमाह—वैशाखस्थान इति। वैशाखं धानुष्कस्य-स्थानकम्। ऊर्ध्वमवस्थितः पुरुषो विक्षिप्तजङ्घाद्वयः कट्यां व्यवस्थापिताकुञ्चितहस्तद्वयो यथा तद्वल्लोकपुरुष इति॥ २१०॥

अर्थ—इस प्रकार जीव और अजीवके भेदसे छह द्रव्य होते हैं। यही लोक-पुरुष है। दोनों हाथोंको कमरके दोनों ओर कूल्हेपर रखकर, पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुषके समान उसका आधार है।

भावार्थ—छहों द्रव्योंके समूहको लोक कहते हैं। अर्थात् जितने क्षेत्रमें छहों द्रव्य रहते हैं, उतने क्षेत्रको लोक[1] कहते हैं। वह लोक-पुरुषके आकार है। अतः उसे यहाँ लोक-पुरुषके नामसे कहा है। दोनों जाँघोंको फैलाकर और दोनो हाथोंको कमरके दोनों बाजुओंपर रखकर खड़े हुए मनुष्यके समान लोकका आकार जानना चाहिए। यथा—



१–पञ्चास्तिकाय।

तदेव वैशाखस्थानकं दर्शयति—

उसीको स्पष्ट करते हैं.—

तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम्।
स्थालमिव तिर्यग्लोकमूर्ध्वमथ मल्लकसमुद्गम् ॥ २११॥

टीका—तत्र तस्मिन् लोके अधोलोकविभाग अधोमुखमल्लकाकारः उपरि संक्षिप्तमधो विशालं वर्धमानकमधोमुखं भवति। रजतस्थालाकारं तिर्यग्लोकं वर्णयन्ति। तिर्यग्लोकादूर्ध्वं मल्लकसंपुटाकारमूर्ध्वलोकं वर्णयन्ति। मल्लकसमुद्गश्च एकं वर्धमानकमूर्ध्वमुखमपरं शरावमधोमुख तस्योपरीति। एतत् प्रतिपादयति काक्वा[1]। लोकोऽध' सप्तरज्जुप्रमाणो विस्तरेण। तिर्यग्लोको रज्जुप्रमाणः। शरावसंपुटमध्ये पञ्चरज्जुप्रमाण उपर्येकरज्जुप्रमाण इति ॥ २११ ॥

अर्थ—उस लोकमें अधोलोकको नीचे मुख किये हुए सकोरेके आकार बतलाते हैं, मध्यलोकको थालीके आकार बतलाते हैं और ऊर्ध्वलोक नीचे-ऊपर रक्खे हुए दो सकोरोंके आकार बतलाते हैं।

भावार्थ—लोकके तीन भाग हैं—अधोलोग, तिर्यग्लोक या मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका आकार नीचा मुख करके रक्खे हुए सकोरेके जैसा है। सकोरेको उलटकर रख देनेसे उसके नीचेका भाग चौड़ा और ऊपरका भाग सकरा होता है। वैसे ही अधोलोकके तलका विस्तार सात राजू है और ऊपरका विस्तार एक राजू है। तिर्यग्लोक थालीके आकार गोल है। उसका विस्तार एक राजू है। तिर्यग्लोकके ऊपर दो सकोरोंके आकारका ऊर्ध्वलोक है। अर्थात् एक सकोरको ऊपरकी ओर मुँह करके रखो और दूसरेको उसके ऊपर नीचेको मुख करके रखो, तो उनके आकारके समान ऊर्ध्वलोकका आकार जानना चाहिए। उसके मध्यका विस्तार पाँच राजू है और ऊपरका विस्तार एक राजू है।

एवमधस्तिर्यगूर्ध्वं च विभक्ते लोके को विभाग कतिविध इति दर्शयति—

इस प्रकार लोकके तीन विभाग बतलाकर अब प्रत्येक विभागके भेद बतलाते हैं.—

सप्तविधोऽधोलोकस्तिर्यग्लोको भवत्यनेकविधः।
पञ्चदशविधानः[2] पुनरूर्ध्वलोकः समासेन ॥ २१२ ॥

टीका—समासेनेति संक्षेपेण। रत्नप्रभादिभेदेन महातमःप्रभान्तेन सप्तधाऽधोलोकः। तिर्यग्लोकोऽनेकप्रकारो जम्बूद्वीपादिभेदेन लवणसमुद्रादिभेदेन च। असंख्येया द्वीप समुद्रा इति। ज्योतिष्कभेदा अपि तिर्यग्लोक एव। ऊर्ध्वलोकश्च पञ्चदशभेदः। दशकल्पा सौधर्मादयः आनतप्राणतावेककल्प, एकेन्द्रस्वामित्वात्। आरणाच्युतौ च। एवं दश कल्पा।

१–काका ब०। २–'पञ्चदशविधान्' इत्यारभ्य 'सप्तधाऽधोलोकः' इतिपर्यन्तः पाठः ब० प्रतौ नास्ति।

ग्रैवेयकाणि त्रीणि, अधोमध्यमोपरितनभेदेन। पञ्च महाविमानानि चतुर्दशो भेद। ईषत्प्राग्भाराख्यः पञ्चदशो भेद इति॥ २१२॥

अर्थ—अधोलोकके सात भेद है, तिर्यग्लोकके अनेक भेद हैं और ऊर्ध्वलोकके संक्षेपसे पन्द्रह भेद हैं।

भावार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा पृथिवीके भेदसे अधोलोकके सात विभाग है। तिर्यग्लोकमें जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रको आदि लेकर असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। अतः तिर्यग्लोकके भी अनेक विभाग हैं। तथा ज्योतिष्क जातिके देव भी तिर्यग्लोकमें ही निवास करते हैं। ऊर्ध्वलोकके पन्द्रह भेद हैं। सौधर्म वगैरह बारह स्वर्गोंमेंसे आनत और प्राणत तथा आरण और अच्युत स्वर्गोंमे एक एक इन्द्र होनेके कारण दस भेद होते हैं। स्वर्गोंसे ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं। उनके तीन भेद हैं—अधोग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरितन ग्रैवेयक। पाँच अनुत्तर विमानोंका एक भेद है और ईषत्प्राग्भार, जिसे सिद्धशिला भी कहते हैं, नामका एक भेद है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकके १०+३+१+१=१५ भेद होते है।

अथाकाशं किं लोकमात्रमेवाहोस्वित् सर्वत्रेत्याह—

अब क्या आकाश लोकप्रमाण ही है या सर्वत्र व्याप्त है? यह बतलाते है—

लोकालोकव्यापकमाकाशं मर्त्यलोकिकः कालः।
लोकव्यापि चतुष्टयमवशेषं त्वेकजीवो वा॥ २१३॥

टीका—व्यापकमिति लोकालोकस्वरूपमुच्यते लोकस्वरूपमलोकस्वरूपं च। जीवाजीवाधारक्षेत्रं लोकस्ततः परमलोक इति। यत्राकाशे जीवाजीवादिपदार्थपञ्चकं तल्लोकाकाशम्, यत्राभावो जीवादीनां तदलोकाकाशमिति जीवाद्याधारकृतो भेदोऽन्यथा एकमेवाकाशम्। मर्त्यलोकिकं कालः। मर्त्यलोको मनुष्यलोक—अर्धतृतीया द्वीपाः समुद्रद्वयं च मानुषोत्तरमहीधरेण परिक्षिप्त। तावत्येव क्षेत्रे वर्तमानादिलक्षण कालो न परत। लोकव्यापिचतुष्टयमवशेषं धर्माधर्मजीवपुद्गलाख्यम्। सर्वत्र लोकाकाशे धर्माधर्मौ। सूक्ष्मशरीराश्च जन्तव सर्वलोक एव। पुद्गलाश्च परमाणुप्रभृतय सर्वलोक इति। एकोऽपि वा जीव सकललोकाकाशव्यापी केवलिसमुद्घातकाल एव भवतीति॥ २१३॥

अर्थ—आकाश लोक और अलोकमें व्यापक है। कालका व्यवहार मनुष्यलोकमें ही होता है। बाकीके चार द्रव्य लोकव्यापी हैं। एक जीव भी लोकव्यापी होता है।

१–नास्ति पदमिदं फ० पुस्तके। २–हरिभद्रसूरिकी वृत्तिमें १२ कल्पोंके १३ भेद, नवग्रैवेयकका एक भेद, पाँच अनुत्तरोंका एक भेद और सिद्धशिलाका एक भेद, इस प्रकार पन्द्रह भेद गिनाये हैं।

भावार्थ—आकाशद्रव्य लोकस्वरूप भी है और अलोकस्वरूप भी है। जीवो और अजीवोके आधारभूत क्षेत्रको लोक कहते हैं। उससे परे अलोक है। जितने आकाशमें जीव और अजीव वगैरह पाँचों द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और जहाँ जीव आदिका बिलकुल अभाव है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। इस प्रकार जीवादिक द्रव्योंके रहने और न रहनेसे आकाशके दो विभाग हो गये हैं। अन्यथा आकाश एक और अखण्ड ही है। मानुषोत्तर पर्वतसे घिरे हुए अढाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्यलोक कहते हैं। उतने ही क्षेत्रमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप कालका व्यवहार होता है। क्योंकि व्यवहारकाल ज्योतिष्कदेवोंके भ्रमणसे होता है और उनका भ्रमण केवल मनुष्य-लोकमें ही होता है। बाकीके धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गलद्रव्य लोकव्यापी हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं, सूक्ष्म शरीरवाले जीव भी समस्त लोकमें पाये जाते हैं। परमाणु वगैरह पुद्गलद्रव्य भी सम्पूर्ण लोकमें रहते हैं। एक जीव भी केवलिसमुद्घातके समय सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हो जाता है।

किमेकं द्रव्यं किं चानेकद्रव्यमित्याह—

अब इन द्रव्योंमें कौन कौन द्रव्य एक हैं? और कौन अनेक हैं? यह बतलाते हैं—

धर्माधर्माकाशान्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम्।
कालं विनास्तिकाया जीवमृते चाऽप्यकर्तॄणि ॥ २१४ ॥

टीका—धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यमाकाशद्रव्यं च त्रीण्यप्येकैद्रव्याणि एकमेकं द्रव्यं धर्म, अधर्माकाशावपि तथैव व्योमद्रव्यं तु लोकालोकस्वरूपमेकमेवेति प्रतिपत्तव्यम्। जीवद्रव्यमनन्त-संख्यम्। तथा पुद्गलद्रव्य कालद्रव्यमप्यनन्तसमयमतीतानागतादिभेदेनेति। अथायमस्ति-कायशब्दः किं सर्वद्रव्यविषयः? नेत्याह—कालाद्विनाऽस्तिकायाः। कालस्तु नास्तिकायः। न प्रचयोऽस्ति समायानाम्। वर्तमानस्त्वेक एव समयः स नास्तिकायः। अन्यत्र प्रचयोऽस्ति। असंख्येयप्रदेशो जीवः। तथा धर्माधर्मावपि। व्योमानतप्रदेशं पुद्गलद्रव्यं च। जीवादृते द्रव्याणि धर्मादीनि कर्तृत्वपर्यायशून्यानि। जीवस्तु कर्ता शुभाशुभानां कर्मणामिति ॥ २१४ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक एक हैं। बाकीके तीन द्रव्य अनन्त हैं। कालके विना शेष द्रव्य अस्तिकाय हैं और जीवके विना शेष द्रव्य अस्तिकाय हैं और जीवके विना शेष द्रव्य अकर्ता हैं।

भावार्थ—धर्मद्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है और लोक तथा अलोकरूप आकाश द्रव्य भी एक ही हैं - जीवद्रव्य अनन्त है। पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं तथा कालद्रव्य भी अतीत, अनागत वगैरह के भेदसे अनन्त समयवाला है। इन छहों द्रव्योंमेंसे कालके विना शेष पाँचों द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते है। कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है। क्योकि उसके समयोंका प्रचय नहीं होता। वर्त्तमानकालका प्रमाण एकसमय है। अतः यह अस्तिकाय नहीं है। किन्तु शेष द्रव्योंके प्रदेशोंका प्रचय होता है; क्योंकि वे बहुप्रदेशी हैं। जीव धर्म और अधर्मद्रव्य असंख्यातप्रदेशी है। आकाश

अनन्तप्रदेशी है और पुद्गल भी अनन्तप्रदेशी होता है। अतः वे पाँचों अस्तिकाय कहे जाते हैं। जीवके सिवाय शेष धर्मादि द्रव्य कर्तृत्वपर्यायसे रहित हैं। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मोंका कर्ता केवल जीवद्रव्य ही होता है।

कर्मादीनि द्रव्याणि कार्यमिति निर्दिशन्नाह—

द्रव्योंका कार्य बतलाते हैं:—

धर्मो गतिस्थितिमतां द्रव्याणां गत्युपग्रहविधाता।
स्थित्युपकृच्चाधर्मोऽवकाशदानोपकृद्गगनम् ॥ २१५ ॥

टीका—धर्मद्रव्यं गतिमतां द्रव्याणां स्वयमेव गतिपरिणतानामुपग्रहे वर्तते जीवपुद्गलानाम्, न पुनरगच्छज्जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यं वा बलान्नयति धर्म । किंतु स्वयमेव गतिपरिणतमुपगृह्यते धर्मद्रव्येण। मत्स्यस्य गच्छतो जलद्रव्यमिवोपग्राहकम्। यथा वा व्योमद्रव्यं स्वयमेव द्रव्यस्यावगाहमानस्य कारणं भवति, न पुनरनवगाहमानं बलादवगाढं कारयति। यथा च कृषीवलानां कृष्यारम्भं स्वयमेव कर्तुमुद्यतानामपेक्षाकारणं वर्ष भवति, न च तानकुर्वतः कृषीबलान् बलात् कृषिं कारयति वर्षा। यथा वा गर्जितध्वनिसमाकर्णनाद् बलाकानां गर्भाधानप्रसवौ भवतः, न च तामप्रसवतीं बलाद्गर्जितशब्द प्रसादयति। यथा वा पुरुष प्रतिबोधनिमित्तं पापाद्विरमति, न चाविरमन्तं पुमांसं बलात्प्रतिबोधो विरमयतीति। एवं गतिपरिणामभाजां पुद्गलजीवानामपेक्षाकारणं धर्मद्रव्यम्। तथा स्थितिमतां द्रव्याणां स्थितेरपेक्षाकारणमधर्मद्रव्यं स्वयमेव तिष्ठताम्, न चातिष्ठद्द्रव्यं बलादधर्म स्थापयति। एवं स्थितिमतां द्रव्याणां स्थित्युपकारी भवत्यधर्म.। गगनं तु जीवपुद्गलानामवगाहमानानामवकाशदानेन व्याप्रियते ॥२१५॥

अर्थ—धर्मद्रव्य चलते हुए द्रव्योंके चलनेमें सहायता करता है। अधर्मद्रव्य ठहरे हुए द्रव्योंके ठहरनेमें सहायक है और आकाशद्रव्य सभी द्रव्योंको अवकाश देता है।

भावार्थ—धर्मद्रव्य स्वयं ही चलते हुए जीव और पुद्गलोंको चलनेमें सहायता करता है। किन्तु न चलते हुए जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यको जबर्दस्ती नहीं चलाता है। जिस प्रकार जल मछलीके चलनेमें सहायक है, जिस प्रकार आकाशद्रव्य स्वयं ही अवकाशके इच्छुक द्रव्यको अवकाशदान करता है—बलपूर्वक किसीको अवकाश नहीं करता, जिस प्रकार स्वयं ही खेतीमें लगे हुए किसानोंको वर्षा सहायक होती है—किन्तु खेती न करनेवाले किसानोको बलपूर्वक खेतीमें नहीं लगाती है, जिस प्रकार मेघकी गर्जनाको सुनकर मादा बगुलाओंके गर्भाधान अथवा प्रसव होता है—किन्तु यदि बगुला स्वयं ही प्रसव न करे तो मेघकी गर्जना उसे बलपूर्वक प्रसव नहीं कराती, अथवा जिस प्रकार धर्मोपदेशके निमित्तसे मनुष्य पापका त्याग कर देता है—किन्तु यदि पुरुष पापसे विरक्त न हो तो

१—" संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जह्मा।
काया इव बहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ॥ २५ ॥ "—बृहद्द्रव्यसंग्रह।

धर्मोपदेश उसे बलपूर्वक त्याग नहीं कराता। उसी प्रकार चलते हुए जीव और पुद्गलोंको धर्मद्रव्य चलनेमें सहायता करता है। तथा स्वयं ही ठहरे हुए द्रव्योंको अधर्मद्रव्य ठहरनेमें सहायता करता है। किन्तु ठहरे हुए द्रव्यको बलपूर्वक नहीं ठहराता है। आकाशद्रव्य अवगाहके इच्छुक जीव और पुद्गलोंको अवकाश-दान करता है। सारांश यह है कि तीनों ही द्रव्य अपने अपने कार्योंके प्रति उदासीन कारण हैं; प्रेरक कारण नहीं हैं।

पुद्गलद्रव्यं[1] कमुपकारं विधत्त इत्याह—

पुद्गलद्रव्यका उपकार कहते हैं:—

स्पर्शरसगन्धवर्णाः शब्दो बन्धश्च सूक्ष्मता स्थौल्यम्।
संस्थानं भेदतमश्छायोद्योतातपश्चेति ॥ २१६ ॥
कर्मशरीरमनोवाग्विचेष्टितोच्छ्वासदुःखसुखदाः स्युः।
जीवितमरणोपग्रहकराश्च संसारिणः स्कन्धाः ॥ २१७ ॥

टीका—स्पर्शादयः पुद्गलद्रव्यस्योपकाराः। तथा शब्दपरिणामः पुद्गलानामेवोपकारः। बन्धनं बन्धः कर्मपुद्गलानामात्मप्रदेशानां च क्षीरोदकवत् एकलोलीभावः पुद्गलद्रव्यस्योपकारः। सूक्ष्मतापरिणामः पुद्गलानामुपकारोऽनन्तप्रदेशानां स्कन्धानाम्। तथा स्थौल्यपरिणामोऽभ्रेन्द्रधनुरादीनाम्, संस्थानं चतुरस्रादि पुद्गलोपकारः। भेदःखण्डरूपः सोऽपि पुद्गलपरिणामः। तमोऽन्धकारः परिणामः पुद्गलद्रव्याणामेवोपकारः। छायापि पुद्गलपरिणामः। उद्योतश्चन्द्रतारकादीनां पुद्गलपरिणामः। आतपो दिनकरादीनां पुद्गलपरिणामः॥ २१६ ॥

कर्म ज्ञानावरणादि पुद्गलोपकारः। शरीरमौदारिकादि पुद्गलपरिणामः। मनोवाक्कायाः पुद्गलपरिणामः। विचेष्टितं क्रिया पुद्गलपरिणामः। उच्छ्वासः प्राणापानौ पुद्गलपरिणामः। दुःखं सुखं चेति पुद्गलजनितमेव। जीवितोपग्रहकराः क्षीरघृतादिपुद्गलाः, मरणोपग्रहकरा विषगरादिपुद्गलाः, सर्वेऽप्येते पुद्गलानामुपकाराः। संसारिजीवविषयाः स्कन्धरूपेणपरिणतानां न परमाणुरूपेणेति ॥ २१७ ॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चन्द्रमा आदिका प्रकाश, तथा घाम, संसारीजीवोंके ज्ञानावरणादि कर्म, शरीर, मन, वचन, क्रिया, श्वास, उच्छ्वास, सुख और दुःख तथा जीवन और मरणमें सहायक स्कन्ध—यह सब पुद्गलका उपकार है।

१–'पुद्गलद्रव्यम्' इत्यारम्य 'छायोद्योतातपश्चेति.' इति सम्पूर्णकारिकापर्यन्तः पाठो ब० पुस्तके नास्ति।

भावार्थ—आठ प्रकारका स्पर्श, पाँच प्रकारका रस, दो प्रकारकी गन्ध और पाँच प्रकारका रूप—ये सब पुद्गलके गुण होनेसे पुद्गलका ही उपकार समझना चाहिए। शब्द भी पुद्गलकी ही पर्याय है। परमाणुका परमाणुके साथ अथवा कर्मपुद्गलोका आत्माके प्रदेशोके साथ जो दूध-पानीकी तरह बन्ध होता है, वह भी पुद्गलका ही उपकार है। अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्धोका भी अदृश्य होना, और बादल, इन्द्रधनुष आदिका स्थूल होना भी पुद्गलका भी उपकार है। तिकोन वगैरह आकार, घड़े आदिके टुकडे, अन्धकार, छाया चाँदनीका प्रकाश, सूर्यका प्रकाश—ये सब पुद्गलके ही कार्य हैं। तथा जिन स्कन्धोसे ससारी जीवोके कर्म, शरीर, मन, वचन, श्वास, उच्छ्वास वगैरह बनते हैं, जिनके सेवनसे उन्हें सुख और दुःखका अनुभव होता है और जो उनके जीवनमें सहायक हैं—जैसे दूध, घी आदि और जो उनकी मृत्युमें कारण हैं, जैसे-विष वगैरह—वे सब पुद्गलके ही कार्य जानना चाहिए।

कालकृतोपकारदर्शनायाह—

काल और जीव द्रव्यका उपकार बतलाते हैं:—

परिणामवर्तनाविधिः परापरत्वगुणलक्षणः कालः।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यशिक्षागुणा जीवाः॥ २१८॥

टीका—परिणामास्तावद्वर्धतेऽङ्कुरो हीयते वाऽपक्षीयते विनश्यतीत्यादिकः कालजनित उपकारः। वर्त्तनेति—वर्त्तत इदं कालापेक्षमेतदभिधानं प्रयुञ्जते विद्वान्सः। वर्तनाया विधिः प्रकारः उक्तेन न्यायेन। परत्वमपरत्वं च कालकृतम्। पञ्चाशद्वर्षात्पञ्चविंशतिवर्षोऽपरः, पञ्चविंशतिवर्षात्पञ्चाशद्वर्षः परः। एवं परिणामादिगुणलक्षणः कालः परिणामादिभिर्यथोक्तैर्लक्ष्यत इत्यर्थः। अथ जीवाः केनोपकारेणोपकुर्वते? सम्यक्त्वाद्युत्पादनेन। तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वमुक्तवमुत्पादयन्ति। ज्ञानं श्रुताद्यधिगमयन्ति। चारित्रं क्रियानुष्ठानमुपदिशयन्ति। वीर्यं शक्तिविशेषं दर्शयन्ति। शिक्षां लिप्यक्षरादिसविज्ञानं जनयन्ति। एते जीवक्रिया (कृता) उपकाराः॥२१८॥

अर्थ—परिणाम, वर्तनापरत्व और अपरत्व गुण कालद्रव्यके हैं। और सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और शिक्षा जीव द्रव्यके गुण हैं।

भावार्थ—अंकुरका फूटना, उसका बढ़ना अथवा घटना, इत्यादि परिणाम काल द्रव्यका उपकार है। 'अमुक वस्तु है' इत्यादि व्यवहारको वर्तना कहते हैं। यह वर्त्तना भी कालका ही उपकार है; क्योंकि कालके निमित्तसे ही—'है' आदि व्यवहार होता है। पचास वर्षके आदमीकी अपेक्षासे पचीस वर्षका युवक ऊपर—छोटा कहलाता है। और पचीस वर्षके युवककी अपेक्षासे पचास वर्षका आदमी पर—बड़ा कहलाता है। यह छोटा—बड़ा व्यवहार भी काल द्रव्यका ही कार्य है। इन

१—" वण्णरसगंधफासा विज्जते पोग्गलस्स सुहुमादो। पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥"
—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार २।४०

२—वर्षोऽपरः मु०।

गुणों-कार्योंसे काल द्रव्यको जाना जाता है। तथा सम्यक्त्व वगैरह जीवके गुण हैं, क्योंकि जीव तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, शास्त्रोंको पढ़ते, चारित्रका पालन तथा उपदेश करते हैं, शक्तिका प्रदर्शन करते हैं, लिपि, अक्षर वगैरहका ज्ञान कहते हैं। ये सब जीवके गुण-उपकार जानने चाहिए।

एवं जीवाजीवानभिधाय प्रपञ्चेन पुण्यापुण्यपदार्थद्वयमभिधित्सुराह—

इस प्रकार जीव और अजीव पदार्थको कह कर विस्तारसे पुण्य और पाप पदार्थको कहते हैं:—

पुद्गलकर्म[1] शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।
यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥ २१९ ॥

टीका—द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः शुभाः पुण्याभिधानाः। द्व्यधिकाशीतिरप्रशस्तप्रकृतीनां पापाभिधाना एवमाहुः सर्वज्ञा इति आगमग्राह्यः पदार्थोऽयमिति प्रतिपादयति ॥ २१९ ॥

अर्थ—जो पुद्गल कर्म शुभ हैं, वह पुण्य है, ऐसा जिनशासनमें देखा गया है। तथा जो अशुभ है, वह पाप है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान्ने कहा है।

भावार्थ—सर्वज्ञदेव कर्मोंकी ४२ शुभ प्रकृतियोंको पुण्य और ८२ अशुभ प्रकृतियोंको पाप कहते हैं। सर्वज्ञका निर्देश करनेसे ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि पुण्य पाप पदार्थ आगमका विषय है। और जिनशासनमें उसका विस्तारसे वर्णन पाया जाता है।

आस्रवसंवरौ निरूपयति[2]—

आस्रव और संवरका निरूपण करते हैं —

योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः।
वाक्कायमनोगुप्तिर्निरास्रवः संवरस्तूक्तः ॥ २२० ॥

टीका—योगो[3] मनोवाक्कायाख्यः स खल्वागमपूर्वको व्यापारः स्वेच्छाकृतः स पापस्यास्रवइति। सर्वेषामेवास्रवाणां निरोधो गुप्तिसमितिपुरःसरो नियमितमनोवाक्कायक्रियस्य संवरो भवति स्थगितास्रवद्वारस्येत्यर्थः ॥ २२० ॥

अर्थ—शुद्ध योगसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है और अशुद्ध योगसे पाप कर्मका आस्रव होता है। वचन गुप्ति, कायगुप्ति और मनोगुप्तिपूर्वक आस्रवके रुकनेको संवर कहते हैं। इसका निरूपण पहले किया जा चुका है।

१—नास्ति पदमिद ब० पुस्तके। २—नास्त्यत्र पदद्वयमिद ब० पुस्तके। ३—अस्मात् पूर्वं 'आस्रवसंवरौ निरूपयति' इत्यात्मकः पाठ उपलभ्यते ब० पुस्तके।

भावार्थ—आगममें विहित विधिके अनुसार जो मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति होती है, उससे पुण्य कर्मका आस्रव होता है। और स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति करनेसे पाप कर्मका आस्रव होता है। गुप्ति समितिका पालन करते हुए सर्व मन, वचन और कार्यकी क्रियाको नियमित करनेसे जो समस्त आस्रवोंका निरोध होता है, उसे संवर कहते हैं।

निर्जरणबन्धमोक्षप्रतिपादनायाह—

निर्जरा, बन्ध और मोक्षको कहते हैं—

संवृततपउपधानं तु निर्जरा कर्मसन्ततिर्बन्धः।
बन्धवियोगो मोक्षस्त्विति संक्षेपान्नव पदार्थाः ॥ २२१ ॥

टीका—एवं संवृतास्रवद्वारस्य तपसि यथाशक्ति घटमानस्यापूर्वकर्मप्रवेशनिरोधे सति पूर्वार्जितकर्मणस्तपसा क्षयः। निर्जरा निर्जरणम्। उपधानमिवोधानं शिरोधराया सुखहेतुर्यथा तथा तपोऽपि जीवस्य सुखहेतुत्वादुपधानमुच्यते। कर्मसन्ततिर्बन्धः। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां सन्ततिरविच्छेदो बन्धः कर्मत एव कर्मोपादानमात्मन इत्यर्थः। कार्त्स्न्येन बन्धवियोगो मोक्षः। द्वाविंशत्युत्तरेऽपि प्रकृतिशते निःशेषतः क्षीणे मोक्षो भवति। इत्युक्ताः संक्षेपतो नव पदार्थाः ॥ २२१ ॥

अर्थ—संवरसे मुक्त जीवके तप—उपधानको निर्जरा कहते हैं। कर्मोंकी सन्तानको बन्ध कहते हैं। और बन्धके अभावको मोक्ष कहते है। इस प्रकार संक्षेपसे नौ पदार्थ हैं।

भावार्थ—आस्रवके द्वारोको बन्द करके शक्तिके अनुसार तपस्या करनेसे नवीन कर्मोंके आगमनके रुक जानेपर पहले बँधे हुए कर्मोंका तपसे जो क्षय होता है, उसे निर्जरा कहते है। उपधान तकियेको कहते हैं। जिस प्रकार तकिया सिरके लिए सुखका कारण होता है, उसी प्रकार तप भी जीवके सुखका कारण है। तप करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है। अत. तपको उपधान कहा है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंके नाश न होनेको–उनकी परम्पराके बराबर चलते रहनेको बन्ध कहते हैं; क्योकि कर्मोंसे ही आत्माके कर्मबन्ध होते हैं। अर्थात् पहले बँधे हुए कर्म ही नवीन कर्मोंके बन्धमें कारण होते है। इसीसे कर्मोंकी सन्तानको बन्धका कारण होनेसे बन्ध कहा है। बन्धके बिलकुल अभाव हो जानेको मोक्ष कहते हैं, क्योकि १२२ प्रकृतियोंके बिलकुल क्षीण हो जानेपर मोक्ष होता है। इस प्रकार संक्षेपसे ये नौ पदार्थ है।

सम्यग्दर्शनस्वरूपनिरूपणार्थमाह

सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहते हैं:—

एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु, विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ २२२ ॥

१-मेतत्त, फ०।

टीका—एतेषु जीवादिपदार्थेषु योऽध्यवसायो विनिश्चयेन परमार्थेन, न दाक्षिण्यानुवृत्त्या, तत्तत्त्वमिति सत्य तथ्यं तद्भूतमित्यर्थः। एतदेव प्रकार सम्यग्दर्शनम्। तत्तु द्विहेतुकं निसर्गादधिगमाद्वेति। निःसर्गः स्वभावः संसारे परिभ्रमतो जीवस्यानाभोगपूर्वक कर्म क्षपयतो ग्रन्थिस्थानप्राप्तस्यापूर्वकरणलाभाद् ग्रन्थि विदारयतः[1] शुभाध्यवसायस्य विभिन्नग्रन्थेरनिवृत्तिकरणप्राप्तौ शुभपरिणामस्य स निसर्गतः स्वभावादेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शन मुत्पद्यते। भगवत्प्रतिमादर्शनात् साधुदर्शनाद्वा शुभपरिणामो निसर्ग स्वभावश्चैकार्थाः। कदाचिद् ग्रन्थौ भिन्ने शिष्यमाणस्यागमोपदेशादाकर्णयतः शृण्वतोऽधिगमसम्यग्दर्शनमुत्पद्यते॥ २२२॥

अर्थ—इन जीवादि पदार्थोंमें परमार्थसे 'ये तत्त्व हैं।' ऐसा जो अध्यवसाय—परिणाम होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन स्वभावसे अथवा परोपदेशसे होता है।

भावार्थ—उक्त जीवादि पदार्थोंमें परमार्थसे, न कि दूसरोंके आग्रहसे, सत्यताकी जो प्रतीति होती है—कि यही तत्त्व हैं, यही तत्त्व हैं, यही सत्य है, यही वास्तविक है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दर्शनके दो हेतु हैं—एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। निसर्ग स्वभावको कहते हैं। संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव काललब्धिके प्राप्त होनेपर विना भोगे ही कर्मोंका क्षपण करता है। और मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थिस्थानको प्राप्त करके अपूर्वकरण नामके परिणामोंके द्वारा ग्रन्थिको भेदता है। शुभ परिणामोंके द्वारा मिथ्यात्व-ग्रन्थिका भेद करनेके बाद अनिवृत्तिकरण नामके परिणामोंको प्राप्त करता है। तब उसके स्वभावसे ही तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके दर्शनसे अथवा साधुओंके दर्शनसे पूर्वोक्त रीतिसे जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है। तथा ग्रन्थि-भेद होनेपर गुरु महाराजके उपदेश सुननेसे जो सम्यक्त्व होता है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है। साराश यह है कि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके दो कारण हैं—एक अन्तरङ्ग और दूसरा बाह्य। अन्तरङ्ग कारण दोनों ही सम्यग्दर्शनमें समान हैं, क्योकि दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोंकी उत्पत्तिके लिए मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थिका छेदा जाना आवश्यक है और उसके छेदके लिए अधाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके परिणामोंका होना जरूरी है। अत आन्तरिक प्रक्रिया तो दोनोंमें समान है। केवल बाह्य कारणोंमें अन्तर है। निसर्ग सम्यग्दर्शनमें जिन-प्रतिमा, साधु वगैरहका दर्शन बाह्य कारण होता है। उनके दर्शन मात्रसे ही शुभ भावोंकी धारा बहने लगती है। किन्तु अधिगम सम्यक्त्वमें परका उपदेश बाह्य कारण होता है। दोनोंमें केवल इतना ही अन्तर है।

एतदेव दर्शयति—

इसी बातको कहते हैं'—

शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य।
एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च॥ २२३॥

१–विदारत फ०।

टीका—उक्तार्था कारिकेयम् ॥ २२३ ॥

अर्थ—शिक्षा, आगम, उपदेशश्रवण–ये अधिगमके समानार्थक हैं। और परिणाम, निसर्ग और स्वभाव–ये तीनो एकार्थक हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार जैनधर्मके अभ्याससे, आगमके पढ़नेसे, और उपदेशके सुननेसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह अधिगम है, उसी प्रकार परके उपदेशके विना स्वभावसे ही जो सम्यक्त्व होता है, वह निसर्ग है।

एतत्सम्यग्दर्शनमनधिगमविपर्ययौ तु मिथ्यात्वम् ।
ज्ञानमथ पञ्चभेदं तत् प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥ २२४ ॥

टीका—एतद्विप्रकारं सम्यग्दर्शनमाधिगमिकं नैसर्गिकं च। एतद्विपरीतं मिथ्यात्वमनधिगमलक्षणं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। अतत्त्वबुद्धिरिति विपर्ययः। ज्ञानं मत्यादिभेदेन पञ्चधा। तत् समासतो द्विधा—प्रत्यक्षं परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षमवधिमनःपर्यायकेवलाख्यमक्षस्यात्मनः साक्षादिन्द्रियनिरपेक्षं क्षयोपशमजं क्षयोत्थं च। मतिश्रुते परोक्षमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिन्द्रियद्वारकं न पुनरात्मनः साक्षाद्धूमादग्निज्ञानवत्। इन्द्रियमनोज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यं परोक्षमिति ॥ २२४ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन है। और तत्त्वार्थका श्रद्धान न करना अथवा विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। ज्ञानके पाँच भेद हैं। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष होता है।

भावार्थ—इस प्रकार सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है—अधिगमज और निसर्गज। इससे उल्टा मिथ्यात्व है। तत्त्वार्थका श्रद्धान न करना अधिगम मिथ्यात्व है। और तत्त्वमें अतत्त्वबुद्धिका होना विपर्यय मिथ्यात्व है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनका कथन करके सम्यग्ज्ञानका कथन करते हैं। ज्ञानके पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। यह सक्षेपसे दो प्रकारका होता है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। अवधि, मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रियोकी सहायता न लेकर केवल आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं। इनमेंसे अवधि और मनःपर्यय क्षायोपशमिक हैं और केवलज्ञान क्षायिक है। मति और श्रुत परोक्ष हैं; क्योंकि वे इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं। जैसे, धूमसे अग्निका ज्ञान करनेमें धूम सहायक होता है। वैसे ही ये ज्ञान भी इन्द्रिय और मनकी सहायतासे पदार्थोंको जानते हैं। अतः जो ज्ञान इन्द्रियावरण और अनिन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है, वह परोक्ष है।

तत्र परोक्षं द्विविधं श्रुतमाभिनिबोधिकं च विज्ञेयम् ।
प्रत्यक्षं चावधिमनःपर्यायौ केवलं चेति ॥ २२५ ॥

टीका—श्रुतमागमोऽतीन्द्रियविषयो यथार्थपरिच्छेदित्वात् प्रमाणम्। आभिनिबोधिकं मतिरिति तुल्यार्थौ। सा च मानसी मतिरर्थावग्रहाद्या। ततः परः द्विवहुद्वादशविधं श्रुतं

भवति । प्रत्यक्षं पुनरवध्यादित्रयम् । मिथ्यादर्शनपरिग्रहान्मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्चाज्ञानमपि भवतीति ॥ २२५ ॥

अर्थ—उनमेंसे परोक्षके दो भेद जानने चाहिए—एक श्रुत और दूसरा आभिनिबोधिक। तथा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानको प्रत्यक्ष जानना चाहिए।

भावार्थ—आगमिक ज्ञानको श्रुत कहते हैं। आभिनिबोधिक और मतिका एक ही अर्थ है। पहले अर्थावग्रह आदिरूप मतिज्ञान होता है। उसके बाद अनेक प्रकारका श्रुतज्ञान होता है। अवधि वगैरह तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। मिथ्यात्वके साथ रहनेसे मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। अर्थात् ये तीनों ज्ञान सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। यदि सम्यक्त्वके साथ हों तो सच्चे होते हैं और यदि मिथ्यात्वके साथ हों तो मिथ्या होते हैं।

एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति[1] विस्तराधिगमः ।
एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्य इति ॥ २२६ ॥

टीका—एषां मत्यादिज्ञानानामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः । तत्रेन्द्रियानिन्द्रियभेदाद्द्विविधं मतिज्ञानम् । अवग्रहादिभेदाच्चतुर्विधम् । बह्वादिभेदादनेकधा । श्रुतमप्यङ्गबाह्याङ्गप्रविष्टभेदाद्द्वेधा । अङ्गबाह्यमनेकप्रकारम् । आवश्यकाद्यङ्गप्रविष्टमप्याचारादि द्वादशविधम् । तत्र परोक्षमसर्वद्रव्यविषयम् । अवधिर्जघन्यमध्यमोत्कृष्टादिभेदेनानेकधा रूपिद्रव्यनिबन्धनः । मनःपर्यायज्ञानमपि ऋजुविपुलमत्यादिभेदमवधिज्ञानाविषयीकृतद्रव्यानन्तभाग निबन्धनं विशुद्धतरं चेति । एवं विस्तराधिगमः । आदिग्रहणात् क्षेत्रकालविभागोऽपि द्रष्टव्यः । अथैतानि पञ्च ज्ञानान्येकस्मिन्नात्मनि युगपत् कियन्ति भवन्तीत्याह-एकादीनीत्यादि । एकं मतिज्ञानं जघन्यतः श्रुतज्ञानमक्षरात्मकं सर्वत्र न[3] संभवतीत्येवमुक्तमेकं मतिज्ञानमिति । अन्यथा भावश्रुतं सर्वजीवानामागमेऽभिहितम् । तथा कदाचिन्मतिश्रुते द्वे भवतः । कदाचित्त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि । कदाचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानीति । न जातुचित् पञ्चापि युगपत् संभवन्तीति ॥ २२६ ॥

अर्थ—इन ज्ञानोंके उत्तरभेद और विषय वगैरहसे इनका विस्तारसे ज्ञान होता है। एक जीव में एकसे लेकर चार ज्ञान तक विभाग करना चाहिए।

भावार्थ—भेद-प्रभेद और विषय आदिसे ज्ञानोंको खूब विस्तारके साथ जाना जा सकता है। जैसे इन्द्रिय और अनिन्द्रियके भेदसे मतिज्ञान दो प्रकारका है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है। ये चारों ज्ञान, पाँचों इन्द्रियाँ और मनसे उत्पन्न होते हैं। अतः मतिज्ञान ४×६=२४ प्रकारका है। बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध, चिर, निःसृत, उक्त और

१–दिभिर्विस्तराधिगमो भवति–ब० । २–'एकादीन्येकस्मिन्' इत्यारभ्य 'विस्तराधिगमो भवति' इति पर्यन्तः पाठ–ब० पुस्तके नास्ति । ३–नास्तीद–ब० पुस्तके ।

ध्रुव-इन चार प्रकारके पदार्थोंके अवग्रहादि चारों ज्ञान होते हैं और उनमेंसे प्रत्येक ज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होता है। अतः मतिज्ञान १२×४×६ = २८८ प्रकारका है। तथा अवग्रहके दो भेद हैं। एक अर्थावग्रह और दूसरा व्यञ्जनावग्रह। व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनके सिवा शेष चारों ही इन्द्रियोंसे होता है और बारह ही प्रकारके पदार्थोंका होता है। अतः उसके १२ × ४ = ४८ भेद होते हैं। पूर्वोक्त २८८ भेदोंमें ४८ भेदोंको मिलानेसे मतिज्ञान ३३६ प्रकारका होता है।

श्रुतज्ञान भी अंगबाह्य और अंगप्रविष्टके भेदसे दो प्रकारका है। अंगबाह्य श्रुतके अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट श्रुतके आचाराङ्ग, सूत्रकृतांग आदि बारह भेद हैं। ये दोनों परोक्षज्ञान समस्त द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको जानते हैं। अवधिज्ञानके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि अनेक भेद हैं। तथा वह रूपी द्रव्योंको ही जानता है। मनःपर्ययज्ञानके-ऋजुमति, विपुलमति वगैरह भेद हैं। वह अवधिज्ञानके विषयीभूत रूपी द्रव्यके अनन्तवें भागको जानता है। अतः उसकी अपेक्षासे विशुद्धतर है। केवलज्ञान समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको जानता है। इस प्रकार भेदों और विषयकी अपेक्षासे ज्ञानोंका विस्तारसे बोध होता है। 'आदि' पदसे क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे भी विभाग कर लेना चाहिए। इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे एक जीवके एकसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। एक ज्ञान मतिज्ञान होता है। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान सब जीवोंके नहीं होता। अतः अकेला मतिज्ञान बतलाया है। कभी मति और श्रुत दोनों होते हैं। कभी मति, श्रुत और अवधि तीन ज्ञान होते हैं। कभी मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान होते हैं। किन्तु एक साथ पाँचों ज्ञान कभी नहीं होते।[1]

सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानयोः किंकृतो भेद इत्याह—

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानमें भेद होनेका कारण बतलाते हैं:—

सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति नियमतः सिद्धम्।
आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥ २२७ ॥

टीका—सम्यग्दृष्टिस्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनसम्पन्नः शङ्कादिशल्यरहितस्तस्य यज्ज्ञानं तत्सम्यग्ज्ञानम्। यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदित्वात् नियमेनैवाव्यभिचारि सिद्धम्। आद्यत्रयमज्ञानमपि। मिथ्यादर्शनयोगात् मतिश्रुतावधयः सदसदविशेषपरिज्ञानाद्य-दृच्छातो वाऽसदुपलब्धेरुन्मत्तवत्। ज्ञानफलाभावाच्च मिथ्यादृष्टेरज्ञानमेव ॥ २२७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है, यह नियमसे सिद्ध है। आदिके तीन मति, श्रुत, और अवधि, मिथ्यात्वसे संयुक्त होनेपर मिथ्याज्ञान भी होते हैं।

१—एक तावत् केवलज्ञानं न तेन सहान्यानि क्षायोपशमिकानि युगपदवतिष्ठन्ते। द्वे मतिश्रुते। त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा, चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि। न पञ्च सन्ति, केवलस्यासहायत्वात्।—श्रीपूज्य पादकृत-सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय सूत्र। ३०।

भावार्थ—तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनसे युक्त और शङ्कादि दोषोंसे रहित सम्यग्दृष्टिका जो ज्ञान होता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह वस्तुके स्वरूपको जैसा का तैसा जानता है। यह बात नियमसे अव्यभिचारी है। अर्थात् सम्यग्दृष्टिके ज्ञानके सम्यग्ज्ञान होनेमें कभी कोई बाधा नहीं देखी गई और न कभी सम्यग्दृष्टिके सिवा किसी अन्यका ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही देखा गया है। आदिके तीन ज्ञान—मति, श्रुत, और अवधि मिथ्याज्ञान भी होते हैं। अर्थात् ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टिके भी होते हैं। अत वे मिथ्याज्ञान भी कहे जाते हैं। क्योंकि मिथ्यादर्शनके सम्बन्धसे ये तीनों ज्ञान सत् और असत्में भेद न कर सकनेके कारण उन्मत्त मनुष्यकी तरह अपनी इच्छासे सत् को असत् कह देते हैं और असत् को सत् कह देते हैं। यदि कभी सत्को सत् और असत्को असत् भी कह दें तो भी उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार शराबी मनुष्य शराबके नशेमें स्त्रीको माता और माताको स्त्री कहता है। कदाचित् माताको माता और स्त्री को स्त्री भी कह देता है, किन्तु इससे उसे होशमें नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी आत्मज्ञानसे विमुख होनेके कारण संसारके पदार्थोंमें मिथ्याबुद्धि रखता है—जो अपने नहीं हैं उन्हें अपना समझता है। उनमें किसीसे राग और किसीसे द्वेष करता है। अत. उसका ज्ञान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके कारण ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान होता है।

सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञाने निरूप्य चारित्रप्रतिपादनार्थमाह—

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका निरूपण करके सम्यक्चारित्रका प्रतिपादन करते हैं —

सामायिकमित्याद्यं छेदोपस्थापनं द्वितीयं तु ॥
परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातम् ॥ २२८ ॥

टीका—अरक्तद्विष्टः समस्तस्य आयो लाभ उपचयो ज्ञानादेः समायः, स प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। प्रथमपश्चिमतीर्थङ्करयोरित्वरं सामायिकम्। मध्यमतीर्थङ्कराणां यावज्जीविकम्। पूर्वपर्यायच्छेदादुत्तरपर्यायोत्थापनं छेदोपस्थापनम्। प्रथमपश्चिमतीर्थङ्करयोरेव तीर्थे। परिहारविशुद्धिकं परिहारेण आचाम्लवर्जिताहारपरिहारेण तत्परित्यागेन विशुद्धिः कर्म यत्र तत् परिहारविशुद्धिकम्। अधीतनवमपूर्वतृतीयाचारवस्तूनां साधूनां गच्छविनिर्गतानां पारिहारिककल्पस्थितत्वेन त्रिधा स्थितानां ग्रीष्मशिशिरवर्षासु चतुर्थादिद्वादशान्तभक्तभोजिनामाचाम्लेनैव पारिहारिकाणां च प्रतिदिनाचाम्लभोजनां कल्पस्थितस्य च एकैकस्य वर्गस्य षाण्मासावधितपोऽनुष्ठानं परिहारविशुद्धिकमुच्यते। तथा सूक्ष्मसम्परायं सम्परायः कषायोयस्य सूक्ष्मो लोभाख्यस्तत्सूक्ष्मसम्परायं दशमगुणस्थानवर्तिनश्चारित्रं भवति। यथाख्यातं तूपशान्तकषायस्य क्षीणकषायस्य चैकादशे द्वादशे च गुणस्थाने वर्तमानस्य भवति। यथा भगवद्भिराख्यातं येन प्रकारेण कथितं कथं वाख्यातमकषायस्य चारित्रमित्येवमाख्यातम्॥ २२८ ॥

१–काणामनुपरिहारिकाणां च–ख०।

इत्येतत् पञ्चविधं चारित्रं मोक्षसाधनं प्रवरम् ।
अनेकानुयोगनयप्रमाणमार्गैः समनुगम्यम् ॥ २२९ ॥

टीका—पञ्चविधं सामायिकादियथाख्यातपर्यन्तमष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाच्चरित्रम् । मोक्षसाधन सम्यग्ज्ञानपूर्वकं क्रियानुष्ठानम् । प्रवरं प्रधानम् । अनेकानुयोगद्वारमार्गेण, अनेकेन च नयमार्गेण नैगमादिना, तथा प्रमाणमार्गेण प्रत्यक्षपरोक्षगोचरेण । समनुगम्यं समधिगम्यं ज्ञेयमित्यर्थः ॥ २२९ ॥

अर्थ—पहला सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापना, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसम्पराय और पाँचवाँ यथाख्यात ये चारित्रके पाँच भेद हैं । यह चारित्र मोक्षका प्रधान कारण हैं । अनेक अनुयोगद्वारोंसे, नयोंसे और प्रमाणोंसे उसे अच्छी तरह जानना चाहिए ।

भावार्थ—राग और द्वेषसे रहित परिणामको सम कहते है, उसकी प्राप्तिको 'समाय' कहते हैं । 'समाय' अर्थात् साम्यभावकी प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं । पहले और अन्तिम तीर्थंकरको सामायिकचारित्र कुछ समय तक रहता है और मध्यके तीर्थङ्करोंके जीवनपर्यन्त रहता है । पूर्व पर्यायका छेद करके उत्तर पर्यायके धारण करनेको छेदोपस्थापनचारित्र कहते हैं । यह चारित्र पहले और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमें ही होता है । आशय यह है कि दीक्षा धारण करते समय सामायिकसंयम ही, धारण किया जाता है । बादमें उसमें दूषण लगनेपर छेदोपस्थापनचारित्र धारण करना होता है । यह दूषण पहले और अन्तिम तीर्थंकरोके समयमें ही लगता है । अत. उनके तीर्थमें पाँचो चारित्रोंकी प्रवृत्ति रहती है । किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोके तीर्थमें सामायिकमें दूषण लगनेका प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता । अत उनके तीर्थमें चार ही सयमोकी प्रवृत्ति रहती है । आचाम्लके सिवा शेप आहार भी त्याग कर देनेसे आत्मामें जो विशुद्धि उत्पन्न होती हैं, उसे परिहारविशुद्धिचारित्र कहते है । नौवें पूर्वकी तीसरी आचार वस्तुके पाठी जो साधु गच्छसे निकलकर पारिहारिक कल्पमें स्थित होते हैं और ग्रीष्म, शिशिर तथा वर्षा ऋतुमें एकसे लेकर पाँचतक उपवास करते हैं । अर्थात् ग्रीष्म ऋतुमें जघन्यसे एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास, शिशिर ऋतुमें जघन्यसे दो, मध्यम तीन और उत्कृष्टसे चार उपवास तथा वर्षा ऋतुमें जघन्यसे तीन, मध्यमसे चार और उत्कृष्टसे पाँच उपवास करते हैं । पारणाके दिन आचाम्ल भोजन करते हैं ।

सम्परायकषायको कहते हैं । जिसके सूक्ष्म लोभकषाय बाकी रह जाती है, उस दशम गुणस्थानवर्ती जीवके सूक्ष्मसम्परायचारित्र होता है । ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्त-कषाय और क्षीणकषाय मुनिके यथाख्यातचारित्र होता है । भगवान्ने जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे पूर्ण चारित्रको यथाख्यातचारित्र कहते है । यह चारित्र अकषायोंके होता है । इस प्रकार चारित्रके पाच भेद हैं । यह चारित्र आठ प्रकारके कर्मोंके समूहको नष्ट कर डालता है, अत: मोक्षके

१–अनेकैरनुयोग––ब० ।

प्रति प्रधान कारण है। अनेक अनुयोगोंसे, अनेक नयोंसे तथा प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे इस चारित्रको अच्छी तरह जानना चाहिए॥ २२८-२२९॥

सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं च किं समुदितमेव साधनमाहोश्विदेकैकमपीत्याशङ्कयाह—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षके साधन हैं अथवा एक एक साधन है? यह आशङ्का करते हैं:—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदः साधनानि मोक्षस्य।
तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः॥ २३०॥

टीका—समुदितमेव त्रितयमविकलं मोक्षसाधनम्। एकतराऽभावेऽप्यसाधनमिति। एताः सम्यक्त्वादिसम्पदाः। परस्परापेक्षा एव मोक्षं साधयन्ति, त्रिफलाव्यपदेशवत्[1]। एकतराऽभावे तु साधनाभावः, न मोक्षं साधयन्तीत्यर्थः॥ २३०॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी सम्पदा मोक्षका साधन है। उनमेंसे एकके भी अभावमें मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती।

भावार्थ—ये तीनों मिलकर ही मोक्षके साधन हैं। एकके भी अभावमें मोक्षके साधन नहीं हो सकते। जिस प्रकार हर्र, बहेड़ा और आँवलाके मेलसे ही त्रिफला नामक औषध तैयार होती है, तभी वह रोगोंका उन्मूलन करती है। उसी प्रकार ये तीनों ही परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखकर ही मोक्षका साधन करते हैं। इनमेंसे यदि एक भी न हो तो संसाररूपी रोगोंसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः॥ २३१॥

टीका—[2]सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानयोः सतोरपि चारित्रसम्पत् कदाचिद् भवति, कदाचिन्नेति भजनीयमुत्तरं चारित्रमित्यर्थः। यदा पुनश्चरणं लब्धं तदा पूर्वद्वयलाभो नियमेनैव। नहि सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानाभ्यां विना चरणसंभवः, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य। तस्माच्चरणलाभाविनाभूते सम्यक्त्वसम्यग्ज्ञाने॥ २३१॥

अर्थ—उनमेंसे पहलेके दो—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी चारित्र भजनीय है—कभी होता है और कभी नहीं होता। किन्तु उत्तर-चारित्रके होनेपर पहलेके दोनों—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका लाभ सिद्ध ही है।

१–त्रिफलव्य–फ० व०। २–'सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानयोः' इत्यारम्य 'नियमेनैव' इतिपर्यन्तः पाठः–फ० पुस्तके नास्ति। परन्तु 'सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदः' इत्यादिपूर्वकारिकाव्याख्यानन्तरमवश्यमुल्लिखितोऽयं त्रुटितः पाठस्तत्र।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके प्राप्त होनेपर भी किसीके चारित्र होता है और किसीके नहीं होता। जिस प्रकार चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी चारित्र नहीं होता; किन्तु छट्ठे आदि गुणस्थानोंमें होता है। परन्तु जिसके चारित्र होता है, उसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नियमसे होते हैं। क्योंकि उनके विना चारित्र हो ही नहीं सकता। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होनेपर ही चारित्र होता है। अत' चारित्रकी प्राप्ति उन दोनोकी अविनाभावी है।

कथं पुनः सम्यक्त्वादिसाधनमाराध्यमविकलमनुष्ठेयमित्याह—

सम्यक्त्व वगैरहका आराधान किस प्रकार करना चाहिए ? यह वतलाते हैं —

धर्मावश्यकयोगेषु भावितात्मा प्रमादपरिवर्जी।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणामाराधको भवति ॥ २३२ ॥

टीका—धर्मे दशविधे क्षमादिके आवश्यकेषु। तानि चावश्यकानि प्रतिक्रमणालोचनस्वाध्यायप्रत्युपेक्षणप्रमार्जननिर्गमप्रवेशादीन्यवश्यकरणीयानि तेषु। भावितात्मा श्राद्धः समस्तप्रमादपरिहारी सम्यक्त्वादिसाधनानामाराधको भवति परिसमापयिता भवतीत्यर्थः ॥ २३२ ॥

अर्थः—क्षमा आदि धर्मोंमें और आवश्यकक्रियाओंमें श्रद्धाशील तथा प्रमाद न करनेवाला आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका आराधक होता है।

भावार्थः—जो दश प्रकारके धर्मोंमें और प्रतिक्रमण, आलोचन, स्वाध्याय, प्रत्युपेक्षण, प्रमार्जन और आना-जाना वगैरह आवश्यकक्रियाओमें श्रद्धा रखता है तथा आलस्य नहीं करता है, वह सम्यग्दर्शन आदिकी आसधना कर सकता है।

आराधनाश्च तेषां तिस्रस्तु जघन्यमध्यमोत्कृष्टाः।
जन्मभिरष्टत्र्येकैः सिध्यन्त्याराधकास्तासाम् ॥ २३३ ॥

टीका—तेषा सम्यक्त्वादीनामाराधनास्तिस्रो जघन्यमध्यमोत्कृष्टादिभेदेन संभवन्ति। तत्र जघन्याष्टभिर्जन्मभिर्देवमनुष्येषूत्पन्नजातस्य भवति, अष्टाभिस्तेषां भवैरन्तं याति सिद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः। मध्यमा त्वाराधना जन्मत्रयेण मनुष्यजन्मपूर्विका। उत्कृष्टा त्वाराधना एकेनैव भवेन मरुदेव्या इव भवति। एवमाराधकास्तान्याराधयन्तीति ॥ २३३ ॥

अर्थ—उन सम्यक्त्व वगैरहकी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी आराधना होती है। और उनके आराधक आठ तीन और एक जन्ममें मोक्षको प्राप्त करते है।

भावार्थः—उनकी आराधना तीन प्रकारकी होती है—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य आराधनाके आराधक जीव आठ भवमें मोक्षको प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधनाके तीन भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं, और उत्कृष्ट आराधनाके आराधक जीव उसी भवसे मोक्ष-लाभ करते है।

तासामाराधनतत्परेण तेष्वेव भवति यतितव्यम् ।
यतिना तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन ॥ २३४ ॥

टीका—तासां सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदाम् आराधनतत्परेण तत्रैव व्यग्रेण । तेष्वेव सम्यक्त्वादिषु यतितव्यं भवति । यतिना साधुना । तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन तत्पर इति सत्त्वादिपरेण जिनभक्तौ समुद्यतेन भगवतामर्हता यथाकालं वन्दनगुणोत्कीर्तनपरेण उपग्रहो भगवद्बिम्बप्रतिष्ठाफलकथनादि । अथवा साधूनामुपग्रहो वस्त्रपात्रभक्तपानादि समाध्युत्पादनेन च साधूनाराधयति प्रयत्नमेव कुर्वन्निति ॥ २३४ ॥

अर्थ—जो साधु उन सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रकी आराधनामें तत्पर है। उन सम्यक्त्वादिकमें तत्पर साधुओंकी और जिनभगवान्‌की भक्ति, उपग्रह और समाधिके द्वारा उनमें ही प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—जो साधु सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी आराधनामें तत्पर है, उसे उन्हींमें यत्न करते रहना चाहिए। और उसके लिए उसे सम्यक्त्वादिमें तत्पर अन्य साधुओंकी तथा जिनेन्द्रदेवकी वन्दन स्तुति वगैरह करनी चाहिए। जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा वगैरहका महान् फल बतलाते रहना चाहिए, साधुओंकी सेवा शुश्रूषा करते रहना चाहिये, तथा समाधिमें तत्पर रहना चाहिए। आशय यह है कि सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्रके आराधकको सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रके आराधककी भी हर तरहसे आराधना करते रहना चाहिए।

तमेव यत्नं प्रपञ्चेन दर्शयति—

विस्तारसे उसी यत्नका वर्णन करते हैं:—

स्वगुणाभ्यासरतमतेः परवृत्तान्तान्धमूकबधिरस्य ।
मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधृष्यस्य ॥ २३५ ॥
प्रशमाव्याबाधसुखाभिकांक्षिणः सुस्थितस्य सद्धर्मे ।
तस्य किमौपम्यं स्यात् सदेवमनुजेऽपि लोकेऽस्मिन् ॥ २३६ ॥

टीका—स्वगुणः सम्यक्त्वज्ञानचरणाख्या साधुगुणास्तेष्वभ्यास आवृत्यनुष्ठानं तत्र रता सक्ता मतिर्यस्यासौ स्वगुणाभ्यासरतमतिः । स हि परवृत्तान्ते परवार्तायां परचेष्टितेऽन्धः, न पश्यति परदोषान् गुणान् वा । स्वगुणेष्वेव सम्यक्त्वादिषु व्यग्रत्वात् । न च परदोषान् गुणान् वा उद्घट्टयति । मूक इव तदुद्घट्टने । न वाऽन्येन परगुणदोषानुद्घाट्यमानान् बधिर इव शृणोतीति । मदो गर्वः । मदनः कामः । मोहो हास्यरत्यादिः । मत्सरश्चित्तस्थ एव कोपो न बहिः प्रकटः । नो क्रोष्टारमाहन्तारं वा प्रतिभिनत्ति । रोषस्तु रक्तनयनाक्रोशताडनादिर्बहिर्लिङ्गः । विषादः स्वजनादिव्यापत्तावुपकरणादिना सेवा । एभिर्मदादिभिरधृष्यस्यानभिभूतस्य ॥ २३५ ॥

प्रशमसुखाभिकांक्षिणः अव्याबाधमोक्षसुखकांक्षिणश्च । सद्धर्मे मूलोत्तरलक्षणे । सुस्थितस्य निश्चलस्य । तस्यैवंविधस्य साधोः कोनोपमानं क्रियेत । अस्मिन् लोके सदेवमानुषे । नास्त्येव देवेषु मानुषेषु वा प्रशमसुखतुल्यं सुखम्, दूरत एव मोक्षसुखमिति ॥ २३६ ॥

अर्थ—जिसकी मति अपने गुणोके अभ्यासमें लगी हुई है, जो दूसरोंकी बातोंमें अन्धा, गूँगा और बहिरा है, जो गर्व, काम, मोह, मत्सर[1], रोष[2], और विषाद[3]से अभिभूत नहीं होता, जो प्रशम-सुख और बाधा रहित मोक्षके सुखका इच्छुक है और अपने धर्ममें दृढ है, देव और मनुष्योंसे युक्त इस लोकमें उस पुरुषकी उपमा किससे दी जा सकती है ?

भावार्थ—जो अपने सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र-गुणोंके पालनमें सदा लवलीन रहता है, दूसरोके दोषों अथवा गुणोंको नहीं देखता, अपने ही गुणोंके आराधनमें व्यग्र रहता है, दूसरोके दोषों अथवा गुणोंको नहीं कहता है, यदि दूसरा कोई कहता हो तो उधर कान नहीं देता, गर्व, काम और मोह आदिके वशमें नहीं होता, केवल प्रशम-सुख और मोक्ष-सुखकी अभिलाषा करता है, और अपने धर्ममें स्थिर रहता है, ऐसे साधुकी उपमा किससे दी जावे ? इस लोकमें जो देव और मनुष्य रहते हैं, उनमेंसे कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता ।

अपि च

और भी—

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम् ॥ २३७ ॥

टीका—स्वर्गो मोक्षश्च परोक्षं तत्र यत्सुखं तद्वयमपि परोक्षमागमगम्यम् । मोक्षसुखमत्यन्तपरोक्षमेव । अत्यन्तमिति सुतरां परोक्षम् । स्वर्गसुखस्य केनचिल्लेशेन किंचिदिह उपमानं स्यात्, न तु मोक्षसुखस्येति । अतोऽत्यन्तपरोक्षम् । सर्वप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेण स्वात्मवर्तिना परिच्छिद्यमानं प्रशमसुखं न च पराधीनं स्वायत्तमेव । नापि व्ययप्राप्तम् । स्वाधीनत्वादेव । यतस्तन्न व्येति न विगच्छति । वैषयिकं तु सुखं परवशं विषयाधीनं विषयाभावे तु न भवतीति ॥ २३७ ॥

अर्थ—स्वर्गके सुख परोक्ष हैं, और मोक्षका सुख तो अत्यन्त परोक्ष है । एक प्रशम-सुख प्रत्यक्ष है । न वह पराधीन है और न विनाशी ।

भावार्थ—स्वर्ग और मोक्ष—दोनों ही परोक्ष हैं अतः वहाँ जो सुख होता है, वह भी परोक्ष है, उसे केवल शास्त्रसे जान सकते हैं । स्वर्गके सुखका तो थोड़ा-बहुत आभास भी हो सकता है, क्योंकि

१–जो क्रोध दिल ही दिलमें रहता है, बाहर प्रकट नहीं होता, उसे मत्सर कहते हैं । २–जिसमें क्रोधसे आँखें लाल लाल हो जाती हैं, गाली बकता है, मारपीट करता है, उसे रोष कहते हैं । ३–अपने प्रियजनोंकी विपत्ति देखकर खिन्न होनेको विषाद कहते हैं ।

वहाँपर भी वैषयिक ही सुख है, किन्तु मोक्षका सुख तो अत्यन्त परोक्ष है। उस सुखका तो हम ससारी जनोंको आभास भी नहीं हो सकता। परन्तु प्रशम सुखका अनुभव तो हम अपनी आत्मामें ही कर सकते हैं। तथा वह सुख न तो पराधीन है और न विनाशीक है। वैषयिक-सुख नियमतः पराधीन है; क्योंकि वह विषयोकी प्राप्ति होनेपर होता है और विषयोंके अभावमें नहीं होता।

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ २३८ ॥

टीका—न्यक्कृतगर्वकामानां स्वस्थीभूतचेतसां शान्तानां वागादिविकाररहितानाम्। वाग्विकारो हिंस्रपरुषानृतादि। कायविकारो[1] धावनवल्गनादिः। मनोविकारोऽभिद्रोहाभिमानेर्ष्यादिः। एभिर्विरहितानाम्। विनिवृत्ता परविषया आशा येषा ते विनिवृत्तपराशा। परस्मादिदं लभ्यं धनधान्यरजतादि केवलं तु परकृतभिक्षामात्रोपजीविनः। सोऽपि यदि लभ्यते प्रवचनोक्तेन विधिना ततः साधु ज्ञानचारित्रोपकारित्वात्। न लभ्यते चेत्तत शुद्धाशयस्य निर्जरैवेति। एवंविधानां यतीनामिहैव मोक्षः। मोक्षसुखमुपमानमुपमेयं प्रशमसुखमिति ॥२३८॥

अर्थ—वचन, काय और मनके विकारसे रहित गर्व और कामके जीतनेवाले परकी आशा न करनेवाले, शास्त्रविहित विधिके पालक साधुओंको यहीं मोक्ष है।

भावार्थ—जिन्होंने गर्व और कामको जीत लिया है, जिनका चित्त स्वस्थ है, जो शान्त हैं वचनके विकार-कठोरता, असत्यता, हिंसकता वगैरहसे, शरीरके विकार—दौड़ना फाँदना वगैरहसे, और मनके विकार-अभिद्रोह अभिमान ईर्षा वगैरहसे जो रहित हैं, दूसरोंसे प्राप्त होनेवाले धन-धान्य सोना, चाँदी वगैरहकी रचमात्र भी इच्छा न करके जो केवल भिक्षासे प्राप्त होनेवाले अन्नपानसे अपना जीवन निर्वाह करते हैं—वह भी यदि शास्त्रविहित विधिके अनुसार मिलता है तो ठीक है अन्यथा जो अलाभको ही परम निर्जराका कारण मानकर उसमें ही संतोष करते हैं, और अपने परिणामोंको शुद्ध रखते हैं, ऐसे मुनीश्वरोंको इसी लोकमें मोक्ष है। अर्थात् प्रशम सुखको मोक्ष—सुखके ही तुल्य समझना चाहिए।

शब्दादिविषयपरिणाममनित्यं दुःखमेव च ज्ञात्वा।[2]
ज्ञात्वा च रागद्वेषात्मकानि दुःखानि संसारे ॥ २३९ ॥
स्वशरीरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति।
रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ॥ २४० ॥

टीका—शब्दादयो विषया शब्दरूपरसगन्धस्पर्शास्तेषां परिणाम इष्टानिष्टता शब्दादिविषयपरिणामाच्च यत्सुखं तदनित्यम्। विषयसन्निधौ भवति, तदभावे च न भवतीत्यनित्यम्।

१—नास्ति पदमिद—फ० पुस्तके। २—नास्तीय सम्पूर्णा कारिका—फ० पुस्तके केवल व्याख्यैवास्यास्तत्र।

अपि च दुःखमेवेदं वैषयिकं सुखं पामनपुरुषकण्डूतिसुखवत् । दुःखमेवायं सुखाभिमानोऽल्पचेतसाम् । एवं विज्ञाय ज्ञात्वा च । रागद्वेषात्मकानि रागद्वेषपरिणतिजातानि रागद्वेषानुविद्धानि दुःखानि संसारे करोतीदम् ॥ २३९ ॥

निजशरीरकेऽपि न रज्यति रागं न करोति स्नेहमित्यर्थः । शत्रावपि न प्रदोषं प्रद्वेषं करोति । रोगो ज्वरादिः । जरा वयोहानि । प्राणनाशो मरणम् । भयमिहलोकादि सप्तप्रकारम् । अपि शब्दश्चार्थे । एभिश्च न व्यथितः संपतद्भिरपि न बाधितः । एभ्यो न भीतो यः स नित्यमेव सुखी नित्यसुखीति ॥ २४० ॥

अर्थ—जो शब्द आदि विषयोके परिणामको अनित्य और दुःखरूप जानकर तथा संसारके दुःखोको राग और द्वेषसे होनेवाले जानकर अपने शरीरमें भी राग नहीं करता और शत्रुसे भी द्वेष नहीं करता, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु और भयसे अपीड़ित वह मनुष्य सर्वदा सुखी है ।

भावार्थ—शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श-ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय है । इनमें जो इष्ट अथवा अनिष्ट बुद्धि होती है, यही उनका परिणाम है, वह परिणाम अनित्य है; क्योकि जो विषय आज सुखकर लगते हैं, कल वही दुःखदायी लगने लगते हैं । इसीलिए उन विषयोंके सम्बन्धसे जो सुख होता है, वह भी अनित्य है, विषयोके होनेपर होता है. उनके अभावमें नहीं होता । तथा यह वैषयिक सुख वास्तवमें दुःख ही है । जिस प्रकार खाजका रोगी खाजके खुजलानेमें सुख मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी विषय-सेवनमें सुखका अभिमान करते हैं । तथा विषयोंका अनुभवन करनेसे राग और द्वेष अवश्य उत्पन्न होते हैं । जो विषय प्रिय लगते है, उनसे राग होता है और जो अप्रिय लगते हैं, उनसे द्वेप होता है । ये राग और द्वेप ही ससारके दुःखोके मूलकारण हैं । ऐसा जानकर जो अपने शरीरसे भी राग नहीं करता है और शत्रुसे भी द्वेप नहीं करता है तथा जो रोग, बुढ़ापा, मृत्यु और भयसे डरता नहीं—यदि ये उपस्थित भी हो जायँ तो खेदखिन्न नहीं होता, वह मनुष्य सर्वदा सुखी रहता है ।

धर्मध्यानाभिरतस्त्रिदण्डविरतस्त्रिगुप्तिगुप्तात्मा ।
सुखमास्ते निर्द्वन्द्वो जितेन्द्रियपरीषहकषायः ॥ २४१ ॥

टीका—धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानमाज्ञाविचयादि, तत्राभिरतस्तत्परस्तत्र सक्त । मनोवाक्कायाख्याद्दण्डत्रयाद्विरत । अनागमको मनोवाक्कायव्यापारो दण्ड । तिस्रो गुप्तयस्ताभिर्गुप्तात्मा । मौनी निरवद्यभाषी । वाक्का (कृतका) योत्सर्गः प्रवचनोक्तविधिना गामी वा धर्मध्यायी निरुद्धार्त्तरौद्राध्यवसाय सुखमास्ते निराबाधमशेषक्रियानुष्ठानं कुर्वन् । निर्द्वन्द्वो निर्गतसकलोपद्रव एकाकी निष्कलहो वा जितानीन्द्रियाणि वशे स्थापितानि । परीषहा सम्यक् सह्यन्ते । कषायाणामुदयो निरुद्ध उदितो वा विफलीकृतः । स एवंविध सुखमास्ते ॥ २४१ ॥

१–नास्ति सम्पूर्णं वाक्यमिदं–फ० व० पुस्तकयोः ।

अर्थ—धर्मध्यानमें लवलीन, तीन दण्डोसे विरक्त, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित, इन्द्रिय परीषह और कषायका जेता कलह रहित साधु सुखपूर्वक रहता है।

भावार्थ—धर्मयुक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं जो उसमें लगा रहता है, मन, वचन और कायके आगम-विरुद्ध व्यापारको दण्ड कहते हैं, जो इन दण्डोंका त्यागी है, तीन गुप्तियोंका पालन करता है अर्थात् सर्वदा मौन धारण करता है, विशेष आवश्यकता पड़नेपर यदि बोलता है, तो हित-मित वचन ही बोलता है, काय-व्यापार नहीं करता, आगममें कही गई विधिके अनुसार केवल धर्मका ही चिन्तन करता है, आर्त्त और रौद्र ध्यानोंमें कभी भी मनको नहीं लगाता, लड़ाई झगड़ोंसे दूर रहता है, इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है, परीषहोंको अच्छी तरहसे सहता है, कषायोंके उदयको या तो रोक देता है या उसे व्यर्थकर देता है, ऐसा साधु सच्चे सुखको भोगता है।

विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलङ्कृतः साधुः।
द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्यः सर्वतेजांसि ॥ २४२ ॥

टीका—शब्दादिजनिते विषयसुखे निर्गताभिलाषो निर्गतेच्छः। प्रशमगुणा ये स्वाध्यायसन्तोषादयस्तेषां गणः समूहस्तेनालङ्कृतो विभूषितः। साधुर्भास्कर इव। द्योतयति अभिभवति तारकादिप्रभां स्वप्रभया तिरोभाव्य स्वतेज एव प्रकाशयति सर्वाणीत्यशेषाणि तेजांस्यभिभवतीत्यर्थः। तद्वत् साधुरुक्तगुणयुक्त सर्वतेजांसि देवमनुष्यादीनामभिभूय प्रकाशते स्वतेजसेति ॥ २४२ ॥

अर्थ—विषय-सुखकी अभिलाषासे रहित और प्रशम गुणोंके समूहसे सुशोभित साधु सूर्यके समान सब तेजोंको अभिभूत करके प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—शब्द आदिसे उत्पन्न होनेवाले विषय-सुखकी जिसे चाह नहीं है और स्वसन्तोष तथा प्रशमगुणोंके समूहसे जो विभूषित है, वह साधु सूर्यके समान चमकता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभासे तारो आदिकी प्रभाको अभिभूत करके अपने तेजको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार उत्तरगुणोसे युक्त साधु सभी देव और मनुष्योंको अभिभूत करके अपने गुणोंसे स्वयं ही प्रकाशित होता है।

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः।
तं न लभते गुणं यत् प्रशमसुखमुपाश्रितो लभते ॥ २४३ ॥[1]

टीका—सम्यग्दर्शनसम्पन्नः सम्यग्ज्ञानसम्पन्नश्च। विरतितपोबलयुतोऽपि विरत्य मूलोत्तरगुणेन युक्तोऽपि, तपोबलेन च सम्पन्नः। अनुपशान्तः क्रोधादिकषायोदयत्वालब्धप्रशमः। तं गुणं न लभते कषायोदये वर्तमानः। यं गुणं प्रशमगुणमाश्रितः प्राप्नोति। प्रशमस्थस्य हि प्राग्वर्णिता एव गुणाः। तस्मादुपशान्तकषायेण भवितव्यमिति ॥ २४३ ॥

१—यह कारिका-ह वृ में नहीं है।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी, सम्यग्ज्ञानी और व्रत तथा तपके बलसे युक्त होते हुए भी जो उपशान्त नहीं है, वह उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता, जिस गुणको प्रशम-सुखमें स्थित साधु प्राप्त करता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपोबलसे सम्पन्न होते हुए भी जिस साधुकी क्रोधादि कषाय शान्त नहीं हुई है, वह साधु उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता जो गुण प्रशम, भाववाले साधुको प्राप्त रहता है। प्रशममें स्थित साधुके गुण पहले बतला आये हैं। अतः कषायोको शान्त करना चाहिए।

तथा शीलाङ्गानामविकलानामेवंविध एव निष्पादको भवतीति दर्शयति—

प्रशम गुणवाला साधु ही शीलके सम्पूर्ण अङ्गोंकी साधना करता है, यह बतलाते हैं:—

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोध्यानभावनायोगैः।
शीलाङ्गसहस्राष्टादशकमयत्नेन साधयति ॥ २४४ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो[1] विरत्या मूलोत्तरगुणस्वरूपया। तपसा चानशनादिना। ध्यानेन च धर्मादिना। भावनाभिश्चानित्यादिकाभिर्योगैश्च प्रशस्तैर्मनोवाक्कायव्यापारैः। शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकमष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीत्यर्थ। अयत्नेनायासेन लीलयैव। साधयति स्वीकरोतीति।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी और ज्ञानी व्रत, तप, ध्यान, भावना और योगके द्वारा शीलके अठारह हजार अङ्गोको विना यत्नके ही साधता है।

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त है वह मूलगुण और उत्तरगुणरूप व्रत, अनशन वगैरह तप, धर्मादि ध्यान, अनित्यादि भावना, और मन, वचन, कायके प्रशस्त व्यापारके द्वारा शीलके अठारह हजार भेदोको विना किसी परिश्रमके धारण कर लेता है।

कानि पुनस्तानि अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीति केन चोपायेनाभिगम्यानीत्याह—

शीलके अठारह हजार अङ्गो और उनकी उत्पत्तिके उपायको बतलाते हैं:—

धर्माद्भूम्यादीन्द्रियसंज्ञाभ्यः करणतश्च योगाच्च।
शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकस्य निष्पत्तिः ॥ २४५ ॥

टीका—क्षमादिदशलक्षणको धर्म प्रथमपंक्तौ रचनीयः। तस्या अप्यधो द्वितीयपंक्तौ भूम्यम्बुतेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुःपञ्चेन्द्रिया अजीवकायश्च विन्यसनीयः। तस्या अप्यधस्तृतीयपंक्तौ श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानि लेख्यानि। तस्या अप्यधश्चतुर्थपंक्तौ आहार-भयपरिग्रहमैथुनसंज्ञा रचनीयाः। पञ्चमपंक्तावधस्तस्या न करोति न कारयति न कुर्वन्तमन्यं

---

[1] १-ज्ञानविसम्पन्नो वि-ब०।

नानुमोदयति, एतत्त्रयं स्थाप्यम् । तस्याप्यधः षष्ठपंक्तौ मनसा वाचा कायेनेति त्रयं विरचनीयम् । तत्र विकल्पानयने उच्चारणम् । क्षमयान्वितः पृथ्वीकायसमारम्भं संवृतश्रोत्रेन्द्रियद्वारः आहारसंज्ञाविप्रयुक्तो न करोति मनसा । एवं पृथ्वीकायमपरित्यजन् दश विकल्पान् लभते । एवमप्कायसमारम्भादिष्वपि दशसु दश विकल्पा लभ्यन्ते । ते दश दशका शतम् । एतच्छतं श्रोत्रेन्द्रियममुञ्चता लब्धम् । एवं चक्षुरादिभिरपि शतं शतं लभ्यते । जातानि पञ्च शतानि । एतान्याहारसंज्ञामसुञ्चता लब्धानि । तथा भयमैथुनपरिग्रहसंज्ञादिभिरपि प्रत्येकं पञ्च पञ्च शतानि लभ्यन्ते । जातं सहस्रद्वयम् । एतत् सहस्रद्वयं न करोमीत्यमुञ्चता लब्धम् । एवमित राभ्यामपि द्वे द्वे सहस्रे लब्धे । ततश्च षट् सहस्राणि जातानि । एतानि च मनसा लब्धानि । वाचापि षट् सहस्राणि । कायेनापि षडेव सहस्राणीति । एवमेषां शीलाङ्गानां शीलकारणानामष्टादशसहस्राणि निष्पाद्यन्ते ॥ २४५ ॥

अर्थ—धर्म, पृथ्वीकाय वगैरह, इन्द्रियाँ, सज्ञा, कृत, कारित, अनुमोदना, और मन, वचन, कायके मेलसे शीलके अठारह हजार अङ्गोंकी उत्पत्ति होती है ।

भावार्थ—पहली पंक्तिमें क्षमा आदि दस धर्मोंको रखना चाहिए । उसके नीचे दूसरी पंक्तिमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय और अजीवकायको रखना चाहिए । उसके नीचे तीसरी पंक्तिमें श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियोंको रखना चाहिए । उसके नीचे चौथी पंक्तिमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रहसज्ञाको रखना चाहिए । उसके नीचे पाँचवीं पक्तिमें 'न करता है', 'न कराता है' और न 'दूसरोंको करता हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है'—इन तीनोंकी स्थापना करनी चाहिए । उसके नीचे छठी पक्तिमें मन, वचन और कायको रखना चाहिए । इनको मिलाकर भेदोका उच्चारण इस प्रकार करना चाहिए—क्षमा धर्मसे युक्त पृथ्वीकायके आरभको, श्रोत्रेन्द्रियके द्वारको बन्द करके, आहारसज्ञासे रहित, मनसे नहीं करता है, । इस प्रकार पृथ्वीकाय और उसके नीचेके सब विकल्पोको दसों धर्मोंके साथ लगानेसे दस भेद होते हैं । इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय वगैरह दूसरी पक्तिके दसों विकल्पोंके दस दस भेद जान लेने चाहिए । सब मिलाकर सौ भेद हुए ।

इन सौ भेदोंमें श्रोत्रेन्द्रिय सम्मिलित है । क्योकि कायके बदलते रहनेपर भी नीचेके सब विकल्प प्रत्येकके साथ ज्योंके त्यों रहते हैं । अत श्रोत्रेन्द्रियके स्थानमें चक्षुन्द्रियको रखनेसे उसके भी इसी प्रकार सौ भेद होते है । इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंके भी जानने चाहिए । इस प्रकार पाँचों इन्द्रियोंके पाँचसौ भेद होते हैं । इन पाँचसौ भेदोंमेंसे प्रत्येकके साथ आहारसज्ञा लगी हुई है, क्योंकि धर्म, काय और इंद्रियोके परिवर्तन होनेपर भी अभी सज्ञा आदिका परिवर्तन नहीं हुआ है । अत आहारसंज्ञाकी ही तरह भय, मैथुन और परिग्रहसंज्ञाके भी पाँचसौ पाँचसौ भेद हुए । सब मिलाकर दो हजार भेद हुए । इन दो हजार भेदोंमें प्रत्येकके साथ 'नहीं करता है' विकल्प लगा हुआ है; क्योंकि अभी सज्ञासे नीचेके विकल्पोमें परिवर्तन नहीं हुआ । अतः शेष दो विकल्पोके भी दो दो हजार भेद होते हैं । तीनोंके मिलाकर छह हजार भेद होते हैं, इन छह हजार भेदोंमेंसे प्रत्येकके साथ मन सम्मिलित है, वचन

और काय अभी बाकी हैं। अतः उनके भी छह छह हजार भेद होते है। इस प्रकार तीनोंके मिलाकर शीलके अठारह हजार भेद बनते है।

शीलार्णवस्य पारं गत्वा संविग्नसुगमपारस्य।
धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यम् ॥ २४६ ॥

टीका—शीलं मूलोत्तरगुणा। शीलमर्णव इव दुरुत्तरत्वाद् अनेकातिशयनिनाधाद्वा। पारं गत्वा सम्पूर्णमवाप्य। कथं पुनः केन वा पारं गम्यते? संविग्नसुगमपारस्येति—संविग्नाः संसारभीरवः सुखेनैव सकलशीलप्रापिणो[1] भवन्ति। लब्ध्वा च सम्पूर्णशीलं धर्मध्यानं प्राप्ताः। वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यमिति। तत्कालावस्थायामुचितं प्रकृष्टवैराग्यमित्यर्थ ॥ २४६ ॥

अर्थ—संसारसे भयभीत साधुजनोके द्वारा सरलतासे पार करनेके योग्य, शीलरूपी समुद्रके पारको प्राप्त करके जो धर्मध्यानमें तत्पर होते है, उन्हें योग्य वैराग्यकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यह शील समुद्रके समान है। जिस प्रकार समुद्रका पार पाना कठिन होता है और उसके अन्दर अनेक बहुमूल्य रत्न भरे होते है, उसी प्रकार शीलके भेद—प्रभेदोंका पार पाना भी कठिन है और उसके अंदर भी अनेक गुण-रत्न भरे हुए हैं। जो साधुजन संसारसे भयभीत हैं, वे उस शील-सागरको सरलतासे पार कर सकते हैं। अतः उसे पार करनेके लिए ससारभीरु होना चाहिए। और जो उसे पार करके अर्थात् शीलके अठारह हजार भेदोंको धारण करके धर्मध्यानमें अपने मनको लगाता है, उसे उस अवस्थाके योग्य उत्कृष्ट वैराग्यकी प्राप्ति होती है। यही उसका फल है।

तच्च धर्मध्यानं चतुर्भेदमाचक्षाण आह—

धर्मध्यानके चार भेद कहते हैं:—

आज्ञाविचयमपायविचयं च स[2] ध्यानयोगमुपसृत्य।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ॥ २४७ ॥

टीका—आज्ञाविचयमपायविचयं विपाकविचयं संस्थानविचयं च। स खलु चतुःप्रकारं धर्मध्यानं शीलार्णवपारगामी। आद्यध्यानद्वयमुपाश्रित्य सम्प्राप्य ततस्तृतीयं विपाकविचयमुपयाति। ततस्तुरीयं संस्थानविचयमभ्येति ॥ २४७ ॥

अर्थ—शील-समुद्रका पारगामी साधु आज्ञाविचय और अपायविचय नामके ध्यानयोगको प्राप्त करके विपाकविचय और संस्थानविचय नामके धर्मध्यानोको प्राप्त करता है।

भावार्थ—धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान-

---

१—सकलप्रापिणो-भ०-ब०। २—सयोगमुप-ब०।

विचय। जो शील-समुद्रके पारको प्राप्त कर लेता है, वह इन चारों ध्यानोंमेसे पहले और दूसरे ध्यानको प्राप्त करके तब तीसरे और चौथे धर्मध्यानको प्राप्त करता है।

तत्राज्ञाविचायापायविचययोः स्वरूपनिरूपणायाह[1]—

आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञाविचयस्तदर्थनिर्णयनम्।
आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु ॥ २४८ ॥

टीका—आप्तः क्षीणाशेषरागद्वेषमोहस्तस्य वचनं प्रवचनमलीकादिशंकादिरहितं[2] द्वादशाङ्गमागमः। तस्या खल्वाज्ञाया सर्वज्ञदत्ताया विचयो गवेषणं गुणवत्त्वेन निर्दोषत्वेन च। तस्यार्थप्रवचनस्य निर्णयनं विनिश्चय । सर्वास्रवद्वारनिरोधैकरसत्वाद्गुणयुक्तम्। न कश्चि द्दोषोऽस्तीति । आज्ञाविचयोऽभ्यासः सूत्रार्थविषय। आस्रव कायवाग्मनांसि । विकथा स्त्रीभक्तचौरजनपदविषयाः । गौरवमृद्धिसातरसाख्यं त्रिधा । परीषहा क्षुत्पिपासादय । आदिग्रहणादगुप्तित्वमसमितित्वं च । एतेषु वर्तमानस्य जन्तोरपायबहुत्वं नारकतिर्यक्त्वदेव-मानुषजन्मसु प्रायेण प्रत्यवायाः संभवन्ति भूयास इति पश्चार्द्धेन निरुपितमपायविचयम् ॥२४८॥

अर्थ—आप्तके वचनको प्रवचन कहते हैं। उसके अर्थका निरूपण करना, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। और आस्रव विकथा, गौरव, परीषह वगैरहमें अनर्थका चिन्तन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान है।

भावार्थ—जिसके समस्त राग, द्वेष, और मोह क्षीण होगये हैं, उसे आप्त कहते हैं और उसके वचनको प्रवचन कहते हैं, अर्थात् असत्यता और शका आदि दोषोंसे रहित द्वादशांग आगमको प्रवचन कहते है। उसके अर्थका निर्णय आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है। अथवा प्रवचनके रूपमें सर्वज्ञदेवने जो आज्ञा दी है, उसकी गुणशालिता और निर्दोषताका विचार करना आज्ञाविचय है। सारांश यह है कि द्वादशाग वाणीके अर्थके अभ्यास करनेको आज्ञाविचय कहते हैं।

मन, वचन और कायके व्यापारको आस्रव कहते हैं। स्त्री, भोजन, चोर और देशकी बातें करना विकथा है। ऐश्वर्य, सुख और रसको गौरव कहते हैं। भूख-प्यास आदिकी बाधाको परीषह कहते हैं। आदि पदसे गुप्ति और समितिका अभाव लेना चाहिए। जो जीव इनमें पड़ता है। उसे अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतिमें उसे प्राय करके बहुत दु.ख भोगना पड़ता है। इस प्रकार आस्रव आदिकी बुराइयोका चिन्तन करना—अपायविचयधर्मध्यान है।

तृतीयचतुर्थभेदयोर्निरूपणायाह—

तीसरे और चौथे भेदका स्वरूप कहते हैं.—

१-स्वरूपणायाह फ०। २-प्रवचनमलीकादिर-फ०।

अशुभशुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात् ।
द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु ॥ २४९ ॥

टीका—अशुभं शुभं च कर्म द्वयोःकोऽद्यो (द्वयोः) वर्तते, तस्य पाको विपाकोऽनुभवो रस इत्यर्थः । तस्यानुचिन्तनं प्रयोजनमशुभनां कर्मांशानामयं विपाकः शुभानां चायमिति । संसारभाजां जीवानां तदन्वेषणं विपाकविचय । द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमवान् धर्मो द्रव्यमधर्मश्च तौ लोकपरिणामौ तयो संस्थानं लोकाकाशस्यैव । 'तत्राधोमुखमल्लक' इत्यादावुक्तम् । पुद्गलद्रव्यमनेकाकारमचित्तमहास्कन्धश्च सर्वलोकाकार । जीवोऽप्यनेकाकारः शरीरादिभेदेन यावल्लोकाकारः समुद्घातकाले । कालोऽपि यदा क्रियामात्रं द्रव्यपर्यायस्तदा द्रव्यकार एव । यदा तु स्वतन्त्रं कालद्रव्यं तदैकसमयाऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्राकृतिरित्येकसंस्थानविचय ॥ २४९ ॥

अर्थ—अशुभ और शुभ कर्मोंके रसका विचार करना-विपाकविचय नामके धर्मध्यानका अर्थ है । और द्रव्य तथा क्षेत्रके आकारका चिन्तन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान है ।

भावार्थ—कर्म दो प्रकारके हैं—एक शुभ और दूसरा अशुभ । दोनो ही प्रकारके कर्मोंके अनुभवका विचार करना कि अशुभ कर्मोंका यह फल होता है और शुभ कर्मोंका यह फल होता है, इसे विपाकविचय कहते हैं । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक—ये तीन क्षेत्र हैं । इनके आकारका चिन्तन करना सस्थानविचय है । जैसे, धर्म और अधर्म द्रव्य लोकके बराबर हैं । उनका सस्थान लोकाकारके ही समान है । लोकका आकार पहले बतला आये हैं । पुद्गलद्रव्यके अनेक आकार हैं । अचेतन महास्कन्ध सम्पूर्ण लोकके आकार है । जीव भी शरीर आदिके भेदसे अनेक आकारवाला है । केवली समुद्घातके समय वह लोकके आकार हो जाता है । कालद्रव्य भी जब द्रव्यकी पर्यायरूपसे लिया जाता है तो द्रव्यके ही आकार होता है और जब स्वतन्त्र द्रव्यरूपसे लिया जाता है तो अढ़ाई द्वीप, और दो समुद्रवर्ती एक समयरूप है । इस प्रकारका विचार सस्थानविचय है ।

सम्प्रति पारम्पर्येण धर्मध्यानस्य विशिष्टफलदर्शनायाह—

अब परम्परासे धर्मध्यानका विशेष फल बतलाते हैं—

जिनवरवचनगुणगणं सं चिन्तयतो वधाद्यपायांश्च ।
कर्मविपाकान् विविधान् संस्थानविधीननेकांश्च ॥ २५० ॥

टीका—जिनानां वरास्तीर्थकरास्तेषां वचनं तस्य गुणा[3] अहिंसकत्वादयस्तेषां गण. समूहस्तम् । संचिन्तयतःसम्यगालोचयत. आज्ञागुणान् । वधाद्यपायांश्च द्वितीयभेदे तु चिन्तयतो वधबन्धनाभियोगासमाधिप्रभृतीन् । तृतीयभेदेनच कर्मणो विपाकान् विविधान् शुभानशुभांश्च । चतुर्थभेदे संस्थानविधीन् संस्थानप्रकारान् बहूनिति ॥ २५० ॥

१–नास्तीय सम्पूर्ण कारिका–ब० पुस्तके केवलं व्याख्यैवास्यास्तत्र । २–द्रव्यक्षेत्रानुगमन फ० ।
३–' गुणा ' इत्यारभ्य तेषाम् इति पर्यन्त: पाठः नास्ति–फ० ब० पुस्तकयोः ।

किं भवतीत्याह—

नित्योद्विग्नस्यैवं क्षमाप्रधानस्य निरभिमानस्य ।
धुतमायाकलिमलनिर्मलस्य जितसर्वतृष्णस्य ॥ २५१ ॥

टीका—नित्यमित्यहर्निशमुद्विग्नो भीतः संसारात् । एवमुक्तेन प्रकारेण । क्षमाप्रधानस्य क्षमामूलत्वाद्धर्मस्य तत्प्रधानत्वम् । निर्गताभिमानस्य गर्वरहितस्येति । धुतमायाकलिमलनिर्मलस्य धुता विक्षिप्तो मायैव कलिमल कल्मष पापं तत्क्षपयत जितस्य (सर्व) लोभकषायस्य ॥ २५१ ॥

तुल्यारण्यकुलाकुलविविक्तवन्धुजनशत्रुवर्गस्य ।
समवासीचन्दनकल्पनप्रदेहादिदेहस्य ॥ २५२ ॥

टीका—तुल्यमरण्यं कुलाकुलश्च जनपद सदृश स्वात्मकार्यव्यग्रत्वात् । यादृगरण्यं तादृग् जनाकुलमपि । विविक्तवन्धुजनशत्रुवर्गस्य वन्धुजनः स्वजनलोक शत्रुवर्गो रिपुसमूहस्तौ विविक्तौ यस्य पृथग्भूतात्मनः सकाशात् । यथा वन्धुवर्गस्तथा शत्रुवर्ग, मत्तोन्य एव वन्धुवर्गः शत्रुवर्गश्च विविक्तः, तत्र तुल्याचित्तवृत्ति । यथा स्वजनवर्गस्तथा शत्रुवर्गोऽपीति । तथा समस्तुल्यो यो वास्या तक्ष्णोति यश्च चन्दनादिनोपलिम्पति । कल्पनं तक्षणम्, प्रदेह उपलेपनं चन्दनादिभिः । तत्र समवासी चन्दनकल्पनप्रदेहो (हादिर्यस्यैवंविधोदेहो) यस्य स एवमुक्त ॥ २५२ ॥

आत्मारामस्य सतः समतृणमणिमुक्तलोष्ठकनकस्य ।
स्वाध्यायध्यानपरायणस्य दृढमप्रमत्तस्य ॥ २५३ ॥

टीका—आत्मन्येवारमति प्रीतिं करोति स्वकार्य एव व्याप्रियते, न बहिः प्रीति वध्नाति । समं तुल्यं तृणं दर्भादि मणयश्च पद्मरागादय लोष्टं काञ्चनं च मुक्तं येन नाभिलषितम् यथा लोष्ट मृत्पिण्डो नाभिलष्यते एवं कनकमपि । एतदुक्तं भवति—न मृत्पिण्डस्तृष्णास्पदं तथा कनकमपि यस्य स मुक्तलोष्टकाञ्चनः । मुक्त परित्यक्तम् । स्वाध्यायो वाचनादिपञ्चप्रकारः । ध्यानं धर्मादितत्परायणस्तद्व्यग्रस्तदुपयोग. । दृढं वाढं सुष्टु । अप्रमत्तस्य सकलप्रमादपारिहारिण ॥ २५३ ॥

अध्यवसायविशुद्धेः प्रमत्तयोगैर्विशुद्ध्यमानस्य ।
चारित्रशुद्धिमग्र्यामवाप्य लेश्याविशुद्धिं च ॥ २५४ ॥

१–नास्त्यस्याःकारिकाया व्याख्या–फ० पुस्तके ।

टीका—अध्यवसायविशुद्धिर्मनःपरिणामस्य निर्मलता। तस्याश्चाध्यवसायविशुद्धेर्हेतुभूतायाः। प्रमत्तयोगैर्विशुद्ध्यमानस्य प्रमत्तस्य ये व्यापारा मनोवाक्कायविषयास्तैर्विशोधनशीलस्य विशुद्ध्यमानस्येति। ततश्चचारित्रशुद्धिमग्र्यां प्रधानभूतामवाप्य लेश्याविशुद्धिं च तैजसीपद्मशुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायाः प्रकृष्टा विशुद्धिं समाप्स्येति ॥ २५४ ॥

एताः सर्वाः पूर्वकालाः संप्रत्युत्तरक्रियानिर्देशार्थमाह—

तस्यापूर्वं करणमथ घातिकर्मक्षयैकदेशोत्थम् ।
शुद्धिप्रवेकविभववदुपजातं जातभद्रस्य ॥ २५५ ॥

टीका—यदेतदुक्तमेतदन्तेऽपूर्वकरणमुपजातमप्राप्तपूर्वं घातिकर्माणि ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यानि तेषामेकदेशक्षयः। कस्याचित् सर्वक्षयः। तस्मादुद्भूतमाविर्भूतम्। शुद्धिप्रवेकाः शुद्धिप्रकारास्तेषां विभवः प्राचुर्यं ते यत्र विद्यन्ते तत्र शुद्धिप्रवेकविभववत्। भद्रं कल्याणं शुद्धिप्रकारास्तस्यामवस्थायामुपजायन्ते वियद्गमनवैक्रियाणिमादिकाः। जातं भद्रं कल्याणमस्येति। तस्य जातभद्रस्य ॥ २५५ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्के वचनमे जो गुण हैं, उनके समूहका, हिंसा आदि अनर्थोंका, कर्मोंके विपाकका, और अनेक प्रकारकी आकृतियोका विचार करनेवाले, ससारसे सर्वदा भयभीत, क्षमाशील, गर्वरहित, मायारूपी कालिमाको धो डालनेसे निर्मल, सब तृष्णाओके जेता, वन और नगरमें, मित्रवर्ग और शत्रुवर्गमें समबुद्धि, शरीरको वसूलेसे चीरनेमें और चन्दनसे लिप्त करनेमें समान, अपनी आत्मामें ही रमते हुए, तृण और मणिको समान समझनेवाले, लोष्टकी तरह सुवर्णके भी त्यागी, स्वाध्याय और ध्यानमें तत्पर, प्रमादसे बिलकुल निर्लिप्त, परिणामोके विशुद्ध होनेके कारण योगोसे विशुद्ध, प्रधान चारित्रकी विशुद्धि और लेश्या विशुद्धिको प्राप्त, कल्याणमूर्ति, साधुके घातिकर्मके क्षयके एकदेशसे उत्पन्न होनेवाला और अनेक ऋद्धियोके वैभवसे युक्त अपूर्वकरण नामका आठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो धर्मध्यानके पहले भेदमें, तीर्थकरोके वचनरूप आगमोमें अहिंसा वगैरह जो अनेक गुण है, उनका चिन्तन करता है, दूसरे भेदमें हिंसा, असमाधि आदि जो पाप हैं—उनका विचार करता है, तीसरे भेदमें कर्मोंके शुभाशुभ फलका विचार करता है और चतुर्थ भेदमे द्रव्योके और क्षेत्रके पूर्वोक्त अनेक आकारोका विचार करता है, तथा इन धर्मध्यानोंको करके जो रात-दिन ससारसे डरता है रहता है, दस धर्मोंके मूल क्षमाधर्मका पालन करता है, गर्वसे रहित है, जिसने मायाचाररूपी कालिमाको धो डाला है, जिसे लोभ छू भी नहीं गया है, जो वन और नगरमें, शत्रु और मित्रमें, चन्दनके लेप और वसूलाके प्रहारोमें तृण और मणिमें तथा ढेले और सोनेमें समान भाव रखता है। अर्थात् जिसके लिए जैसा ही वन है वैसा ही नगर है, जो शत्रु और मित्र—दोनोको ही अपनेसे भिन्न जानकर समान भावसे देखता है, उसके शरीरको जो वसूलेसे चीरता है तथा जो उसपर चन्दनका लेप करता है, उन

दोनोंमें ही जो समभाव रखता है, जिसकी दृष्टिमें घासके तिनके और बहुमूल्य मणि समान है, जो मिट्टीके ढेलेकी तरह सोनेकी भी इच्छा नहीं करता, जो अपनी आत्मामें ही लीन रहता है—बाह्य पदार्थोंसे जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है, स्वाध्याय और ध्यानमें तत्पर रहता है, समस्त प्रमादोंको पासमें नहीं फटकने देता, परिणामोंके निर्मल होनेके कारण जिसके मन, वचन और कायका व्यापार उत्तरोत्तर विशुद्ध होता जाता है, जिसका चारित्र विशुद्ध है, लेश्या विशुद्ध है, वह कल्याणमूर्ति साधु अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानको प्राप्त करता है। इस गुणस्थानमें अपूर्व अर्थात् जो कभी प्राप्त नहीं हुए—ऐसे करण अर्थात् परिणाम होते हैं, इसलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं। यह अपूर्वकरण घातिकर्मोंके एकदेशके क्षय होनेपर प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होनेसे अनेक ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि—धर्मध्यानोंको करनेसे साधुको अनेक गुणोंकी प्राप्ति होनेके साथ ही साथ उन गुणोंकी प्राप्ति होती है, जो गुण उसे अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानको प्राप्त करानेमें समर्थ होते हैं॥ २५०-२५१ २५२-२५३-२५४ २५५॥

सातर्द्धिरसेष्वगुरुः सम्प्राप्य विभूतिमसुलभामन्यैः।
सक्तः प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः संगम्॥ २५६॥

टीका—साते ऋद्धौ रसे च अगुरुकृतादरः। सम्प्राप्य विभूतिमाकाशगमनादिकाम्। अन्यैरसुलभामप्राप्ताम्। तादृक्चारित्रैसक्तोऽभिरतःप्रशमरतिसुखे। न भजति न करोति। तस्या विभूतौ मुनिः संगं स्नेहं नोपजीवति लब्धीरित्यर्थ॥ २५६॥

अर्थ—सात ऋद्धि और रसमें आदर न रखनेवाला मुनि, दूसरोको प्राप्त न हो सकनेवाली ऋद्धिको प्राप्त करके वैराग्यके प्रेमसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें आसक्त होता हुआ उस ऋद्धिसे ममत्व नहीं करता है।

भावार्थ—धर्मध्यानके करनेसे मुनिको अनेक ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। किन्तु वह मुनि सांसारिक-सुख, ऋद्धि और रसनेन्द्रियके विषयमें आदरभाव नहीं रखता और रात दिन वैराग्यजन्य सुखमें ही निमग्न रहता है। अतः उन दुर्लभ ऋद्धियोंको पाकर भी उसे उनसे जरा भी मोह नहीं होता है।

सर्वर्द्ध्यतिशायिनां यतीनामृद्धिर्भवति परमातिशयप्राप्तत्वादिति दर्शयति—

मुनियोंको जो ऋद्धियाँ प्राप्त होती है वह सब ऋद्धियोंसे उत्कृष्ट होती है, यह बतलाते हैं—

या सर्वसुरवरर्द्धिर्विस्मयनीयापि सानगारर्द्धेः।
नार्घति सहस्रभागं कोटिशतसहस्रगुणितामपि॥ २५७॥

टीका—सर्वसुराणा ये वराः कल्पाधिपतय इन्द्राः शक्रादयः कल्पातीताश्च। तेषामृद्धिर्विभूतिर्या सा विस्मयकारिणी भवति प्राणिनाम्। अतो विस्मयनीयापि सती सा विभूतिरनगारर्द्धेः साधुजनसमृद्धेनार्घति सहस्रभागम्। कोटिशतसहस्रगुणितापि सा सुरवरर्द्धिः कोटिलक्षगुणितापि नार्घति। सहस्रांशेनाप्यनगारर्द्धेर्न तुल्यतामेतीत्यर्थ॥ २५७॥

अर्थ—समस्त देवताओंमें प्रधान इन्द्र आदिकी जो ऋद्धि होती है वह आश्चर्यकारी होती है। किन्तु यदि उस आश्चर्यकारिणी ऋद्धिको एक लाख कोटिसे गुणा किया जावे तो भी वह ऋद्धि मुनिको प्राप्त हुई ऋद्धिके एक हजारवें भागके बराबर भी नहीं होती।

भावार्थ—संसारके प्राणियोंकी दृष्टिमें देवोंके अधिपति इन्द्रो तथा कल्पातीत अहमिन्द्रोंकी विभूति बड़ी आश्चर्यकारिणी होती है।—उसे सुनकर उन्हें आश्चर्य होता है। परन्तु मुनिजनोंको जो ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनके सामने वे ऋद्धियाँ एकदम तुच्छ हैं।

तज्जयमवाप्य जितविघ्नरिपुर्भवशतसहस्रदुष्प्रापम्।
चारित्रमथाख्यातं सम्प्राप्तस्तीर्थकृत्तुल्यम् ॥ २५८ ॥

टीका—तस्या जयस्तज्जयस्तमवाप्य। तज्जयं विभूतेरनुपजीवनम्। उत्पन्नानामपि लब्धीनां साधवो न परिभोगान् विदधते। जिता निराकृता विघ्नप्रधाना रिपवः कषायाः क्रोधादयो भवशतसहस्रैर्जन्मलक्षाभिरपि दुष्प्रापं दुर्लभं चारित्रमथाख्यातं यथाख्यातमेवाख्यातं सम्प्राप्तस्तीर्थकृत्तुल्यम्, यथा तीर्थकरस्तत्स्थानं तथाऽसावपि भवतीति विशिष्टेनोपमा क्रियते ॥ २५८ ॥

अर्थ—विघ्न करनेवाले क्रोधादि कषायोंका जेता मुनि, उन ऋद्धियोंपर विजय प्राप्त करके लाखों भवोंमें भी दुर्लभ यथाख्यातचारित्रको तीर्थकरके समान प्राप्त करता है।

भावार्थ—ऋद्धियोंके प्राप्त होनेपर भी साधुजन उनका उपभोग नहीं करते हैं। अतः ऋद्धियोंका उपभोग न करना ही उनपर विजय प्राप्त करना है। तथा यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिमें क्रोधादि कषाय बाधक है। जो साधु उन कषायोंको जीतकर प्राप्त हुई ऋद्धियोंपर भी विजय प्राप्त करता है, उसे तीर्थकरोंके समान चारित्रकी प्राप्ति होती है। अर्थात् जिस प्रकार तीर्थंकर यथाख्यातचारित्रको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार वह भी यथाख्यातचारित्रको प्राप्त करता है। यह यथाख्यातचारित्र लाखों भवोंमें भी दुर्लभ है। इसके बिना तीर्थंकरोंके भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीसे उसका महत्त्व बतलानेके लिए तीर्थंकरकी उपमा दी है।

शुक्लध्यानाद्यद्वयमवाप्य कर्माष्टकप्रणेतारम्।
संसारमूलबीजं मूलादुन्मूलयति मोहम् ॥ २५९ ॥

१—" मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्च आत्मस्वभावस्थापेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते। पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तत्प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम्। अथ शब्दस्यानन्तरार्थवर्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः। तथाऽऽख्यातमिति वा यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्। इति शब्दः परिसमाप्तौ द्रष्टव्यः। ततो यथाख्यातचारित्रात् सकलकर्मक्षयपरिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते।"

—श्रीपूज्यपादकृत-सर्वार्थसिद्धिका अध्याय ९, सूत्र १८ की व्याख्या

टीका—शुक्लध्यानस्याद्यद्वयमवाप्य पृथक्त्ववितर्कसविचारमेकत्ववितर्कमविचारं च। किं करोति ? मोहमुन्मूलयति। कीदृशं मोहम् ? कर्माष्टकस्य प्रणेतारं नायकम्। संसारतरोर्मूलमाद्यं प्रथमं बीजम्। समूलकाषं कषत्युन्मूलयतीति ॥ २५९ ॥

अर्थ—आदिके दो शुक्लध्यानोंको प्राप्त करके आठों कर्मोंके नायक, संसारके कारण मोहनीय कर्मको जड़से उखाड़ फेंकता है।

भावार्थ—आठो कर्मोंमें मोहनीयकर्म ही प्रधान है। वही संसाररूपी वृक्षका बीज है। मुनि पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कअविचार नामक शुक्लध्यानके बलसे उस मोहनीयकर्मको जड़से नष्ट कर डालता है।

अथ केन प्रकारेण मोहोन्मूलनमित्याह—

मोहनीयकर्मके उन्मूलन करनेकी प्रक्रिया बतलाते हैं:—

पूर्वं करोत्यनन्तानुबन्धिनाम्नां क्षयं कषायाणाम्।
मिथ्यात्वमोहगहनं क्षपयति सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ॥ २६० ॥

टीका—अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभास्तान् प्रथमं क्षपयति। कीदृशं तत् ? मोहगहनं मोहो गहनो घनो यस्मिन् मिथ्यात्वे तन्मोहगहनम्। ततः सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति ॥ २६० ॥

अर्थ—सबसे पहले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ नामकी कषायोंका क्षय करता है। उसके बाद भयंकर मिथ्यात्व मोहका क्षय करता है और इसके पश्चात् सम्यक्त्व-मिथ्यात्वका क्षय करता है।

भावार्थ—मोहनीयकर्मके दो मूल भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं और चारित्रमोहनीयके पच्चीस। इनमेंसे दर्शनमोहनीयकर्म प्रबल है और इसके तीन भेदोंमें भी मिथ्यात्वकर्म बलवान है। उसके रहनेसे ही मोहनीयकर्म प्रबल रहता है। मोहनीयकर्मके इन अट्ठाईस भेदोंमेंसे सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायोंका नाश करता है। उसके बाद क्रमशः मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका नाश करता है।

सम्यक्त्वमोहनीयं क्षपयत्यष्टावतः कषायांश्च।
क्षपयति ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदमथ तस्मात् ॥ २६१ ॥

टीका—ततः सम्यक्त्वं क्षपयति। ततोऽप्रत्याख्यानचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कं च क्षपयति। ततो नपुंसकवेदम्। पश्चात् स्त्रीवेदं पुरुष क्षपकश्रेणिमारोहन्। यदा स्त्री समारोहति तदा स्त्रीवेदं पश्चात् क्षपयति। अथ नपुंसक आरोहति ततो नपुंसकवेदं पश्चात् क्षपयति ॥ २६१ ॥

अर्थ—उसके बाद सम्यक्त्वका क्षपण करता है। उसके बाद आठ कषायोंका क्षपण करता है। उसके बाद नपुंसक वेदका नाश करता है। उसके बाद स्त्रीवेदका नाश करता है।

भावार्थ—मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका क्षपण करनेके पश्चात् क्रमशः सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, नपुंसक वेद और स्त्रीवेद भी क्षपण करता है। इतना विशेष है कि यदि स्त्रीवेदी क्षपकश्रेणी चढ़ता है तो स्त्रीवेदका क्षपण बादमें करता है और यदि नपुंसकवेदी क्षपकश्रेणी चढ़ता है तो नपुंसकवेदका क्षपण बादमें करता है। अर्थात् पुरुषवेदी क्रमसे नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेदका क्षपण करता है। स्त्रीवेदी क्रमसे नपुंसकवेद, पुंवेद और स्त्रीवेदका क्षपण करता है तथा नपुंसकवेदी क्रमसे स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेदका क्षपण करता है।

हास्यादि तथा षट्कं क्षपयति तस्माच्च पुरुषवेदमपि।
संज्वलनानपि हत्वा प्राप्नोत्यथ वीतरागत्वम् ॥ २६२ ॥

टीका—हास्यं रतिररतिर्भयं शोको जुगुप्सा चेति षट्कम्। ततः पुरुषवेदं क्षपयति। संज्वलनानपि क्षपयित्वा वीतरागत्वमवाप्नोति। उन्मूलितेऽष्टाविंशतिविधे मोहे वीतरागो भवतीति ॥ २६२ ॥

अर्थ—उसके बाद हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्साका क्षय करता है। उसके बाद पुरुषवेदका क्षय करता है। उसके बाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभको नष्ट करके वीतरागताको प्राप्त करता है।

भावार्थ—उक्त क्रमसे मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृतियोंके नष्ट होनेपर मुनि वीतराग हो जाता है।

सर्वोद्घातितमोहो निहतक्लेशो यथा हि सर्वज्ञः।
भात्यनुपलक्ष्यराह्वंशोन्मुक्तः पूर्णचन्द्र इव ॥ २६३ ॥

टीका—सर्वः सकल उद्घातितो ध्वस्तो मोहो येन स सर्वोद्घातितमोहः। निहताः क्लेशा येनासौ तथोक्तः। क्लेशयन्तीति क्लेशाः क्रोधादय एव दुर्दमत्वात् पृथगुपात्ताः। यथा हि सर्वज्ञो ह्युत्पन्नकेवलज्ञानो भवति। स तु क्षपितसकलमोहः सर्वज्ञवद्भाति शोभते। अनुपलक्ष्यराह्वंशोन्मुक्तः अनुपलक्ष्यो राह्वंशो मुखादिविभागस्तेन मुक्तः पूर्णचन्द्र इव। अतिसंक्षेपेणोक्ता क्षपकश्रेणी प्रकरणकारेण, प्रदर्शनमात्रत्वात्। अधुना विशेषेणोच्यते—अनन्तानुबन्धिनश्चतुरः कषायान् युगपत् क्षपयति। तेषामनन्तभागं शेषं मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य मिथ्यात्वं क्षपयति। मिथ्यात्वादेरपि शेषं सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति। तच्छेषं सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य सम्यक्त्वमपि क्षपयति। यदि च बद्धायुष्कस्ततः क्षीणसप्तके तत्रैव अवतिष्ठति नोपर्यारोहति। अबद्धायुष्कस्तु अविश्रान्त्या अविच्छेदेन सकलां श्रेणिमध्यारोहति। ततोऽष्टौ कषायान् क्षपयति। सर्वत्र च सावशेषे पूर्वके पुरस्ताल्लगति। अष्टानां च कषायाणां संख्येयभागं क्षपयन्

विमध्यभागे नामकर्मण इमा प्रकृतीस्त्रयोदश क्षपयति—नरकतिर्यग्गती द्वे, एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयश्चतस्रः, नरकतिर्यग्गत्यानुपूर्व्यौ द्वे, अप्रशस्तविहायोगतिः, स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणशरीरनामानि चत्वारि। दर्शनावरणीयकर्मणश्च तिस्र प्रकृतीः क्षपयतीमाः—निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्ध्याख्याः। ततो यदवशेषमष्टानां तत् क्षपयति कषायाणामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणानाम्। ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदं च। ततो हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साः क्षयं नयति। ततः पुरुषवेदं त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयभागं संज्वलनक्रोधे प्रक्षिप्य क्रोधमपि त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयभागं संज्वलनमाने प्रक्षिप्य, संज्वलनमानमपि त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयभागं (संज्वलनमायायां तां च त्रिधा कृत्वा भागद्वयं युगपत्क्षपयित्वा तृतीयं) संज्वलनलोभे प्रक्षिप्य, त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा पश्चात्तृतीयभागं संख्येयानि खंडानि करोति। तानि क्षपयन् बादराणि खंडानि बादरसम्पराय उच्यते। तत्र च यच्चरमं संख्येयतमं खण्डं तदसंख्येयानि खण्डानि करोति। तानि क्रमेण क्षपयन् सूक्ष्मसम्पराय उच्यते। तेष्वपि निःशेषतः क्षपितेषु निर्ग्रन्थो भवति। मोहसागरादुत्तीर्णः। तीर्त्वा च मोहमहासमुद्रं मुहूर्त्तमात्रं विश्राम्यति। अगाधसमुद्रोत्तीर्णलब्धगाधपुरुषवत्। विश्राम्य च समयद्वये शेषे मुहूर्त्तस्य। तत्र तयोर्द्वयोः समययोः प्रथमे समये निद्रां प्रचलां च दर्शनावरणप्रकृती द्वे क्षपयति। चरमसमये ज्ञानावरणं पञ्चप्रकारम्, दर्शनावरणं चतुर्विधम्, अन्तरायं पञ्चविधं युगपत् क्षपयित्वा केवलज्ञानं प्राप्नोति। एवं द्वाविंशत्युत्तरशतमध्ये षष्ठ्या प्रकृतिभिः क्षपिताभिः केवललाभो भवति॥ २६३॥

अर्थ—समस्त मोहको नष्ट करके और क्लेशोंको दूर करके मुनि सर्वज्ञकी तरह न दिखाई देनेवाले राहुके भागसे छूटे हुए पूर्ण चन्द्रके समान सुशोभित होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्वज्ञ ज्ञानावरणादि कर्मोंसे मुक्त होनेपर केवलज्ञानसे भासमान होता है, उसी प्रकार मोह और क्लेशोसे मुक्त हुआ मुनि राहुके ग्रहणसे छूटे हुए पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान सुशोभित होता है। यद्यपि मोहमें क्लेशोका भी अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि कषायोंको ही क्लेश कहते हैं, तथापि उनका दमन दुष्कर होनेसे यहाँ उनको पृथक् ग्रहण किया है।

ग्रन्थकारने अति सक्षेपसे क्षपकश्रेणीका कथन किया है। उसे कुछ विस्तारसे कहते हैं। अनन्तानुबन्धीकी चारों कषायोका एकसाथ क्षपण करता है। उनके बचे हुए अनन्तवें भागको मिथ्यात्वमें मिलाकर मिथ्यात्वका क्षपण करता है। मिथ्यात्वका भी शेष भाग सम्यग्मिथ्यात्वमें मिलाकर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षपण करता है। उसका भी शेष भाग सम्यक्त्वमें मिलाकर सम्यक्त्वका भी क्षपण करता है। यदि क्षपण करनेवाला भव्य जीव आगामी भवकी आयु बाँध चुकता है तो उक्त सात प्रकृतियोंका क्षपण करके रुक जाता है; ऊपर नहीं चढ़ता है। किन्तु यदि वह अबद्धायुष्क होता है अर्थात् आगामी भवकी आयु नहीं बाँधता तो विना रुके समस्त क्षपकश्रेणीपर चढ़ जाता है। अत सात प्रकृतियोंका क्षपण करनेके बाद आठ कषायोंका क्षपण करता है। सब जगह शेष भागको आगेकी प्रकृतिमें मिलाता जाता है। आठों कषायोंके संख्यातवें भागका क्षपण करके मध्यमें नामकर्मकी इन तेरह प्रकृतियोंका क्षपण करता है—

नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यगगत्यानुपूर्वी, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर। तथा दर्शनावरणकर्मकी निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्धि—इन तीन प्रकृतियोंका क्षपण करता है। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकी आठ कषायोंका जो भाग अवशिष्ट रहता है, उसका क्षपण करता है। उसके बाद नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्षपण करता है। उसके बाद हास्य, रति, अरति, भय शोक और जुगुप्साका क्षय करता है। उसके बाद पुरुषवेदके तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है और तीसरे भागको संज्वलन मानमें मिला देता है। फिर क्रोधके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है और तीसरे भागको संज्वलन मानमें मिला देता है। फिर संज्वलन मानके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता—है। और तीसरे भागको संज्वलन मायामें मिला देता है। फिर संज्वलन मायाके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है, और तीसरे भागको संज्वलन लोभमें मिला देता है। फिर संज्वलन लोभके भी तीन भाग करके दो भागोंका एकसाथ क्षपण करता है। उसके बाद एक भागके संख्यात खण्ड करता है। स्थूल खण्डोंका क्षपण करता हुआ मुनि बादरसाम्पराय (नवम गुणस्थानवर्ती) स्थूल कषायवाला कहा जाता है। उनमेंसे जो अन्तिम संख्यातवॉं खण्ड अवशेष रहता है, उसके भी असंख्यात खण्ड करता है। उन सूक्ष्म खण्डोको क्रमसे क्षपण करता हुआ क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय–सूक्ष्म कषायवाला (दशम गुणस्थानवर्ती) कहा जाता है। उन सूक्ष्म खण्डोका भी पूरी तरहसे क्षपण करनेपर निर्ग्रन्थ (बारहवें गुणस्थानवर्ती) होता है। यह निर्ग्रन्थ मोहरूपी महासमुद्रको पार कर लेता है। और पार करके एक मुहूर्त्त तक उसी तरह विश्राम करता है, जिस प्रकार अगाध समुद्रको पार करके कोई मनुष्य विश्राम करता है। इस प्रकार विश्राम करनेके पश्चात् जब मुहूर्तमें दो समय शेष रह जाते हैं, तो उन दो समयोंमेंसे पहले समयमें दर्शनावरणकी निद्रा और प्रचला प्रकृतिका क्षपण करता है और अन्तिम समयमें ज्ञानावरणकी पॉच, दर्शनावरणकी चार, और अन्तरायकी पॉच प्रकृतियोका एकसाथ क्षपण करके केवलज्ञानको प्राप्त करता है। इस प्रकार एकसौबाईस प्रकृतियोंमेंसे साठ प्रकृतियोका क्षपण करनेपर केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है[1]।

१–"अपरः—असंयतसंयतासंयतप्रमत्तसंयतागुणस्थानेषु कस्मिंश्चित् सप्त प्रकृतीः क्षयमुपनीय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा चारित्रमोहमुपशमयितुमुपक्रमते। ततोऽधः प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च कृत्वा उपशमश्रेणिमारुह्यापूर्वकरणोपशमकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूय तत्राभिनवशुभाभिसंधितनूकृतपापकर्मप्रकृतिस्थित्यनुभागः विवर्द्धितशुभकर्मानुभवः, अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकगुणस्थानमधिरुह्य नपुंसकवेदस्त्रीवेदनोकषायषट्कपुंवेदाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानक्रोधद्वयमायाद्वयलोभद्वयक्रोधमानसंज्वलनसंज्ञिकाः प्रकृतीः क्रमेणोपशमय्य ततः सूक्ष्मसाम्परायप्रथमसमये मायासंज्वलने चोपशमं गते सर्वमोहप्रकृत्युपशमात् उपशान्तकषायव्यपदेशभाग् भवति। आयुषः क्षयात् म्रियते। अथवा पुनरपि कषायानुदीरयन् प्रतिनिवर्तते। स एव चान्यो वा विशुद्धाध्यवसायानुवर्ततोत्साहः पूर्ववत् क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा कर्मविशुद्धया महत्या विशुद्धयन् क्षपकश्रेणीमनुप्रपद्य तैरेव करणैस्त्रिभि. पूर्ववदपूर्वकरणक्षपकतामाश्लिष्य तत ऊर्ध्वं कषायाष्टकं क्षयं कृत्वा नपुंसकवेदं नाशमापाद्य स्त्रीवेदमून्मील्य नोकषायषट्कं पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने, क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने, मानसंज्वलनं मायासंज्वलने, मायासंज्वलनं च लोभसंज्वलने संक्रमणक्रमेण बादरकृष्टिविभागेन विलयमुपनीय, अनिवृत्तिबादरसाम्परायक्षपकभावमवाप्य, लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायक्षपकभावमनुभूय, निरवशेषं मोहनीयं निर्मूलकाषं कषयित्वा क्षीणकषायतामधिरुह्य

तस्यां च क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य कावस्था जायत इत्याह—

क्षपकश्रेणीकी अवस्थाका वर्णन करते हैं।—

सर्वेन्धनैकराशीकृतसन्दीप्तो ह्यनन्तगुणतेजः ।
ध्यानानलस्तपःप्रशमसंवरहविर्विवृद्धबलः ॥ २६४ ॥

टीका—सर्वेन्धनानां पुञ्जीकृतानामेकराशीकृतः सन्दीप्त इन्धनराशिर्दत्ताग्निर्लोगिताग्निर्यथा दहति, एवमनन्तगुणतेजा ज्ञा (ध्या) नानलः। तपो द्वादशभेदम्। प्रशमः कषायजयः, संवर आस्रवनिरोधः तपःप्रशमसंवरा एव हविर्घृतं तत्प्रक्षेपात् विशेषेण वृद्धं बलं शक्तिर्यस्य ज्ञा (ध्या) नानलस्येति ॥ २६४ ॥

स खलु ज्ञा (ध्या) नानलः किं करोतीत्याह—

क्षपकश्रेणिमुपगतः स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात् परकृतस्य ॥ २६५ ॥

टीका—क्षपकश्रेणिमनुप्राप्तः परिदहन् कर्माणि ज्ञा (ध्या) नानलः स समर्थः शक्तः। सर्वकर्मिणां सर्वेषां संसारिणां कर्मवतां कर्मभाजां यत् कर्म। तेषु व्यवस्थितं पुञ्जीकृतं तत् क्षपयितुमेकोऽसहायः। यदि कर्मणा परकृतस्य तस्य तस्मिन् क्षपकश्रेणिस्थे संक्रमः स्यात् सत् नास्ति। तस्मात्[1] सामर्थ्यमात्रमिदं तस्य वर्ण्यते ज्ञा (ध्या) नानलस्य ॥ २६५ ॥

अर्थ—सब ईंधनका एक ढेरकर उसमें आग लगानेपर जैसे वह जलता है, उसी तरह प्रज्वलित अनन्तगुणे तेजवाली तप, वैराग्य और संवररूपी घीके डालनेसे खूब बलशाली क्षपकश्रेणीमें प्राप्त हुई ध्यानरूपी अग्नि, यदि अन्य जीवोंके कर्मोंका भी उसमें संक्रमण हो सकता हो तो वह अकेली ही सब जीवोंके कर्मोंके क्षपण करनेमें समर्थ है।

भावार्थ—क्षपकश्रेणीमें तप, वैराग्य और संवरके बढ़नेसे ध्यानरूपी अग्नि इतनी प्रबल हो जाती है कि यदि उसमें समस्त संसारी जीवोंके कर्मोंको डाल दिया जावे तो वे सब जलकर भस्म हो सकते हैं। किन्तु अपने ध्यानसे अपने ही कर्मोंका क्षपण किया जा सकता है, अतः यहाँपर केवल इसकी शक्तिको बतलाया है ॥ २६४ २६५ ॥

अवतारितमोहनीयभारः उपान्तमे समये निद्राप्रचले प्रलयमुपनीय, पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां चान्तसमये समुपगम्य तदनन्तरं ज्ञानदर्शनस्वभावं केवलपर्यायमतर्क्यविभूतिविशेषं निःसपत्नमवाप्य निरुपलेपः कमलमिवामलः साक्षात्त्रिकालसर्वद्रव्यपर्यायस्वभावज्ञः सर्वत्राप्रतिहतदर्शनः अवाप्तनिरवशेषपुरुषार्थः, जलधरनिरोधकालातीतस्वकिरणकलापसौम्यदर्शनस्तारकाधिपतिरिव ज्वलितमूर्तिः केवली भवति।"

—श्रीभट्टाकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्त्तिकका दशवाँ अध्याय, सूत्र १ की व्याख्या, पृ. सं. ३६०,-३६१। काशी-संस्करण, वीर सं. २४४१ सन् १९१५ ई०।

१–' तस्मात् ' इत्यारभ्य ' ज्ञानानलस्य ' इतिपर्यन्तः पाठो नास्ति–ब० पुस्तके।

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—

परकृतकर्मणि यस्मान्न क्रामति संक्रमो विभागो वा ।
तस्मात् सत्त्वानां कर्म यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥ २६६ ॥

टीका—परेणकृतं कर्म तस्मिन् परकृतकर्मणि विषये । यस्मान्नास्ति संक्रमः । अन्येन यत्कर्म (कृतमस्तीति) तदन्यत्र न क्रामति न संक्रान्तिर्भवति । सर्वस्य कर्मणः संक्रमो मा भूदेकस्य भविष्यतीति नेत्याह—विभागो वा । नाप्येकदेशो विभाग संक्रामतीत्यर्थ, कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसगात् । तस्मात् सत्त्वानां प्राणिनां यस्य यत्कर्म प्राणिनस्तेनैव तद्वेद्यमनुभवनीयमिति । अथवा न क्रामति न क्रमते, न भवति संक्रान्तिरिति ॥ २६६ ॥

अर्थ—यतः दूसरेके द्वारा किये हुए कर्ममें न संक्रम होता है और न विभाग होता है । अतः प्राणियोंमेंसे जो प्राणी जिस कर्मको करता है उसे वही भोगता है ।

भावार्थ—दूसरेके द्वारा किया हुआ कर्म न तो सबका सब ही अन्यके कर्मोंमें जाकर मिल सकता है और न उसका कोई भाग ही अन्यके कर्मोंमें जाकर मिल सकता है । यदि ऐसा हो तो कृतनाश और अकृताभ्यागमका प्रसंग उपस्थित होगा । अर्थात् यदि अन्यका किया हुआ कर्म अन्यको भोगना पड़े तो जिसने कर्म किया है, उसके कर्मका तो नाश हो जावेगा और जिसने कर्म नहीं किया है, उसे अकृतकर्मकी प्राप्ति हो जावेगी । और ऐसा होनेसे तो वही लौकिक कहावत चरितार्थ होगी कि "करे कोई और भरे कोई ।" अतः जो करता है वही भोगता भी है ।

मोहनीयकर्मक्षयाच्छेषकर्मक्षयोऽवश्यं भावीति दर्शयति—

अब यह बतलाते हैं कि मोहनीयकर्मके क्षय होनेपर शेष कर्मोंका क्षय अवश्य हो जाता है:—

मस्तकसूचिविनाशात्तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः ।
तद्वत्कर्मविनाशो हि मोहनीयक्षये नित्यम् ॥ २६७ ॥

टीका—तालतरोः शिरसि सूचिर्या प्ररोहति । तद्विनाशे च तालतरोरवश्यंभावी ध्रुवो नाशः । तद्-तथा शेषकर्मणां विनाशः क्षयोऽष्टाविंशतिविधमोहनीयक्षये ध्रुवो नित्य इत्यर्थः ॥ २६७ ॥

१-' एतदेव ' इत्यारभ्य-' संक्रमो विभागो वा ' इतिपर्यन्तः पाठः-ब० पुस्तके नास्ति । २-सक्रान्तिः -ब० । ३-च-फ०,-ब०, ।

अर्थ—जिस प्रकार ताड़ वृक्षके सिरपर जो सूची—शाखाभार लगता है, उसके नाशसे ताड़ वृक्षका नाश अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्मके नाशसे शेष कर्मोंका नाश अवश्य हो जाता है।

छद्मस्थवीतरागः कालं सोऽन्तर्मुहूर्तमथ भूत्वा ।
युगपद्विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य ॥ २६८ ॥

टीका—छद्म चावरणं तत्र स्थितः छद्मस्थः, वीतरागश्च क्षपितकषायत्वात् । अन्तर्मुहूर्तं घटिकाद्वयाभ्यन्तरकालं वीतरागो भूत्वा । युगपत् समकमेव । विविधं ज्ञानावरणं मतिज्ञानादिभेदं, दर्शनावरणं चतुर्विधम् । विविधमित्यनेकरूपम् । तथान्तरायं दानान्तरायादिप्रकारम् । इत्थं कर्मक्षयमवाप्य ॥ २६८ ॥

किं प्राप्तवानित्याह—

शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तरं निरवशेषम् ।
सम्पूर्णमप्रतिहतं सम्प्राप्तः केवलज्ञानम् ॥ २६९ ॥

टीका—शाश्वतं लब्धात्मलाभं सर्वकालभावित्वमेवं भावयति-अनन्तमपर्यवसानम् । अविद्यमानातिशयं महातिशयम्, न ततः परमतिशयोऽस्ति, न तत् केनचिदतिशय्यत इत्यर्थः । अविद्यमानोपममनुपम्, तत्सदृशस्याभावात् । अविद्यमानमुत्तरं ज्ञानं यस्य तदनुत्तरम् । निरवशेषमात्मनः स्वरूप सम्पूर्णम्, सकलज्ञेयग्राहित्वात् । अविद्यमानमप्रतिघातमप्रतिहतं सर्वतः पृथ्वीसमुद्रादावपि न प्रतिहन्यते सम्प्राप्तः प्राप्तवानेवंविधं केवलज्ञानम् ॥ २६९ ॥

अर्थ—उसके बाद अन्तर्मुहूर्त्त कालतक छद्मस्थ वीतराग रहकर वह मुनि एकसाथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तरायकर्मका क्षय करके नित्य, अनन्त, निरतिशय, अनुपम, अनुत्तर, निरवशेष, सम्पूर्ण और अप्रतिहत केवलज्ञानको प्राप्त करता है।

भावार्थ—बारहवें गुणस्थानका नाम छद्मस्थवीतराग है। छद्म आवरणको कहते हैं। बारहवें गुणस्थानके जीवोंके ज्ञानादिके गुणोंपर आवरण रहता है। अतः उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। और कषायोंके क्षय हो जानेपर बारहवें गुणस्थानकी प्राप्ति होती है। अतः उसे वीतराग कहते हैं। इसलिए बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि छद्मस्थवीतराग कहे जाते हैं, बारहवें गुणस्थानमें आनेके बाद मुनि एक अन्तर्मुहूर्त्त कालतक ठहरकर ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, और अन्तरायकी पाँच प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता हैं। इनका क्षय करते ही उसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। वह केवलज्ञान सदा रहता है, उसका कभी अन्त नहीं होता, उससे बढ़कर कोई अतिशय नहीं है। उसके समान दूसरी कोई

१—नास्तीद पदं-फ० पुस्तके। २-भावि तमेव-ब०। ३-तत्सदृशस्यान्यस्याभावात्-ब०।

वस्तु भी नहीं है, जिससे उसकी उपमा दी जा सके, उससे भी उत्कृष्ट कोई अन्य ज्ञान नहीं है, वह आत्मा का स्वरूप है, सकल पदार्थोंको जानता है, और पर्वत, पृथ्वी, समुद्रादिकमें भी उसका प्रतिघात नहीं होता। उसकी गति बेरोक है ॥ २६८-२६९ ॥

कार्त्स्न्याल्लोकालोके व्यतीतसाम्प्रतभविष्यतः कालान्।
द्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञाता दृष्टा च सर्वार्थैः ॥ २७० ॥

टीका—लोकेऽलोके च कृत्स्नवस्तुग्राहित्वात् कृत्स्नं सकलं तद्भावः कार्त्स्न्यं तस्मात् कार्त्स्न्यात् सकलवस्तुपरिच्छेदित्वात्। व्यतीतोऽतिक्रान्तः। साम्प्रतो वर्तमानः। भविष्यन्नागामी। एतान् कालान् द्रव्यगुणपर्यायाणां द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च सम्बन्धिन कालानुत्पत्तिस्थितिविनाशाख्यान्न द्रव्यादिव्यतिरिक्तकालोऽस्तीत्यमुं पक्षमाश्रित्य ज्ञानपरिज्ञानशीलः दर्शनशीलश्च। तत्र कालो लोक एव कियत्यपि अन्यत्र नास्ति। सर्वार्थैरिति सर्वप्रकारैः ज्ञाता दृष्टा च। यत्र तु नास्ति कालद्रव्यं तत्र द्रव्यगुणपर्यायाणामेव ज्ञाता दृष्टा च सर्वाकारैरिति। अथवा लोके च ये द्रव्यगुणपर्यायास्तेषां व्यतीतसाम्प्रतभविष्यतः कालान् कार्त्स्न्येन ज्ञाता दृष्टा च सर्वाकारैरिति ॥ २७० ॥

अर्थ—लोक और अलोकमें सब वस्तुओंको जाननेके कारण केवलज्ञानी भी भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालके द्रव्य, गुण और पर्यायोंको सर्व प्रकारसे जानता है और देखता है।

क्षीणचतुःकर्मांशो वेद्यायुर्नामगोत्रवेदयिता।
विहरति मुहूर्तकालं देशोनां पूर्वकोटिं वा ॥ २७१ ॥

टीकाः—क्षीणाश्चतुर्णां कर्मणामंशा भागा यस्य स क्षीणचतुःकर्मांशः क्षपितमोहज्ञानदर्शनान्तरायकर्मचतुष्टय। वेदनीयायुष्कनामगोत्रवेदयितेति वेदनीयादीनां चतुर्णां भवधारणीयानां कर्मणामनुभविता। विहरति पर्यटति। मुहूर्त्तकालं घटिकाद्वयं लब्धकेवलज्ञान सन् विहरति भव्यसत्वान् प्रतिबोधयन्। अथवा देशोना पूर्वकोटिं विहरति। देशोऽष्टौ वर्षाणि। तदूनाम्। पूर्वकोट्यायुष्को यः पुरुष सोऽष्टासु वर्षेष्वतीतेषु प्रव्रजितः। प्रतिपन्नचारित्रस्य च केवलं केवलज्ञानमुदपादीति ॥ २७१ ॥

अर्थ—चारों घातिकर्मोंका नाश करके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रका अनुभव करता हुआ केवलज्ञानी एक मुहूर्त्ततक अथवा कुछ कम एक पूर्वकोटि कालतक विहार करता है।

भावार्थ—जब वह मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मका क्षय कर देता है तो उसके शरीरको बनाये रखनेमें कारण चार अघातिकर्म शेष रह जाते है। उन चारों कर्मोंका अनुभव

१–इस कारिकामें ' कृत्स्ने ' पाठ ठीक मालूम देता है। कृत्स्ने ब०। २–वेदनी आयुष्क–ब०। वेदना आयु–फ०।

करता हुआ केवलज्ञानी जघन्यमें दो घड़ीतक और उत्कृष्टसे आठ वर्ष कम एक पूर्वकोटिकालतक भव्य-जीवोको धर्मोपदेश करता हुआ विहार करता है। कर्मभूमिज मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्षकी होती है और वह कमसे कम आठ वर्षकी अवस्था होनेपर दीक्षा लेता है और दीक्षा लेते ही उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्थामें वह आठ वर्ष कम एक पूर्वकोटितक विहार करता है।

तेनाभिन्नं चरमभवायुदुर्भेदमनपवर्तित्वात्।
तदुपग्रहं च वेद्यं तत्तुल्ये नामगोत्रे च ॥ २७२ ॥

टीका—तेनायुषा अभिन्नं सदृशमित्यर्थ। चरमे भवे पश्चिमे भवे आयुःपर्यन्तजन्मनि दुर्भेदमित्यमेद्यमेव अध्यवसायनिमित्तादिभिः सप्तभि कारणै क्रमादनपवर्तित्वात् चरम-भवायुषोऽपवर्तनं नास्ति। ततश्च तस्यायुषो यत् प्रमाणं यावती स्थितिस्तावत्स्थितिकानि वेद्यनामगोत्राणि तैरभिन्नं सदृशमायुरिति। अथवा न तेनायुषा सहाभन्नं[3] वेद्यादित्रयसदृगमेवे-त्यर्थः। तेन चायुषा उपगृहीतं वेद्यं नामगोत्रे च सत्यायुषि तेषां संभवादिति ॥ २७२ ॥

अर्थ—अन्तिम भवकी आयु अभेद्य होती है, क्योकि उसका अपवर्तन नहीं होता। और उस आयुसे उपगृहीत वेदनीयकर्म भी उसीके समान अभेद्य होता है। और नाम तथा गोत्रकर्म भी उसीके समान अभेद्य होते हैं।

भावार्थ—चरमशरीरीकी आयुका घात नहीं हो सकता, क्योकि चरमशरीरी अनपवर्त्यायुष्क होते हैं। अर्थात् विष शस्त्रादिकसे उनका अकालमें मरण नहीं हो सकता। तथा आयुकर्मकी जितनी स्थिति होती है, वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मकी भी उतनी स्थिति होती है। अतः वे तीनों कर्म भी आयुकर्मके समान ही होते हैं। क्योंकि आयुकर्मकी स्थितिपर ही उनकी स्थिति अवलम्बित है। अत: वे आयुकर्मसे उपकृत हैं। आयुकर्मके सद्भावमें ही वेदनीय आदि कर्म ठहर सकते हैं।

यस्य पुनः केवलिनः कर्म भवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम्।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्तुम् ॥ २७३ ॥

टीका—यस्य केवलिनश्चरमायुष्कात्। कर्मवेद्यनामगोत्राख्यम्। अतिरिक्तमधिकं भवति। स केवली वेद्यादित्रयमायुषा सह समीकर्तुं तत्तुल्यतामेतुं समुद्घातं याति। गत्वा च यावत्प्रमाणमायुस्तावत्प्रमाणानि वेद्यनामगोत्राणि विदधाति। सम्यगुत्कृष्टं हननं गमन समुद्घातः। नातःपरं गमनमस्ति। लोकाद्बहिर्गमनाभावात् ॥ २७३ ॥

अर्थ—किन्तु जिस केवलीके वेदनीयादिक कर्म आयुकर्मसे अधिक स्थितिके होते हैं, वह भगवान्केवली उनको बराबर करनेके लिए समुद्घात करते हैं।

१–यहाँ कुछ अधिक आठवर्ष समझने चाहिए। २–मनुप–फ०। ३–सहाभिन्नं–ब०। ४–ह. वृ. के अर्थमें अन्तर है।

भावार्थ—जिनकेवलीके आयुकर्मकी स्थिति कम होती है और शेष तीनों कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है तो वह वेदनीयादि कर्मोंकी स्थितिको आयुकर्मकी स्थितिके बराबर करनेके लिए समुद्घात करते हैं। उत्कृष्ट गमनको समुद्घात कहते हैं। इसमें आत्माके प्रदेश शरीरके बाहर फैलकर समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो जाते हैं। अत. यह उत्कृष्ट गमन कहलाता है। इससे भी उत्कृष्ट अन्य कोई गमन नहीं होता, क्योंकि लोकसे बाहर आत्माका गमन नहीं होता।

तस्य चायं विधिरुच्यते—

समुद्घातकी विधि बतलाते हैं।

दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ २७४ ॥

टीका—स्वशरीरप्रमाणदण्डबाहुल्येनोर्ध्वमधश्चात्मप्रदेशान् विक्षिपत्यालोकान्तात्। तत्र[1] प्रथमे समये दण्डम्। द्वितीयसमये[2] तु कपाटीकरोति दक्षिणोत्तरतो विस्तारयत्यालोकान्तात्। एवं तृतीयसमये तदेव कपाटं मन्थानं करोति पूर्वोत्तरयोर्विस्तारयत्यालोकान्तात्। एवं चतुर्थसमये मन्थानान्तराणि पूरयित्वा चतुर्थे[3] तु लोकव्यापी भवति। एवमात्मप्रदेशेषु निरावरणेन वीर्येण विरलितेषु कर्म वेद्यादित्रयमायुषा सम करोति। आयुष्कं तु नापवर्तते। अनपवर्त्तित्वादेवेत्युक्तम्। आत्मप्रदेशविस्तारणाच्च तद्वेद्यादिकर्म[4] अतिरिक्तं क्षयं गच्छदायुषा सह[5] समीकरोति ॥ २७४ ॥

अर्थ—प्रथम समयमें दण्ड, दूसरे समयमें कपाट, तीसरे समयमें मंथानी, और चौथे समयमें लोकव्यापी होता है।

भावार्थ—पहले समयमें अपने शरीरके बराबर मोटे दण्डके आकार ऊपर और नीचे लोकके अन्ततक आत्माके प्रदेशोंको विस्तारता है। दूसरे समयमें उन्हें कपाटके आकार करता है अर्थात् दक्षिण-उत्तर दिशामें लोकके अन्ततक फैलाता है। तीसरे समयमें उस कपाटको मंथानीके आकार करता है, अर्थात् पूर्व-पश्चिम दिशामें लोकके अन्ततक फैलाता हैं। तथा चौथे समयमें मन्थानीके जो अन्तराल खाली रह जाता हैं, उन्हें पूरकर लोकव्यापी हो जाता है। इस प्रकार अपने निरावरण अनन्तवीर्यके द्वारा आत्माके प्रदेशोंका फैलानेपर वेदनीय आदि तीन कर्मोंको आयुकर्मके बराबर करता है किन्तु आयुकर्मका अपवर्तन नहीं करता। क्योंकि चरमशरीरीकी आयुका घात नहीं हो सकता। अतः आत्माके प्रदेशोंको फैलानेसे अतिरिक्त कर्मोंका क्षयहोकर वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म भी आयुकर्मके बराबर ही हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें गीले वस्त्रका दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार गीले वस्त्रको इकट्ठा करके

१–तत्र प्रथमसमये तु दण्ड कपाटीकरोति–ब, । २–समये तु दण्ड कपा–फ, । ३–चत्वार्यपि फ, ब। ४–तद्वेद्यादि कर्मसु–फ० ब० । ५–नास्तीदं–ब० पुस्तके।

यदि एक जगह रख दिया जावे तो उसे सूखनेमें बहुत समय लगता है, किन्तु यदि उसे फैला दिया जावे तो वह जल्दी ही सूख जाता है, उसी प्रकार संकुचित दशामें जो कर्मरज आत्मासे पृथक् होनेमें अधिक समय लेती है, वही समुद्घात दशामें आत्माके प्रदेशोंके फैलाये जानेपर कम समयमें पृथक् होनेके योग्य हो जाती है।

संहरति पञ्चमेत्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ २७५ ॥

टीका—एवं चतुर्भि समयैर्लोकं क्रमेण व्याप्य चतुर्भिरेवं समयैर्विपरीतं संहरति पञ्चमे समये मन्थानान्तराण्युपसंहरति। षष्ठे समये मन्थानं संहरति। सप्तमे समये कपाटम्। अष्टमे समये दण्डमुपसंहृत्य शरीरस्थ एव भवति ॥ २७५ ॥

अर्थ—पाँचवें समयमें अन्तरालके प्रदेशोंको संकोचता है। छट्ठे समयमें मन्थानको संकोचता है। सातवें समयमें कपाटको सकोचता है और आठवें समयमें दण्डको सकोचता है।

भावार्थ—इस प्रकार उक्त रीतिसे चार समयमें क्रमसे लोकको व्याप्त करके चार ही समयमें उससे विपरीत क्रमसे प्रदेशोंका उपसंहार करता है। अर्थात् पाँचवें समयमें मंथानीके अन्तरालोंमें जो आत्म-प्रदेश हैं, उनका सकोच करता है। और इस प्रकार लोकव्यापीसे पुन मथानीके आकार करता है। छट्ठे समयमें पूर्व-पश्चिमके प्रदेशोंका सहार करके मथानीसे पुन कपाटके आकार करता है। और सातवें समयमें उत्तर-दक्षिणके प्रदेशोंका सहार करके कपाटसे दण्डके आकार करता है। और आठवें समयमें दण्डका भी उपसहार करके पहलेकी तरह अपने शरीरमें ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार चार समयमें दण्ड, कपाट, मथानी और लोकव्यापी तथा चार समयमें मंथानी, कपाट दण्ड और अपने शरीरमें स्थित होता है। इस प्रकार केवली-समुद्घातमें आठ समय लगते हैं।

अथ कस्मिन् समये को योगः समुद्घातकाले भवतीत्याह—

समुद्घातमें किस समय कौन योग होता है? यह बतलाते हैं—

औदारिकप्रयोक्ता[2] प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ २७६ ॥

प्रथमेऽष्टमे च समये औदारिक[3] एव योगो भवति शरीरस्थत्वात्। कपाटोपसंहरणे सप्तमः। मन्थसंहरणे षष्ठ। कपाटकरणे द्वितीयः। एतेषु त्रिष्वपि समयेषु कार्मणव्यतिमिश्र औदारिक योगो भवति। [4]"कार्मण शरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च। समयत्रयेऽपि

१–चतुरेव–फ.। २–अद्वारिक प्र–फ.। ३–अदारिक एव–फ.। ४–कारिकेय मुद्रितकारिका सङ्ख्याक्रमे नास्ति।

तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥ १ ॥ मन्थान्तरपूरणसमयश्चतुर्थः । मन्थान्तसंहरणसमयः पञ्चमः । मन्थानकरणसमयस्तृतीयः । समयत्रयेऽप्यस्मिन् कार्मणशरीरयोगः । तत्र च नियमेनैव जीवो भवत्यनाहारकः ॥ २७६ ॥

अर्थ—पहले और आठवें समयमें केवलीके औदारिककाययोग होता है। और सातवें, छट्टे तथा दूसरे समयमें औदारिकमिश्रयोग होता है।

भावार्थ—पहले और आठवें समयमें औदारिकयोग ही होता है। क्योंकि उस समय केवली अपने शरीरमें ही स्थिर होते हैं। कपाटका उपसंहार सातवें समयमें होता है। मंथानीका उपसंहार छट्टे समयमें होता है और कपाटका आकार द्वितीय समयमें होता है। इन तीनों समयोमें औदारिकमिश्रकाय-योग रहता है।

का० २७७ के अन्तर्गत कारिकाका व्याख्यान:—

अर्थ– चौथे, पाँचवें और तीसरे समयमें केवली कार्माणकाययोगवाले होते है। इन तीनों समयोंमें वे नियमसे अनाहारक होते हैं।

भावार्थ—चौथे समयमें मंथानीके अन्तरालोको भरा जाता है, अर्थात् लोकव्यापी होता है। पाँचवें समयमें मंथानीके अन्तरालोंका उपसंहार करता है और तीसरे समयमें मंथानीके आकार होता है। इन तीनों ही समयोंमें कार्माणकाययोग होता है और उसमें जीव नियमसे अनाहारक होता है।

स समुद्घातनिवृत्तोऽथ मनोवाक्काययोगवान् भगवान्।
यतियोग्ययोगयोक्ता योगनिरोधं मुनिरुपैति ॥ २७७ ॥

टीका—स खलु केवली समीकृतचतुष्कर्मा। ततः समुद्घातान्निवृत्त। तदनन्तरं मनोवाक्काययोगी भगवान् योगत्रयवर्तीति। अथ मनोयोग[1] केवलिन कुत इत्युच्यते—यदि नामानुत्तरो[2] मनसा तत्रस्थ एव पृच्छेत्, अन्यो वा देवो मनुष्यो वा, ततो भगवान् मनोद्रव्याण्यादाथ मनःपर्याप्तिकरणेन तत्प्रश्नव्याकरणे करोति सत्यमनोयोगेन असत्यामृषामनोयोगेन[3] व्याकरोति। तथा वाक्काययोगोऽपि भगवतः सत्यः असत्यामृषारूपो वा। काययोगस्त्वौदारिकादिगमनादिक्रियासाधनः। यतियोग्ययोगयोक्तेस्र्यानेनैतत् प्रतिपादितम्। तस्यामवस्थायां स यतिः केवली योग्यमुचितं योगं सत्यरूपमसत्यमृषारूपं वा युङ्क्ते ॥ २७७ ॥

अर्थ—मन, वचन और काय योगवाले वह केवलीभगवान् समुद्घातसे निवृत्त होकर मुनियोंके योग्य योगको करते हुए योगका निरोध करते हैं।

---

१ योगे प्र—फ० । २—तरामरो म—ब० । ३—गेन वा व्या—फ०ब० । ४—केत्यने— फ० ब० ।

भावार्थ—वह केवली चारों कर्मोंको बराबर करके समुद्घातसे निवृत्त हो जाते हैं। उसके बाद उनके पहलकी तरह तीनों योग हो जाते हैं।

शङ्का—केवलीके मनोयोग किस प्रकार है ?

उत्तर—यदि कोई अनुत्तरवासी अथवा कोई अन्य देव या मनुष्य अपने स्थानपर ही अपने मनमें प्रश्न करे तो केवलीभगवान् उसके मनोद्रव्योंको जानकर सत्यमनोयोग अथवा अनुभयमनोयोगके द्वारा उन प्रश्नोंका उत्तर देते हैं।

तथा वचनयोग भी भगवान्के सत्य अथवा अनुभयरूप है। चलने फिरनेमें सहायक औदारिक आदि काययोग तो उनके होते ही हैं। केवली अवस्थामें वे यतिजनोंके योग्य सत्यरूप अथवा अनुभय-रूप योगको करते हैं। उसके बाद जब चौदहवें गुणस्थानमें जानेके अभिमुख होते हैं, तो योगका निरोध करते हैं।

सम्प्रति तान् योगान्निरोद्धुमिच्छन्नमुना प्रकारेण निरुणद्धि—

अब योग-निरोध करनेकी रीति बतलाते हैं।

पञ्चेन्द्रियोऽथ संज्ञी यः पर्याप्तो जघन्ययोगी स्यात्।
निरुणद्धि मनोयोगं ततोऽप्यसंख्यातगुणहीनम् ॥ २७८ ॥

टीका—सयोगस्य सिद्धिर्नास्तीति योगोऽवश्यं निरोद्धव्यः। तत्र प्रथमं मनोयोग-मापेक्षेपकं[2] निरुणद्धि। मनःपर्याप्त्याख्यं करणं शरीरप्रतिबद्धं येन मनोद्रव्यग्रहणं करोति।

१—भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात्। नासत्यमोषमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र संशयानध्यवसाययोरभावादिति न, संशयानध्यवसायनिबन्धनवचनहेतुमनसोऽप्यसत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात्। किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्, स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुरावरण-क्षयोपशमातिशयाभावात्। तीर्थंकरवचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम्। एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वासिद्धेः। साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्टवर्णात्मकभूयःपंक्तिकदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषा-रूपत्वाविरोधात्। तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः। अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात्। भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात्। तेनात्मनो योगः मनोयोगः। विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न। तत्सहकारिकारणक्षयोपशमा-भावात्। असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात्।

—श्रीपुष्पदन्त भूतिबलि मूलसूत्रकार और षट्खंडागमकी श्रीवीरसेनाचार्यकृत धवलाटीकाका १-१-५० वें सूत्रकी व्याख्या। प्र० भा० पृष्ठ २८३–२८४।

२—मापेक्षिकं—फ०।

तद्वियोजनार्थमनन्तवीर्यः सन् मनोविषयं निरुन्धन् निरुणद्धि। पूर्वं पञ्चेंद्रियस्य संज्ञिनः मनःपर्याप्तिकरणयुक्तस्य प्रथमसमयपर्याप्तकस्य जघन्ययोगस्य मनोद्रव्यवर्गणास्थानानि निरुणद्धि स्वात्मनि। ततोऽपि तद्ग्रहणहान्या असंख्येयगुणान्यवस्थानानि निरुणद्धि। पश्चादमनस्को भवति मनःपर्याप्तिरहित इत्यर्थः ॥ २७८ ॥

अर्थ—जो पञ्चेन्द्रिय, सैनी, पर्याप्तक और जघन्य योगवाला होता है, वह उससे भी असंख्यातगुणे हीन मनोयोगको रोकता है।

भावार्थ—योग सहित जीवकी मुक्ति नहीं होती, अतः योगको अवश्य ही रोकना चाहिए। उनमेंसे पहले आपेक्षिक योगका निरोध करता है। मनःपर्याप्ति नामका एक करण शरीरसे संबद्ध है, जिसके द्वारा जीव मनोद्रव्यवर्गणाओंको ग्रहण करता है। अनः उस मनःपर्याप्तिके वियोग करनेके लिए अनन्त शक्तिका धारक जीव मनके विषयको रोकता है। उसे रोकनेके लिए वह पहले मनःपर्याप्तिकरणसे युक्त पञ्चेन्द्रिय सञ्ज्ञीजीवके पर्याप्तक होनेके प्रथम समयमें जघन्य मनोयोग उतने मनोद्रव्यवर्गणाके स्थानोको अपनी आत्मामें रोकता है। उसके बाद प्रतिसमय उसके असंख्यातगुणे हीन स्थानोंको रोकता है। इसके पश्चात् जब समस्त स्थान रुक जाते हैं तो अमनस्क अर्थात् मनःपर्याप्तिसे रहित होता है।

सारांश यह है कि केवली तीनों योगोंमें से पहले मनोयोगको रोकते हैं। जिन पुद्गलवर्गणाओसे मन बनता है, उन्हें मनोद्रव्यवर्गणा कहते हैं। और मनोद्रव्यवर्गणाके ग्रहण करनेसे योग्य शक्तिके व्यापारको मनोयोग कहते हैं। अतः केवली धीरे धीरे मनोयोगका निरोध करके अमनस्क हो जाते हैं।

शङ्का—केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा आवे। क्योकि वहाँपर वस्तुके यथार्थज्ञानका सद्भाव पाया जाता है। परन्तु उनके असत्यमृषामनोयोगका सद्भाव सभव नहीं है। क्योकि वहाँपर सशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है?

समाधान—नहीं। क्योंकि संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है। अतः सयोगीजिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता हैं।

शङ्का—केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं, इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान—केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशय रहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है।

शङ्का—तीर्थकरके वचन अनक्षररूप होनेके कारण ध्वनिरूप है और इसलिए वे एकरूप है। और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं?

समाधान—नहीं। क्योंकि केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादि रूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है। इसलिए केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

शङ्का—केवलीकी ध्वनिको साक्षर मान लेनेपर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेषभाषारूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान—नहीं। क्योंकि क्रम विशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियोंके समुच्चयरूप और सर्व श्रोताओंमें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि सम्पूर्ण भाषारूप होती है, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शङ्का—जब कि वह अनेक भाषारूप हैं तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि केवलीके वचन इसी भाषारूप ही हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है। इसलिए उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—केवलीके अतीन्द्रियज्ञान होता है, इसलिए उनके मन नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है।

शङ्का—केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परन्तु वहाँपर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान—द्रव्य मनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिकज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे; परन्तु द्रव्यमनके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया जाता है। क्योंकि द्रव्यमनकी वर्गणाओंके लानेके लिए होनेवाले प्रयत्नमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्माका परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

शङ्का—केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यों नहीं करता है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि केवलीके मानसिकज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिए उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता हैं।

शङ्का—जब केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिकमन नहीं पाया जाता है तो उससे सत्य और अनुभय—इन दो प्रकारके वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है।

ततो वाग्योगं निरुणद्धि । तन्निरूपणायाह—

मनोयोगके बाद वाग्योगका निरोध करता है । अतः उसका निरूपण करते हैं—

द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावधो जयति यद्वत् ।
पनकस्य काययोगं जघन्यपर्याप्तकस्याधः ॥ २७९ ॥

टीका—द्वीन्द्रियस्य प्रथमसमयपर्याप्तकस्य वाक्पर्याप्तिसरणं यत्तद् विघटयति । तस्य जघन्यवाग्योगो यः साधारणजीवस्य च प्रथमसमयपर्याप्तकस्य यदुच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिकरणं ताभ्यां वागुच्छ्वासौ अधः कृत्वा तावन्निरुणद्ध्यसंख्येयगुणहान्या, यावत् समस्तवाग्योगो निरुद्ध उच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिकरणं च । तद्वदिति यथा मनो निरुणद्धि तद्वद्वागुच्छ्वासावपि निरुणद्धीत्यर्थः । तत्र मनोवाचोर्निरुद्धयोः काययोगनिरोधं करोति । पनक उल्लिजीवस्तस्य प्रथमसमयपर्याप्तकस्य यः काययोगो जघन्यस्ततोऽप्यधोऽसंख्येयगुणहान्या निरावरणवीर्यत्वात् सकलं काययोगं निरुणद्धि ॥ २७९ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रियजीवके जो वचनयोग होता है और साधारणवनस्पतिजीवके जो श्वासोच्छ्वास होता है मनोयोगकी ही तरह उससे असंख्यातगुणे हीन वचनयोग और श्वासोच्छ्वासका निरोध करते करते समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है । उसके बाद जघन्यपर्याप्तक पनक जीवके जो काययोग होता है, उससे असंख्यातगुणे हीन काययोगका निरोध करते-करते समस्त काययोगका निरोध करता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मनोयोगका निरोध करता है, उसी प्रकार वचनयोग और श्वासोच्छ्वासका भी निरोध करता है । अर्थात् द्वीन्द्रिय पर्याप्तकजीवके प्रथम समयमें जो जघन्य वचनयोग होता है और पर्याप्तक साधारणजीवके प्रथम समयमें जो श्वासोच्छ्वास होता है, उससे असंख्यातगुणे हीन असंख्यात गुणे वचनयोग और श्वासोच्छ्वासको प्रतिसमय तबतक रोकता है जबतक समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिकरणका निरोध नहीं हो जाता ।

मनोयोग और वचनयोगके रुकनेपर काययोगका निरोध करता है । पर्याप्त पनक इल्लिजीवके प्रथम समयमें जो जघन्य काययोग होता है, उससे भी असंख्यातगुणे हीन काययोगका प्रतिसमय निरोध करता है । इस प्रकार निरोध करते-करते सकल काययोगका निरोध करता है ।

काययोगनिरोधकाले च—

काययोगके निरोधके समय जो कुछ होता है, उसे बतलाते हैं —

१–समस्तावा- ब० ।

सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति काययोगोपयोगतो ध्यात्वा ।
विगतक्रियममनिवर्तित्वमुत्तरं ध्यायति परेण ॥ २८० ॥

टीका—ध्यानं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति सूक्ष्मकाययोगास्थित एव ध्यायति । तदेव शैलेशीं त्रिभागहीनमात्मप्रदेशराशिः करोति । किमर्थमिति वेद्यानि शरीरे निर्वर्तितानि मुखश्रवणनासिकादिच्छिद्राणि तत्परिपूरणार्थं घनीकरोति, आत्मानं त्रिभागहीनावगाहसंस्थानपरिणाहं करोतीत्यर्थः । ततश्चतुर्थशुक्लध्यानभेदं परेण ध्यायति । विगतक्रियमनिवर्तिध्यानं निरुद्धयोगो व्युपरतसकलक्रियमनिवर्तिध्यानमुत्तरध्यानं (ध्यायन्) चरमकर्मांशं क्षपयति ॥ २८० ॥

अर्थ—काययोगका निरोध करते हुए ही सूक्ष्मक्रियअप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान होता है, उस ध्यानके अनन्तर विगतक्रिय नामक ध्यान होता है । इस ध्यानके पश्चात् अन्य कोई ध्यान नहीं होता, अतः यह अनुत्तर है।

भावार्थ—जिस समय केवली सूक्ष्मयोगमें स्थित होते हैं, उसी समय उनके सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान होता है। और उसी समय वे शैलेशी करते हैं। उस समय उनके आत्म-प्रदेशोकी अवगाहना शरीरकी अवगाहनासे एक तिहाई हीन हो जाती है । क्योकि शरीरमें मुख, नाक, कान वगैरहमें जो छिद्र हैं, वे पूरित हो जाते है और उनके पुर जानेसे आत्माके प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं। अतः आत्माके प्रदेशोंकी अवगाहना मूलशरीरकी अवगाहनासे त्रिभागहीन रह जाती है। उसके पश्चात् सकलयोगका निरोध होनेपर व्युपरतसकलक्रिय नामक चौथा शुक्लध्यान होता है। इस ध्यानके द्वारा वे अवशिष्ट कर्मप्रकृतियोको क्षय कर देते हैं।

चरमभवे संस्थानं यादृग्यस्योच्छ्रयप्रमाणं च ।
तस्मात्त्रिभागहीनावगाहसंस्थानपरिणाहः ॥ २८१ ॥

टीका—उक्त एवार्थोऽस्या कारिकायाः, पुनस्तथाप्युच्यते । चरमभवे पश्चिमजन्मनि । संस्थानमाकारः यादृग् यस्य सिद्धिमुपजिगमिषो संस्थानं शरीरोच्छ्राय एव प्रमाणम्। तस्य त्रिभागहान्या संस्थानपरिणाहं करोति ॥ २८१ ॥

अर्थ—अन्तिम भवमें जिस केवलीका जितना आकार और जितनी ऊँचाई होती है, उससे उसके शरीरका आकार और ऊँचाई एक तिहाई कम हो जाती है।

भावार्थ—इस कारिकाका अर्थ यद्यपि पहले कह आये हैं तथापि स्पष्टताके लिए पुनः कहते है। जिस मुमुक्षुका अन्तिम भवमें जैसा आकार होता है और जितनी ऊँचाई होती है उससे उसकी ऊँचाई तथा आकार एक तिहाई कम हो जाता है। अर्थात् उसकी अवगाहना दो तिहाई बाकी रह जाती है।

१–मुत्तर ध्यानं–फ० ब० । २–षष्ठ कर्म-ग्रन्थ, पृ. २६४,–श्रीजिनभद्रक्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यक-भाष्य, गा० ३६८१ । ३–आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ९७४ ।

आशय यह है कि जीवका प्रमाण अपने शरीरके बराबर होता है। जैसा और जितना शरीरका आकार होता है वैसा और उतना ही आकार जीवके प्रदेशोका होता है। अतः केवलीके आत्म-प्रदेश भी शरीरके आकार और उतने प्रमाण होते हैं, किन्तु शरीरके नाक, कान, मुँह, उदर वगैरहमें बहुतसा भाग खाली रहता है, उन खाली भागोमें जीवके प्रदेश नहीं होते। परन्तु शैलेशी हो जानेपर ध्यान-बलसे वे खाली भाग आत्म-प्रदेशोंसे पूरित हो जाते हैं। और उन भागोंके पूरित हो जानेसे आत्माके प्रदेश घनीभूत हो जाते है। और इस प्रकार घनीभूत हो जानेसे शरीरकी अवगाहनासे आत्म-प्रदेशोंकी अवगाहना एकतिहाई भाग कम हो जाती है।

अथ स भगवान् कीदृगवस्थो निरुद्धेषु योगेषु भवतीत्याह—

योगनिरोध होनेपर केवलीभगवान्की जो अवस्था होती है, उसे बतलाते हैं:—

सोऽथ मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्तः[1] ।
अपरिमितनिर्जरात्मा संसारमहार्णवोत्तीर्णः ॥ २८२ ॥

टीका—स भगवान् केवली वाक्कायमानासोच्छ्वासयोगक्रियार्थविनिवृत्तो निरुद्धसकलक्रिय। अपरिमितनिर्जर आत्मा यस्य बहुकर्मक्षपणयुक्तः संसारमहार्णवादुत्तीर्ण एव ॥ २८२ ॥

अर्थ—योगनिरोधके अनन्तर मनोयोग, वचनयोग, काययोग, और श्वासोच्छ्वासकी क्रियासे निवृत्त होकर वह केवलीभगवान् कर्मोंकी अपरिमित निर्जरा करते है, और संसाररूपी समुद्रसे पार हो जाते हैं।

भावार्थ—योगका निरोध होजानेपर नवीन बन्धका तो सर्वथा अभाव ही हो जाता हैं और वची हुई शेष ८५ प्रकृतियोंको भी एक अन्तर्मुहूर्तमें क्षपण कर डालता है। अतः उसे संसार समुद्रसे पार हुआ ही समझना चाहिए।

स व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यानकालेशै लेश्यवस्थां यातीत्याह—

अब व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यानके समय वह शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है, यह बतलाते है.—

ईषद्ध्रस्वाक्षरपञ्चकोद्गिरणमात्रतुल्यकालीयाम्[2] ।
संयमवीर्याप्तबलः[3] शैलेशीमेति गतलेश्यः ॥ २८३ ॥

१–वृत्तः निरुद्धसकलक्रियः–व० । २–कालीयायाम्–व० । ३–संयमावी–व० ।

टीका—ईषन्मनाग् ह्रस्वानामक्षराणां 'कखगघङ' इत्येषामुच्चारणाकाल उद्गिरण-मुच्चारणं तत्तुल्यकालीयां तावत्प्रमाणा शैलेशीमेति[1]। संयमेनानुत्तरेण वीर्येण च प्राप्तबल शैलेशीमेति विगतलेश्य.। शैलेश इव मेरुरिव निष्प्रकम्पो यस्यामवस्थायां भवति, साऽवस्था शैलेशीति स्त्रीलिङ्गशब्दः पृषोदरादिपाठात् संस्क्रियते। शैलानामीशतया शैलानामीश्वरी सा शैलेश्यवस्थेति। विगता लेश्या भावाख्या यस्य स विगतलेश्यः। द्रव्यलेश्याभावाद्भाव-लेश्यानामसंभवः ॥ २८३ ॥

अर्थ—[2]संयम और वीर्यके द्वारा बलको प्राप्त करके, लेश्या रहित हुए वह केवलीभगवान् शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करते हैं। कुछ हृस्व पाँच अक्षरोंके उच्चारण करनेमें जितना समय लगता है, उतना ही काल इस शैलेशी अवस्थाका है।

भावार्थ—चौदहवें गुणस्थानमें ही शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है। शैलों-पहाड़ोंका ईश-स्वामी होनेके कारण सुमेरुको शैलेश कहते हैं। सुमेरुकी तरह निश्चलता जिस अवस्थामें प्राप्त होती है, उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। समस्त योगोंके निरोध, उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति और लेश्याका अभाव हो जानेके कारण यह अवस्था चौदहवें गुणस्थानमें ही प्राप्त होती है। और 'क ख ग घ ङ' अथवा 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पाँच ह्रस्व अक्षरोके उच्चारण करनेमें जितना काल लगता है, उतना ही उसका काल होता है।

पूर्वरचितं[3] च तस्यां समयश्रेण्यामथ प्रकृतिशेषम्।
समये समये क्षपयत्यसंख्यगुणमुत्तरोत्तरतः ॥ २८४ ॥

टीका—प्रथममेव समुद्घातकाले रचितं व्यवस्थापितं समयश्रेण्यां समयपङ्क्तौ[4]। प्रकृतिशेषं[5] प्रवेद्यनामगोत्रायुषां यदवशिष्टमास्ते[6] तत् प्रकृतिशेषम्। प्रतिसमयं क्षपयन्तसंख्येय-गुणमुत्तरेणोत्तरेषु समयेषु ॥ २८४ ॥

अर्थ—पूर्वरचित अवशिष्ट कर्मप्रकृतियोंको शैलेशी अवस्थाके समयोंकी पंक्तिमें प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असख्यातगुणी असंख्यातगुणी खपाता है।

भावार्थ—समुद्घातके समय वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्मका जो भाग शेष रह गया था, उस भागको शैलेशी कालके समयोंमें खपाता है। और प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंको खपाता है। अर्थात् प्रथम समयमें जितने दलिक खपाता है, दूसरे समयमें उनसे असख्यातगुणे दलिकोंको खपाता है। इसी प्रकार आगेके समयोंमें भी असंख्यातगुणे दलिकोंको खपाता है।

१-'शैलेशीमेति' इत्यारभ्य (प्राप्तबलः) इति पर्यन्तः पाठोः वारद्वयं लिखितः-फ० प्रतौ। २-दूसरी टीकामें संवरकी सामर्थ्यसे बलको प्राप्त करके-ऐसा अर्थ किया है। ३-पूर्वारचित-फ०। ४-नास्ति पदमिदं-फ० पुस्तके। ५-प्रकृतोशेषं-फ०। ६-मस्ति फ०।

चरमे सयमे संख्यातीतान् विनिहन्ति चरमकर्मांशान् ।
क्षपयति युगपत् कृत्स्नं वेद्यायुर्नामगोत्रगणम् ॥ २८५ ॥

टीका—पश्चिमसमयेऽसंख्येयान् विनिहन्ति शादयति । चरमा ये कर्मांशाः कर्मभागास्तान् युगपत् क्षपयति । त एव कर्मांशा विशिष्यन्ते—वेद्यायुर्नामगोत्रगणमिति । एषां कर्मणां येंऽशा इति तस्मिन् कृत्स्ने क्षपिता वेद्यादिगणे चरमकर्मांशा क्षपिता एव भवन्तीति ॥ २८५ ॥

अर्थ—अन्तिम समयमें बाकी बचे हुए असंख्यात कर्मदलिकोंको खपाता है । और इस प्रकार समस्त वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्मोंके समूहको एकसाथ नष्ट कर डालता है ।

भावार्थ—प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंको खपाते-खपाते जब अन्तिम समयमें पहुँचता है तो चारों अघातिकर्मोंकी तेरह प्रकृतियोंके जो असख्यातगुणे कर्मदलिक अवशिष्ट रह जाते हैं, उन सबको एकसाथ खपा डालता है । उनके एकसाथ क्षय करते ही अघातिकर्मोंका समूल नाश हो जाता है ।

ततश्च—

उसके पश्चात्—

सर्वगतियोग्यसंसारमूलकरणानि सर्वभावीनि ।
औदारिकतैजसकार्मणानि सर्वात्मना त्यक्त्वा ॥ २८६ ॥

टीका—सर्वा गतयो नरकतिर्यग्मानुष्यदेवाख्यास्तासां योग्यानि संसारमूलकरणानि संसारपरिभ्रमणप्रतिष्ठानि निमित्तानीत्यर्थ । औदारिकादीनि न खल्वौदारिकादिभिर्विना सर्वगतयः प्राप्यन्ते । सर्वभावीनि सर्वत्र भवन्ति नरकादिगतिषु शरीराणि औदारिकं तैजसं कार्मणं च, क्वचिद् वैक्रियतैजसकार्मणानि । सर्वात्मना त्यक्त्वा सर्वेषामात्मा औदारिकादीनां यत् स्वरूपं तेन सर्वेण स्वरूपेण त्यक्त्वा ॥ २८६ ॥

देहत्रयनिर्मुक्तः प्राप्यर्जुश्रेणिवीतिमस्पर्शाम् ।
समयेनैकेनाविग्रहेण गत्वोर्ध्वमप्रतिघः ॥ २८७ ॥

टीका—सिद्ध्यतस्तु[1] नियमेनैव देहत्रयमौदारिकतैजसकार्मणाख्यं भवति । तेन निरवशेषेण मुक्तो निर्मुक्तो विरहित । ऋजुश्रेणिवीतिं ऋज्वा श्रेण्या वीतिं गतिम् । प्राप्य ।

१–सिद्धिस्तु–फ० ब० ।

कीदृशीमस्पर्शामविद्यमानस्पर्शाम् । सकलकर्मक्षयसमयादन्यं समयं न स्पृशति, नापि स्वावगाहप्रदेशात् प्रदेशान्तरं स्पृशतीत्यस्पर्शेत्युच्यते । एकेन समयेनासावविग्रहेणावक्रगत्या गत्वोर्ध्वं लोकान्तमप्रतिघोऽप्रतिहतगतिः । पुनरविग्रहग्रहणं समयविशेषणम् । न ह्येकस्मिन् समये विग्रहः संभवतीति ॥ २८७ ॥

स पुनर्गत्वा क्वावतिष्ठत इत्याह—

सिद्धिक्षेत्रे विमले जन्मजरामरणरोगनिर्मुक्तः ।
लोकाग्रगतः सिध्यति साकारेणोपयोगेन ॥ २८८ ॥

टीका—कात्स्न्येन कर्मनाशः सिद्धिस्तस्याः क्षेत्रमाकाशम् । यत्रावगाहः सिद्धस्य । तच्चेषत्प्राग्भारापृथिव्युपलक्षितं तस्या पृथिव्या उपरितनतलाद्यदुपरितनं योजनं, तस्य यदुपरितनं गव्यूतम् । तस्यापि गव्यूतस्योपरितनो य षड्भागस्त्रीणि धनुशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि धनुषश्च विभाग । एष गव्यूतस्य षड्भागः । तावत्प्रमाणमाकाशं सिद्धिक्षेत्रमुच्यते । यत्रावगाहन्ते सिद्धा इति । विमल इति विविक्ते मलपटलवर्जिते । जन्मजरामरणेन रोगैश्च ज्वरादिभिर्विरहितः । लोकाग्रगतः । स एव गव्यूतषड्भागो लोकाग्रम्, तं प्राप्त सिध्यति । पूर्वोचितगतिसंस्कारभावे सति सिद्ध उच्यते । तत्रस्थ साकारेणोपयोगेन ज्ञानोपयोगेन वर्तमान सिद्धयति न दर्शनोपयोग इति । यस्माल्लब्धय सर्वाः साकारोपयुक्तस्यैव भवन्तीत्यागमः ॥ २८८ ॥

अर्थ—सब गतियोंके योग्य, संसारके मूलकारण और सब जगह होनेवाले औदारिक, वैक्रियिक और कार्मणशरीरको सर्वथा त्याग कर, तीनों शरीरोंसे मुक्त हुआ जीव, स्पर्श रहित ऋजुश्रेणीगतिको प्राप्त करके विग्रह रहित एकसमयमें बिना किसी बाधाके ऊपर जाकर लोगके अग्र भागको प्राप्त करके जन्म, जरा, मरण और रोगसे मुक्त होता हुआ विमल सिद्धिक्षेत्रमें साकार उपयोगसे सिद्धिपदको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—औदारिक, तैजस और कार्मणशरीर, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव नामकी सभी गतियोंके योग्य हैं । इनके बिना सब गतियोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि मनुष्य और तिर्यञ्च ही मरकर सब गतियोंमें जन्म ले सकते हैं । और उनके ही उक्त तीनों शरीर होते हैं । अत ये तीनों शरीर ही सब गतियोंके योग्य है । तथा संसारके मूलकारण भी यही हैं, क्योंकि यदि जीवके साथ शरीर न लगे हों तो उसे ससारमें भ्रमण करना ही नहीं पड़ सकता । तथा ये सभी गतियोंमें पाये जाते हैं । तैजस और कार्मण तो सभी संसारीजीवोंके होते हैं । मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमें उनके साथ औदारिकशरीर होता है और देव तथा नरकगतिमें उनके साथ वैक्रियशरीर होता है । इन शरीरोंको बिल्कुल त्याग करके

१–समयेऽवग्रह–ब० । २–' गतः ' नास्ति–ब० पुस्तके । ३–लोका[गतः] लो—ब० । ४–' सर्वस्य '–तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सू० ४३ ।

औदारिक, तैजस और कार्मणशरीरसे मुक्त हुआ जीव ऊर्ध्वगमन करता है। यह ऊर्ध्वगमन ऋजुश्रेणिगतिसे होता है। जिस स्थानपर जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त होता है, वहाँसे लेकर लोकके अन्त भागतक आकाशके प्रदेशोंकी जो सीधी पंक्ति होती है, उसीके अनुसार मोड़ेरहित सीधा गमन करता है। और विना किसी रुकावटके एकसमयमें ही लोकके अग्रभागको प्राप्त हो जाता है। इसी लिए इस गतिको स्पर्श रहित कहा है। क्योकि जिस समयमे ऊर्ध्वगमन करता है, उसी समयमें अपने गन्तव्य-स्थानतक पहुँच जाता है, समयान्तरका स्पर्श नहीं करता है। तथा जिस प्रदेश-पंक्तिमें गमन करता है, उससे अन्य प्रदेश पंक्तिका स्पर्श नहीं करता है। उसीमें गमन करता हुआ लोकके अग्र भागतक चला जाता है। वहाँ सिद्धिक्षेत्र है। पूरी तरहसे कर्मोंके नाश हो जानेको सिद्धि कहते हैं और उसके क्षेत्रको सिद्धिक्षेत्र कहते हैं। सिद्धजीव इसी सिद्धिक्षेत्रमें रहते हैं। लोकके अग्र भागमें [3]ईषत् प्राग्भार नामकी एक पृथिवी है। वही सिद्धभूमि है। उससे एक योजन ऊपर जानेपर लोकका अन्त होता है। यह पृथ्वी ऊर्ध्वमुख छत्रके आकार है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई ४५ लाख योजन है तथा बाहुल्य मध्यमें आठ योजन है और दोनो ओर घटते-घटते अन्तमें अगुलके असंख्यातवें भाग है। इस पृथ्वीके ऊपरसे तलसे लेकर लोकान्ततक जो एक योजन प्रमाण क्षेत्र है, उस क्षेत्रमें भी जो सबसे ऊपरका एक कोस क्षेत्र है, उस एक कोस क्षेत्रमें भी उसका जो ऊपरका छट्ठा भाग है, जिसका प्रमाण ३३३$\frac{1}{3}$ [4]धनुष है, अपने प्रमाण आकाशको ही सिद्धिक्षेत्र कहते हैं। जन्म, जरा, मरण और रोगसे मुक्त हुए सिद्धजीव मल रहित इस सिद्धिक्षेत्रमें ही जाकर ठहरते हैं, तथा [5]ज्ञानोपयोगमें वर्तमान रहते हुए भी इस सिद्धस्थानको प्राप्त होते हैं, दर्शनोपयोगमें वर्तमान रहते हुए नहीं। क्योंकि आगममें कहते है कि साकारोपयोगीको ही समस्त लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधसुखमुत्तमं[6] प्राप्तः।
केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्तः॥ २८९॥

टीका—सहादिना सादिकं सिद्धत्वपर्यायवत्। अनन्तमपर्यवसानम्। अविद्यमानोपमानमनुपम्। अविद्यमानव्याबाधमव्याबाधम्। रोगान्तकादिद्वन्द्वरहितम्। एवंविधं सुखं प्राप्तः। केवलं क्षायिकं सम्यक्त्वम्। केवलं ज्ञानम्। केवलं दर्शनम्। केवलमित्यसहायं सम्यक्त्वं पुद्गलरहितम्। एतान्यात्मा यस्य स्वभाव. स एवंरूपस्तत्र मुक्त इति॥ २८९॥

अर्थ—सादि, अनन्त, अनुपम और अव्याबाध उत्तम सुखको प्राप्त होते हुए केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वरूपी आत्मा मुक्त होता है।

भावार्थ—मुक्तजीवको जो सुख प्राप्त होता है, वह सिद्धत्वपर्यायकी तरह ही सादि और अनन्त है। अर्थात् जिस प्रकार सिद्धत्वपर्याय आदिसहित और अन्तरहित है। एक बार इस सुखके प्राप्त

१-'अविग्रहा जीवस्य'-तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सू० २८। २-'एक समयाविग्रहा।' तत्त्वार्थसूत्र-अ० २ सू० ३०। श्रीजिनभद्रक्षमाश्रमणकृत वि. शे. भा. गा. ३७०७। ३-वि. शे. भा. गा. ३५२०, श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिकृत आव० नि० ९६० से।

४-आ. नि., गा. ९७१। ५-क्रमिक उपयोगद्वयवादियोंके मतसे, क्योंकि श्वेताम्बर क्रमिक उपयोगद्वयवादी हैं। श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिकृत आ. नि० गा. ९७९। ६-मन्त्रबोघ-फ०।

होनेपर फिर कभी उसका नाश नहीं होता। तथा वह सुख अनुपम है, क्योंकि संसारका कोई भी सुख उसके समान नहीं है। तथा वह बाधा रहित भी है; क्योंकि उसे प्राप्त करके रोग वगैरहका भय नहीं रहता। मुक्तजीव ऐसे उत्तम सुखको प्राप्त करके क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप स्वभावसे युक्त होते हैं। आशय यह है कि मुक्त अवस्थामें आत्मिक गुणोंका अभाव नहीं हो जाता। किन्तु सुख, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि स्वाभाविक गुण अपनी चरम सीमाको प्राप्त होकर सदैव प्रकाशमान रहते हैं।

केषाञ्चिदभावमात्रं मोक्षस्तन्निराकरणायाह—

कुछ वादी मोक्षको केवल अभावस्वरूप ही मानते हैं, उनके निराकरणके लिए कहते हैं—

मुक्तः सन्नाभावः स्वालक्षण्यात् स्वतोऽर्थसिद्धेश्च ।
भावान्तरसंक्रान्तेः सर्वज्ञाज्ञोपदेशाच्च ॥ २९० ॥

टीका—अष्टाभिः कर्मभिर्मुक्त आत्मा चेतनास्वभावो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। तस्य सर्वात्मना निरन्वयो नाश इति दुःसाध्यम्, परिणामित्वात् प्रदीपशिखावत्। ते हि प्रदीपपुद्गलाः कज्जलाद्याकारेण प्रादुर्भवन्ति, पुनश्च परिणामान्तरेण जायन्त इति प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्याः। निरन्वयनाशे च जैनेन्द्रात् प्रतिहेतुदृष्टान्तानामसंभव एव। अतःपरिणामित्वात् जीवो ज्ञानदर्शनोपयोगात्मा, न पुनरभावः। स्वलक्षणमुपयोगस्तद्भाव स्वालक्षण्यं तस्मात् स्वालक्षण्यात्। न जातुचिदुपयोगात्मस्वतत्त्वं जहाति जीवः। स्वत एव चार्थाः (र्थः) सिद्धाः (द्धः)। ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वमात्मनो न कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नः। स्वत एवासावनदितादृशोऽर्थः। यद्यपि प्राच्योपरत उपयोगान्तरमुदेति, तथाप्युपयोगसामान्यान्न भिद्यते। ज्ञानस्वभावत्वात्। तथा भावान्तरसंक्रान्तेः, भावो हि भावान्तरत्वेन संक्रामति, न सर्वथोच्छिद्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षः, इतो ग्रामान्तरगतपुरुषादिवत्। इतश्च नाभावो मुक्तः। सर्वज्ञाज्ञोपदेशात् वीतरागाः सर्वज्ञास्तत्प्रणीतागम आज्ञा। तदुपदेशात् सिद्धात्मा ज्ञानदर्शनस्वभावोऽस्तीति[1] व्यवस्थितमिति ॥ २९० ॥

अर्थ—मुक्तजीव अभावरूप नहीं है, क्योंकि जीवका लक्षण उपयोग है तथा अर्थोंकी सिद्धी स्वतः ही हुआ करती है। और भाव ही भावान्तररूप होते हैं। सर्वज्ञद्वारा कहे गये आगममें ऐसा ही कहा है।

भावार्थ—आठों कर्मोंसे मुक्त आत्मा चैतन्यस्वरूप है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग उसका लक्षण है। उस आत्माका निरन्वय नाश दुःसाध्य है। क्योंकि वह दीपककी शिखाकी तरह परिणामी है। दीपककी शिखा काजल आदि रूपसे परिणमन करती है। उसके बाद उस काजलका भी कोई दूसरा परिणमन देखा जाता है। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। वस्तुका निरन्वय विनाश माननेपर उसकी सिद्धिके लिए हेतु और दृष्टान्तका मिलना असंभव ही है। अतः परिणामी होनेके कारण जीवका स्वरूप ज्ञानोपयोग

१—त्रुटितोऽयमंशः फ. प्रतौ।

और दर्शनोपयोग ही है। अभाव नहीं है। क्योंकि जीव कभी भी अपने उपयोगमयी स्वभावको नहीं छोड़ता। तथा पदार्थ स्वत ही सिद्ध होते हैं, अतः आत्माका ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव किसी परके निमित्तसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु यह अनादिकालसे ही स्वत. सिद्ध है। यद्यपि उपयोगसे उपयोगान्तर होता रहता है; किन्तु उपयोग सामान्यका नाश कभी नहीं होता। क्योंकि वह ज्ञानस्वभाव है। यद्यपि एक भावका भावान्तररूपसे परिणमन होता है, परन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं होता। जिस प्रकार कोई पुरुष एक गाँवसे दूसरे गाँवमें चला जाता है तो उस पुरुषका सर्वथा अभाव नहीं होता। उसी प्रकार जीवके मुक्त होनेपर भी उसका अभाव नहीं हो जाता। इसके सिवाय वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगममे भी मुक्तात्माको ज्ञान दर्शनस्वभाव कहा है। अतः मुक्तावस्थामें जीव सर्वथा अभावरूप सिद्ध नहीं होता।

त्यक्त्वा शरीरबन्धनमिहैव कर्माष्टकक्षयं कृत्वा।
न स तिष्ठत्यनिबन्धादनाश्रयादप्रयोगाच्च ॥ २९१ ॥

टीका—इहैव मनुष्यलोके कस्मान्न तिष्ठति ? उच्यते—शरीरमेव बन्धनं तद्विहाय कथं पुनरात्यन्तिकशरीरत्यागः ? कर्माष्टकक्षयकरणादत्यन्तवियोगः शरीरकस्य। न चासाविहैव तिष्ठति, अनिबन्धनत्वात्। न हि तस्येह किञ्चिन्निबन्धनमासने कारणमस्ति। शरीरादिनिबन्धनमिहावस्थाने भवति। तच्च समस्तमेव ध्वस्तम्। अनाश्रयत्वान्मुक्तस्यात्यन्तलघोराश्रय. सर्वस्य लोकाग्रशिखरं भवति। प्रलेपाष्टकलिप्ताम्बुतुम्बकस्येव जलमध्यक्षिप्तस्याष्टासु शीर्णेषु लेपेषु जलस्योपर्येवास्थानमाश्रयो नाधः, तथा मुक्तस्याप्यत्रोपघ्नो नास्तीत्यत इह नावतिष्ठत इति। तथाऽप्रयोगात् अप्रयोगो व्यापार आत्मनस्तस्य च तादृशी नास्ति क्रिया, ययावस्थानं कल्पयिष्यते। अतोऽप्रयोगाच्च न स तिष्ठत्यत्रेति ॥ २९१ ॥

अर्थ—शरीररूपी बन्धनको त्याग कर और आठो कर्मोंका क्षय करके मुक्तजीव मनुष्यलोकमें नहीं ठहरता; क्योंकि यहाँ ठहरनेका न तो कोई कारण है, न आश्रय है और न कोई व्यापार है।

भावार्थ—यह शङ्का हो सकती है, मुक्त होनेपर जीव यहाँ ही क्यों नहीं ठहरता ? अत उसका समाधान करते है। आठों कर्मोंका समूल नाश कर देनेसे शरीररूपी बन्धनका भी अत्यन्त वियोग हो जाता है। इस बन्धनका वियोग होनेपर जीव मनुष्य-लोकमें नहीं ठहरता, क्योंकि उसके यहाँ ठहरनेका कोई कारण नहीं रहता। शरीर आदि बन्धनोंके होनेसे ही जीव यहाँ ठहरता है, किन्तु अब तो वे नष्ट ही हो चुके। दूसरे यहाँ उसके ठहरनेके योग्य आश्रय भी नहीं है। क्योंकि मुक्तजीव अत्यन्त हलके हो जाते है। अत. उनका आश्रय लोकका अग्र भाग ही होता है। जिस प्रकार आठ लेपोंसे लिप्त तूँबीको यदि जलके बीचमें फेंक दिया जाये तो उन आठों लेपोंके घुल जानेपर तूँबी जलके ऊपर आ ठहरती है। नीचे नहीं ठहरती। उसी प्रकार मुक्तजीवको भी यहाँ रोकनेवाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता, अत वह

यहाँ नहीं ठहरता। तथा मुक्तजीव कोई ऐसी क्रिया भी नहीं करता, जिसके कारण उसके यहाँ ठहरनेकी कल्पना की जा सके। अतः वह यहाँ नहीं ठहरता है।

एवं तर्ह्यूर्ध्वमेव तेन गन्तव्यं नान्यत्रेति कुतो नियम इत्याह—

शङ्का—यदि मुक्तजीव यहाँ नहीं ठहरता है तो न ठहरो, किन्तु उसे ऊपर ही जाना चाहिए, अन्यत्र नहीं, एसा नियम किस कारणसे है?

नाधो गौरवविगमादशक्य (दसंग) भावाच्च गच्छति विमुक्तः।
लोकान्तादपि न परं प्लवक इवोपग्रहाभावात् ॥ २९२ ॥

टीका—यतो[3] गुरुद्रव्यमधो गच्छद् दृष्टं पाषाणादि, तस्य गौरवं नास्त्यपेतकर्मत्वात्। अशक्यभावाच्च अशक्योऽनुपपन्नः खल्वयं भावो यत् सर्वकर्मविनिर्मुक्तोऽत्यन्तलघुरधो गमिष्यतीति। न च लोकान्तात् परतो गच्छति, उपग्रहकारिधर्मद्रव्याभावात्। प्लवकस्तारकस्तद्वत् यानपात्रवत् मत्स्यादिवद्वा। स्थलेषु गमनशक्तेरभावात्॥ २९२॥

अर्थ—मुक्तजीव नीचे नहीं जाता है; क्योंकि उसमें गौरवका अभाव है और ऐसा होना किसी प्रकार शक्य भी नहीं है। जहाज आदिकी तरह लोकान्तसे आगे भी नहीं जाता है, क्योंकि वहाँ सहायक धर्मद्रव्यका अभाव है।

भावार्थ—पाषाण वगैरह भारी-भरकम पदार्थ नीचे जाते हुए देखे जाते हैं। किन्तु मुक्तजीवमें भारीपन नहीं है। क्योंकि वह कर्मोंके भारसे मुक्त हो चुका है। फिर यह बात किसी प्रकार सम्भव नहीं है कि समस्त कर्मोंसे मुक्त हुआ अत्यन्त लघु जीव नीचे जावे। अत नीचे जाना शक्य नहीं है। इसलिए ऊर्ध्वगमन ही युक्त है। पर ऊपर भी लोकके अन्तसे आगे नहीं जाता है, क्योंकि गमनमें सहायक धर्मद्रव्य लोकके अन्ततक ही पाया जाता है। आगे उसका अभाव है। अत जिस प्रकार जहाज या मछली वहींतक जा सकते हैं जहाँतक उनका सहायक पानी होता है, उसी प्रकार मुक्तजीव भी वहींतक जाते हैं जहाँतक सहायक धर्मद्रव्य वर्तमान है।

योगप्रयोगयोश्चाभावात्तिर्यग्न तस्य गतिरस्ति।
सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्यालोकान्ताद् गतिर्भवति ॥ २९३ ॥

टीका—योगा मनोवाक्कायलक्षणास्तदभावात्। प्रयोग आत्मनः क्रिया तदभावाच्च। तिर्यग्दिक्षु प्राच्यादिकासु। न तस्य गतिसंभव। तस्मादधस्तिर्यग्वा गतेरसंभवात्। इहैव चावस्थाने नास्ति किञ्चित्कारणमतो गच्छत्यूर्ध्वमेव सिद्ध.। सा चोर्ध्वगतिरालोकान्तादेव भवति, न परत., उपग्रहाभावादित्युक्तं च ॥ २९३॥

१–दसङ्ग भावाच्च–फ० ब०। २–पग्रहोभा–ब०। ३–यो गु–फ० ब०। ४–दृष्टमुपलादि–फ० ब०

अर्थ—योग और क्रियाका अभाव होनेसे वह तिरछा भी गमन नहीं करता है। अतः मुक्त सिद्धजीवकी गति ऊपर सीधी लोकके अन्ततक होती है।

भावार्थ—मुक्तजीवके न तो मनोयोग, वचनयोग और काययोग ही है और न क्रिया ही है। अतः पूर्व आदि दिशाओंसे उसकी गति सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके तिर्यगमनमें योग और क्रिया ही कारण हैं और उसके इनका सर्वथा अभाव है। इस प्रकार वह न नीचे जा सकता है और न तिरछे जा सकता है। इसके अतिरिक्त यहाँ ठहरनेका भी कोई कारण नहीं है। अतः सिद्धजीव ऊपरको ही जाता है। किन्तु ऊपर भी वह लोकके अन्ततक ही जाता है, आगे नहीं जाता; क्योंकि गमनमें सहायक धर्मद्रव्य लोकान्तसे आगे नहीं रहता। यह पहले कह चुके हैं।

अथोर्ध्वगतिस्तस्य निष्क्रियस्य सतः कथं भवतीत्याशङ्क्याह—

शङ्का—यदि मुक्तजीवके क्रिया भी नहीं है तो वह ऊर्ध्वगमन कैसे करता है? इसका उत्तर देते हैं—

पूर्वप्रयोगसिद्धेर्बन्धच्छेदादसंगभावाच्च ॥
गतिपरिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वं गतिः सिद्धा ॥ २९४ ॥

टीका—पूर्वप्रयोगस्तृतीये[2] शुक्लध्याने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनिवर्तमानेन देहत्रिभागहानिविधानकाले यः संस्कार आहितः। क्रियायास्तेन पूर्वप्रयोगेण सिद्धेर्बन्धच्छेदात् असंगभावाच्च[3] तस्य गमनं सिध्यति। अतः पूर्वप्रयोगासिद्धेर्दोलागमनवत् पूर्वसंस्काराद्भवति। तथा बन्धनच्छेदादेरण्डबीजकुलिकावत् कर्मबन्धनत्रोटनादूर्ध्वं गतिः सिद्धा भवति मुक्तात्मनः। असंगभावात्। गतलेपालाबुकवत् पयसि प्लवते। संगो लेपस्तदभावादसंगत्वात्। तथा गतिपरिणामाच्च दीपशिखावत्। नहि दीपस्य जातुचिच्छिखाऽग्नेर्वाज्वाला निमित्ताभावे सति तिर्यगधो वा व्रजति। तस्मादूर्ध्वमेव गच्छति मुक्तात्मेति ॥ २९४ ॥

अर्थ—पूर्व प्रयोगसे सिद्धि होनेके कारण, कर्मबन्धका छेद हो जानेके कारण, निष्परिग्रह होनेके कारण, तथा ऊपर जानेका स्वभाव होनेके कारण सिद्धजीवकी ऊर्ध्वगति सिद्ध है।

भावार्थ—जिस प्रकार कुम्हार पहले दण्डके सहारेसे चक्रको घुमाता है और इसके पश्चात् दण्डके हटा लेनेपर भी चक्र घूमता ही रहता है। उसी प्रकार सूक्ष्मक्रियअप्रतिपाति नामके तीसरे शुक्लध्यानके समयमें आत्म-प्रदेशोंकी अवगाहनाको एक तिहाई हीन करते हुए जीवमें क्रियाका जो संस्कार रह जाता है, उसी संस्कारके वशसे वह बादको ऊर्ध्वगमन करता है।

१–सपूर्व–ब०। २–तृतीयशु–ब०। ३–'बन्धच्छेदादसङ्गभावाच्च, त्रुटितोऽयमंशः–फ० ब० पुस्तकयोः।

तथा जिस प्रकार एरण्डफलके फूटते ही उसके बीज चिटककर ऊपरकी ओर जाते हैं, उसी प्रकार कर्म-बन्धनके टूटनेपर मुक्तात्मा ऊपरको जाता है। तथा जैसे मिट्टी आदिके लेपके भारसे मुक्त होते ही तुंबी जलके अन्दरसे तुरन्त ऊपर आ जाती है, वैसे ही समस्त संग-परिग्रहसे मुक्त हुआ जीव ऊपरको जाता है। और जिस प्रकार दीपककी शिखा वायु वगैरहके निमित्त न मिलनेपर स्वभावसे ऊपरकी ही ओर जाती है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी ऊपरको ही जाता है।

अनुपमं तत्र सुखमस्तीति कथमवगम्यत इत्याह—

मुक्तजीवके अनुपम सुखकी सिद्धि करते हैं:—

देहमनोवृत्तिभ्यां भवतः शरीरमानसे[1] दुःखे।
तदभावात्तदभावे सिद्धं सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ॥ २९५ ॥

टीका:—देहः शरीरं मनश्च तयोर्वृत्तिर्वर्त्तनं सद्भाव आत्मनि संश्लेषस्तत्र[2] शरीरसंश्लेषाच्छरीरं दुःखमुपजायते। मनःसम्बन्धाच्च मानसं दुःखमिष्टवियोगादौ। तस्यच शरीरमनसोरभावे सति तत्कृतस्य दुःखस्याभावः। दुःखाभावे च सिद्धं स्वाभाविकं प्रतिष्ठितमव्याहतं सिद्धिसुखमिति ॥ २९५ ॥

अर्थ—शरीर और मनके सम्बन्धसे शारीरिक और मानसिक दुःख होता है। तथा शरीर और मनका अभाव होनेसे वह दुःख नहीं होता, अतः सिद्धजीवके सिद्धिका सुख सिद्ध ही है।

भावार्थ—शारीरिक दुःखका कारण शरीर है और मानसिक दुःखका कारण मन है। किन्तु मुक्त जीवके न शरीर ही होता है और न मन ही। अतः दुःखके इन दोनों कारणोंके न होनेसे सिद्धजीवका दोनों प्रकारके दुःख नहीं होते। दुःखके न होनेसे स्वाभाविक सुख सिद्ध ही है। क्योंकि आत्माके सुख गुणका विकार ही दुःख है। अतः विकारके दूर हो जानेपर सुख-गुण स्वाभाविकरूपमें वर्तमान रहता है। तथा सुख और दुःख परस्परमें विरोधी हैं—एकके अभावमें दूसरा अवश्य रहता है। दोनोंका अभाव किसी भी सचेतनमें नहीं हो सकता। अतः मुक्तजीवके दुःखोंसे मुक्त होजानेपर स्वाभाविक सुख रहता है।

यस्तु यतिर्घटमानः सम्यक्त्वज्ञानशीलसम्पन्नः।
वीर्यमनिगूहमानः शक्त्यनुरूपप्रयत्नेन ॥ २९६ ॥

टीका—यतिस्तपस्वी साधुर्घटमानश्चेष्टमानः प्रवचनोक्तसमस्तक्रियानुष्ठायी। सम्यक्त्वेन शंकादिशल्यरहितेन। सम्यग्ज्ञानेन श्रुतादिना। शीलेन च मूलोत्तरगुणरूपेण सम्पन्नः।

१-' मानसे, नास्ति-फ० प्रतौ। २-' संश्लेषस्तत्रशरीर-' त्रुटितोऽयमंशः-फ० प्रतौ।

शक्तिर्वीर्यं सामर्थ्यं तदनिगूहमानोऽपह्नवमकुर्वन् स्वशक्त्यनुरूपेण प्रयत्नेन चेष्टते[1]। अहर्निशमनुष्ठेयासु क्रियासु शाठ्यरहित[1] ॥ २९६ ॥

संहननायुर्बलकालवीर्यसम्पत्समाधिवैकल्यात्।
कर्मातिगौरवाद्वा स्वार्थमकृत्वोपरममेति ॥ २९७ ॥

टीका—संहननं वज्रर्षभनाराचादि। आयुः स्वल्पम्। बलहानिर्वा दुर्बलशरीरत्वादसामर्थ्यस्य हेतुः। कालो दुःषमादिः। वीर्यं सम्यग् नास्ति प्रचुरवीर्यत्वाभावः। सम्पद्धनादि[2]। समाधिः स्वस्थता चित्तस्याव्यग्रता सापि नास्ति। एषां संहननादीनां वैकल्याद्विकलत्वात्। कर्मणां चातिगौरवात् ज्ञानावरणादीनामतिगौरवं निकाचनावस्थाप्राप्तिः। स्वार्थं सकलकर्मक्षयः। तमकृत्वा म्रियते उपरमयेतीति[3] तपस्वी ॥ २९७ ॥

सौधर्मादिष्वन्यतमकेषु सर्वार्थसिद्धिचरमेषु।
स भवति देवो वैमानिको महर्द्धिद्युतिवपुष्कः ॥ २९८ ॥

टीका—सम्यग्दृष्टिर्वैमानिकेष्वेवोत्पद्यते सौधर्मादिषु कल्पेषु, द्वादशसु, नवसु च ग्रैवेयकेषु, पञ्चसु सर्वार्थसिद्धिविमानेषु स्वर्गप्रयत्नव्यवस्थितेषु देवः संजायते वैमानिकान्यतमस्थाने विमानवासीत्यर्थ। महती ऋद्धिद्युतिर्वपुश्च यस्य स महर्द्धिद्युतिवपुष्कः। ऋद्धिः परिवारादिका। द्युति शरीरच्छाया वपुः शरीरं तदपि महत्त्वं (नापचरितं) किं त्वहीनम्। समचतुरस्रं संस्थानं वैक्रियमुत्तरोत्तरसंस्थानप्राप्तौ च स्थितिः प्रभाव। सुखादिभिः प्रकृष्टं प्रकृष्टतरं प्रकृष्टतमं च संभवतीति ॥ २९८ ॥

अर्थ—जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्युक्चारित्रसे युक्त होता है, और अपनी शक्तिको नहीं छिपाता हुआ अपने सामर्थ्यके अनुसार संयमके पालनमें प्रयत्नशील रहता है तथा संहनन, आयु, बल, काल, शक्ति-सम्पदा और ध्यानकी कमीके कारण एवं कर्मोंके अति निविड़ होनेके कारण स्वार्थ-सकलकर्मक्षयको किये विना ही मरणको प्राप्त होता है, वह साधु सौधर्मस्वर्गसे लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त किसी एक विमानमें आदरणीय, ऋद्धि, कान्ति और शरीरका धारक वैमानिकदेव होता है।

भावार्थ—जो साधु प्रवचनमें कही गई समस्त क्रियाओंको बड़े प्रयत्नसे अपनी शक्तिको न छिपाकर करता है, रात-दिन उनके पालनमें संलग्न रहता है तथा शङ्कादि दोषोंसे रहित सम्यक्त्वसे, सम्यग्ज्ञानसे, मूलगुण और उत्तरगुणरूप चारित्रका पालन करता है, परन्तु वज्रवृषभनाराच-आदि उत्तम संहननके न होनेसे, अल्पायु होनेसे, शरीरमें बल न होनेसे, पंचम आदि कालके होनेसे,

---

१–'चेष्टते' इत्यारभ्य शाठ्यरहितः इति पर्यन्तः पाठः–फ० प्रतौ नास्ति। २–नास्ति पदद्वयमिदं –ब० पुस्तके। ३–स तपस्वी–फ०–ब०।

वीर्यकी कमीके कारण, चित्तकी स्थिरता न होनेसे, तथा कर्मोंका निकाचितबन्ध होनेके कारण सकल कर्मोंका क्षय किये बिना ही वह मर जाता है, वह साधु सौधर्मस्वर्गमें, बारह कल्पोंमें, नवग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तरविमानोंमें से किसी एकमें जन्म लेता है और इस प्रकार वह वैमानिकदेवोंमें ही उत्पन्न होता है तथा वह बड़ी भारी ऋद्धि, कान्ति और समचतुरस्रसंस्थानसे युक्त उत्तम वैप शरीरका धारक होता है। सारांश यह है कि जिन साधुओंको मुक्ति प्राप्तिके समस्त साधन सुलभ रहते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं, किन्तु जिन्हें इस कारण—सामग्रीकी प्राप्ति नहीं होती वे मरकर प्रभावशाली महर्द्धिक देव होते हैं ॥ २९६, २९७, २९८ ॥

तत्र सुरलोकसौख्यं चिरमनुभूय स्थितिक्षयात्तस्मात् ।
पुनरपि मनुष्यलोके गुणवत्सु मनुष्यसंघेषु ॥ २९९ ॥

टीका—तत्रेति सौधर्मादौ सुरलोके सौख्यमनुभूय चिरं स्थितिभेदादुपर्युपरीति । ततः स्थितिक्षयादायुषः । तस्मात् सुरलोकान्मनुष्यलोकमागत्य गुणवत्सु मनुष्येषु विशिष्टान्वयेषु जातिकुलाचारसम्पन्नेषु संघेष्विति बहुपुरुषकेषु ॥ २९९ ॥

जन्म समवाप्य कुलबन्धुविभवरूपबलबुद्धिसम्पन्नः ।
श्रद्धासम्यक्त्वज्ञानसंवरतपोबलसमग्रः ॥ ३०० ॥

टीका—समवाप्य जन्मलाभं जन्म[1] । बन्धुः स्वजनलोकः । कुलं पितुरन्वयः । विभवो द्रव्यसम्पत् । रूपं विशिष्टशरीरावयवसन्निवेशः । बलं वीर्यसम्पत् । बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिः । एभिर्बन्धुकुलादिभिः सम्पन्नः सम्बन्धः । श्रद्धा भगवदर्हत्सु प्रीतिरतिशयवती, दक्षिणीयेषु च यतिषु श्रद्धा परितोषः । सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणम् । ज्ञानं मत्यादिज्ञानं यथासंभवम् । संवर आस्रवनिरोधलक्षणस्तपोबलं तपसि द्वादशविधे उत्साहोऽनुष्ठानं च । एभिः समग्रः सम्पूर्णः संयुक्तो[3] वेति ॥ ३०० ॥

अर्थ—वहाँ बहुत कालतक सुरलोकके सुखको भोगकर, आयुका क्षय होनेपर वहाँसे फिर भी मनुष्यलोकमें आकर गुणवान् मनुष्य परिवारमें जन्म होता है। और कुल, बन्धु, सम्पत्ति, रूप, बल, और बुद्धिसे युक्त होता है तथा श्रद्धा, सम्यक्त्व, ज्ञान, संवर और तपोबलसे पूर्ण होता है।

भावार्थ—वह साधु वैमानिकदेवोंमें जन्म लेकर बहुत कालतक देवलोकके सुखोंको भोगता है। जब आयु पूरी हो जाती है तो वहाँसे च्युत होकर फिर भी मनुष्य-लोकमें आता है और जाति कुल और आचारसे युक्त उच्च मनुष्य परिवारमें जन्म लेता है। वहाँ भी उसे अच्छा कुल मिलता है, खूब बन्धु-बान्धव मिलते हैं, धन, सौन्दर्य, शक्ति, और बुद्धि प्राप्त होती है। भगवान् अर्हन्तदेवमें उसकी

१–पदमिदं ब. पुस्तके नास्ति । २–पदमिदं ब. पुस्तके नास्ति । ३–सम्पूर्णः सं–ब. ।

बड़ी भारी प्रीति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आस्रव निरोधरूप संवरसे वह युक्त होता है, एवं बारह प्रकारके तपोंके आचरणमें उसे बड़ा-भारी उत्साह रहता है।

पूर्वोक्तभावनाभिर्भावितान्तरात्मा विधूतसंसारः।
सेत्स्यति ततःपरं वा स्वर्गान्तरितस्त्रिभवभावात् ॥ ३०१ ॥

टीका—पूर्वोक्ता द्वादश भावना या अनित्यादिका। एताभिर्भावितो वासितोऽन्तरात्मा ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावो विधूतस्त्यक्तो विक्षिप्तः संसारो येन नरकादिगतिभेदः स विधूतसंसारः। उत्तीर्णप्रायः संसारसागरात् स्वल्पशेषभव इत्यर्थः। सेत्स्यति सिद्धिं प्राप्स्यति। एवंविधक्रियानुष्ठातायां, ततः परं प्रकर्षतः स्वर्गान्तरितस्त्रिभवभावात् सम्प्रति मनुष्य उक्तान्तरक्रियानुष्ठायी, ततो देवस्तस्मात् प्रच्युतः पुनर्मनुष्यः संसेत्स्यतीति। त्रीन् भवाननुसृत्य त्रीणि जन्मानि लब्ध्वेत्यर्थः ॥ ३०१ ॥

अर्थ—पहले कही गई बारह भावनाओंसे उसकी अन्तरात्मा सुवासित होता है और वह संसारका नाश करनेवाला होता है तथा उसके बाद मध्यमें स्वर्गमें जन्म लेकर तीसरे भवमें मुक्तिको प्राप्त करता है।

भावार्थ—उसकी आत्मा पहले कही हुई बारह भावनाओंके रसमें डूबी रहती है तथा पहले मनुष्य जन्ममें जो बारह भावनाओंका चिन्तन किया था, उसका संस्कार भी बराबर बना रहता है। ऐसे साधुको संसार-समुद्रसे पार हुआ ही समझना चाहिए। क्योंकि उसके भव बहुत ही कम शेष रह जाते हैं। केवल तीन ही भव धारण करके वह मुक्त होता है। अर्थात् वर्तमानका एक मनुष्य भव तो वह भोग ही रहा है, उसके बाद देव होता है और वहाँसे च्युत होकर पुनः मनुष्य-भव धारण करके मोक्ष चला जाता है।

एवं यतेश्चर्यामभिधाय गृहाश्रमिणं प्रत्याह—

इस प्रकार मुनि-चर्याको बतलाकर गृहस्थकी चर्या बतलाते हैं—

यश्चेह जिनवरमते गृहाश्रमी निश्चितः सुविदितार्थः।
दर्शनशीलव्रतभावनाभिरभिरञ्जितमनस्कः ॥ ३०२ ॥

टीका—इह मनुष्यलोके यो गृहाश्रमी जन्म लब्ध्वा गृहस्थ एव तीर्थकरवचनं सुविदितार्थं सम्यक्श्रितं सत्यं भगवद्भिरुक्तम्। एतदेव संसारोत्तारकं प्रवचनम्। दर्शनं

१-पूर्वोक्ता-प०। २ एवंविधक्रियानुष्ठा-फ०। ३-तदनिर्दं नाभि-फ०-प० पुस्तके। ४-[illegible]-प० ५-दुआरक प-फ०।

तत्त्वार्थश्रद्धानम्। शीलमुत्तरगुणाः। व्रतग्रहणादणुव्रतानि। अनित्यादिका द्वादश भावनाः। एवं दर्शनादिभिराभिरञ्चितं वासितं मनो यस्य स भवति अभिरञ्जितमनस्कः॥ ३०२॥

स्थूलवधानृतचौर्यपरस्त्रीरत्यरतिवर्जितः सततम्।
दिग्व्रतमिह देशावकाशिकमनर्थविरतिं च॥ ३०३॥

टीका—स्थूलात् प्राणातिपाताद्विरतिः प्रथममणुव्रतम्। स्थूला बादरा प्राणिनो ये तेभ्यो विरतिस्तेषामवधः। न सूक्ष्मेभ्यो विरतिः पृथिव्यादिकायेभ्यो विरतिः। अथवा संकल्पजः स्थूलस्तस्माद्विरतिः। संकल्पं हृदि व्यवस्थाप्य व्यापादयामीति स्थूलप्राणातिपातस्माद्विरतिः प्रथममणुव्रतम्। न पुनरारंभजाद्विरतिरिति। स्थूलमनृतं यन्निरोधलक्षणपूर्वकमादित्यमण्डलाधिरोहणे सत्यन्यथावृत्तमन्यथा भाषते, तस्माद्विरति न परिहासादिभाषणात। चौर्यमदत्तस्यादान स्थूलम्, यस्मिन्नपट्टले चौर्यमितिहव्यपदिश्यते, तत्स्थूलम्, तस्माद्विरतिः। परदारनिवृत्तिर्व्रतस्य तु परपरिगृहीतस्त्रीपरिहारः, न तु वेश्यापरिहारः। रत्यरतिभ्यां वर्जितस्त्यक्तः। सततं सर्वदा रतिर्विषयेषु प्रीतिः, अरतिरुद्वेगो व्रतपरिपालनादिक्रियास्विति वास्त्वादिष्विच्छा। तस्याश्च परिमाणं व्रतमेतावन्ति वास्तूनि क्षेत्राणि हिरण्यसुवर्णमेतावत् तथा धनं धान्यं कटाहादि चोपस्करजातं सर्वं परिमितं धार्यमिति। परिमाणादुपर्युपरि स्थूलं तस्माद्विरतिरणुव्रतम्। साक्षादनुपाल्यमपि शेषं व्रतग्रहणादाक्षिप्तं द्रष्टव्यम्। रात्रिभोजनविरतिश्च यथाशक्तीति। दिग्व्रतं चतसृषु दिक्षु उर्ध्वमधश्च गमनपरिमाणमेतावद् गन्तव्यं न परत इति परतो गमनाद्विरतिः। चतुर्मास्यादिषु स गृह्णति। तथा देशावकाशिकं व्रत प्रतिदिवसमध्ये एतावती मर्यादा मम गमनस्येति तस्यैव सकृद्गृहीतस्य दिग्व्रतस्य देशेऽवकाशं कल्पयति देशावकाशिक व्रतम्। अनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रयोजनाभावोऽनर्थः विना प्रयोजनेनात्मानं दण्डयति अग्निशस्त्रादिप्रदानादिनाऽनेकभेदेन तस्माद्विरतिर्व्रतम्॥ ३०३॥

सामायिकं च कृत्वा पौषधमुपभोगपारिमाण्यं च।
न्यायागतं च कल्प्यं विधिना पात्रेषु विनियोज्यम्॥ ३०४॥

टीका—सामायिकं प्रतिक्रमणम्। अथवा चैत्यायतनसाधुसन्निधौ वा यावदास्ते तावत् सामायिकं करोति—"करोमि भदन्त सामायिकम् सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि, यावन्नियमं भगवदर्हद्भिम्बसाधून् वा पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेनेत्याह।" तथा पौषधव्रतं कृत्वा

१–दर्शनाभिर–ब०। २–शिक्षाम–फ० ध०। ३–तृतीय–ब०। ४–एतावपि वा–फ०। ५–'यथाशक्तीति' इत्यारभ्य 'स गृह्णाति' इतिपर्यन्त. पाठः–ब० प्रतौ नास्ति। ६–नास्ति पदमिद–फ० पुस्तके।

पौषध आहारादिस्तस्य वारणं निवारणं प्रतिषेधः पौषध । स चाहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारभेदेन चतुर्विध । अष्टमीपौर्णमास्यादिषु क्रियते । उपभोगपरिमाणव्रतमुपभोगः पुष्पधूपस्नानांगरागादिः । परिभोगो वस्त्रशयनादिः । स च द्वेधा-भोजनतः कर्मतश्च । भोजनतोऽशनपानखाद्यस्वाद्यरूप मांसमद्यानन्तकायमध्वादिविषयः । कर्मतः पञ्चदशभेदः, अंगारकरणवनशकटभाटकादिलक्षणः । अधिकाद्विरतिर्मासादेश्च उपभोगपरिभोगपरिमाणत्वतः (व्रतम्) । तथाऽन्योऽतिथिसंविभागः । स च पौषधपारणकाले न्यायागतस्यागर्हितव्यापारेणोपात्तस्य तंदुलघृतादेरुपसाधितस्य कल्पनीयस्य साधूद्देशेनाकृतस्य । विधिनेति यावन्निर्वृत्तः पाकःसर्वस्य सत्कारपूर्वकं साधूनां पात्रेषु दानं विनियोग । पात्रग्रहणात् साधुभ्यो ग्रहमागतेभ्यो देयम्, न स्वभाजनेषु कृत्वा नीत्वा साधुवसतौ देयमिति । यच्च साधुभ्यो न दत्तं पारणकाले तन्नाभ्यवहरति स्वयमिति ॥ ३०४ ॥

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः ।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्या ॥ ३०५ ॥

टीका—चैत्यं चितयः प्रतिमा इत्येकार्थः । तेषामायतनमाश्रयश्चैत्यकुलानि । प्रकृष्टानि स्थापनानि प्रस्थापनानि । महत्या विभूत्या वादित्रनृत्यतालानुचारस्वजनपरिवारादिकया प्रस्थापनां प्रतिष्ठेति तानि कृत्वा शक्तितः प्रयत्नवान् यथा यथा प्रवचनोद्भावनं भवति तथा कृत्वेति । पूजा सपर्याः । गन्धो विशिष्टद्रव्यसम्बन्धी । माल्यं पुष्पम् । अधिवासः पटवासादिः । धूपः सुरभिद्रव्यसंयोगज ः । प्रदीप प्रदीपदानम् । आदिग्रहणादुपलेपनसंमार्जनखण्डस्फुटित संस्करणचित्रकर्माणि चेति ॥ ३०५ ॥

प्रशमरतिनित्यतृषितो जिनगुरुसत्साधुवन्दनाभिरतः ।
संलेखनां च काले योगेनाराध्य सुविशुद्धाम् ॥ ३०६ ॥

टीका—प्रशमः कषायादिजयस्तत्र रतिः प्रीतिस्तस्यां प्रशमरतौ नित्यमेव तृषितः साभिलाष—"कदा साधुत्वमवाप्य कषायरिपुं जेष्यामीति ।" जिनानां तीर्थकृतां गुरूणामाचार्योपाध्यायादीनां, साधुजनस्य साधुलोकस्य च वन्दने नमस्करणे प्रतिक्षणमभिरत । मारणान्तिकसंलेखनाकाले प्रत्यासन्ने जीवितच्छेदे । द्रव्यतो भावतश्च संलिख्य शरीरं कषायादींश्च । योगेनेति ध्यानेनाराध्याभिमुखीकृत्य धर्मेणाज्ञाविचयादिना सुष्ठु वाढं विशुद्धां निर्मलां जीवित-

१—रशरीरेष-फ० । २—गपरिभोगपरि—ब० । ३—परिशयनादिः—ब० । ४—तोऽशनखाद्य—फ० । ५—परिमाण—ब० । परिमाणाणुव्रतम्—फ० । ६—गारणा—फ०,ब०, । ७—तव्यवहारेणो—फ०ब० । ८—वसति—फ०ब० । ९—स्थापनं—फ० । १०—मारणान्तिका च सलेखना—च. ।

मरणाशंसादिदोषरहितां कृत्वेति सम्बन्ध्य। एवं गृहे स्थितो द्वादशविधं श्रावकधर्ममनुपाल्य पञ्चाणुव्रतानि, त्रीणि गुणव्रतानि दिक्परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणमनर्थदण्डविरतिश्च। शिक्षाव्रतानि चत्वारि सामायिकं देशावकाशिकं पौषधोपवासोऽतिथिसंविभागश्चेति द्वादशप्रकारमप्यनुपाल्य संलेखनां चाराध्य ॥ ३०६ ॥

प्राप्तः कल्पेष्विन्द्रत्वं वा सामानिकत्वमन्यद्वा।
स्थानमुदारं तत्रानुभूय च सुखं तदनुरूपम् ॥ ३०७ ॥

टीका—कल्पाः सौधर्मादयस्तेष्विन्द्रत्वमधिपतित्वमवाप्य। कदाचिद्वा सामानिकत्वमिन्द्रतुल्यत्वम्। इन्द्रत्वरहितास्तु सामानिका भवन्ति शेषं स्थित्यादि तुल्यम्। अन्यद्वा स्थानमुदारं विशिष्टं सामान्यदेवत्वं प्राप्य वैमानिकेषु। तत्र च देवजन्मसुखं स्थानानुरूपमनुभूय जघन्यमध्यमोत्कृष्टम् ॥ ३०७ ॥

नरलोकमेत्य सर्वगुणसम्पदं दुर्लभां पुनर्लब्ध्वा।
शुद्धः स सिद्धिमेष्यति भवाष्टकाभ्यन्तरे नियमात् ॥ ३०८ ॥

टीका—स्थितिक्षयात्ततः प्रच्युतो मनुष्यलोके समागत्य गुणवत्सु मनुष्येषु आर्यदेशादिषु जातिकुलविभवरूपसौभाग्यदिकां संपदं सम्यक्त्वादिगुणसंपदं च लब्ध्वा। शुद्धः सकलकर्मकलङ्कनिर्मुक्तः। स एवं सुखपरंपरया[4] सिद्धिमेष्यति[5]। अष्टानां भवानामर्वागभ्यन्तरे नियमेनैवेति[6]। तस्मादादरवता गृहस्थधर्मोऽप्यनुपाल्य, पर्यन्ते च साधुधर्म इति ॥ ३०८ ॥

अर्थ—(३०२-३०८) इस लोकमें जो श्रावक हैं, वह तीर्थंकरके वचनोंमें विश्वास करके तत्त्वार्थको अच्छी तरह जानकर सम्यग्दर्शन, शील, व्रत और भावनाओंसे अपने मनको सुवासित करके सदाके लिए स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, परस्त्री, राग और द्वेषको त्याग करके उसके पश्चात् दिग्व्रत, देशावकाशिकव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषध और भोगोपभोगपरिमाणको करके न्यायपूर्वक उपार्जित अन्नादि द्रव्यको पात्रोंमें विधिपूर्वक देकर शक्तिके अनुसार प्रयत्नपूर्वक चैत्यालयोंकी प्रतिष्ठा करके गन्ध, माला, अधिवास, धूप, दीपक वगैरहसे पूजा करके सर्वदा प्रशमरतिका इच्छुक तथा तीर्थङ्कर आचार्य, उपाध्याय और साधुजनोंको नमस्कार करनेमें तत्पर होता हुआ मरणकाल आनेपर ध्यानके द्वारा सुविशुद्ध सल्लेखनाका आराधन करके सौधर्मादिक कल्पोंमें इन्द्रपद, सामानिकपद, अथवा अन्य किसी महान् पदको प्राप्त करता है। और वहाँ उस स्थानके अनुरूप सुखको भोगकर, मनुष्यलोकमें आकर दुर्लभ समस्त गुण-सम्पदाको प्राप्त करके आठ भवोंके अन्दर शुद्ध होकर नियमसे सिद्धिको प्राप्त करता है।

१-दण्डो वि—ब.। २-पदमिद फ. पुस्तके नास्ति। ३-णसम्पदे-ब.। ४-पारंपरया-फ.। ५-' मोक्षं प्राप्स्यति ' इत्यधिकः पाठः।-ब. पुस्तके।

भावार्थ—इस मनुष्यलोकमें जो गृहस्थ है, वह तत्त्वार्थको अच्छी तरह जानकर जिनेन्द्र-भगवान्के वचनोंमें निश्चय करता है कि भगवान्का कथन सत्य है, उनके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन ही संसारसे पार लगानेवाला है। इस प्रकार निश्चय करके सम्यग्दर्शन, अणुव्रत, शीलव्रत, और अनित्यत्व आदि भावनाओंसे अपने मनको सुवासित करता है। वे व्रत और शील निम्न प्रकार हैं—

स्थूल हिंसाका त्याग पहला अणुव्रत है। जो प्राणी बादर होते हैं, श्रावक उनकी हिंसा नहीं करता। किन्तु जो पृथ्वीकाय वगैरह सूक्ष्म जीव होते हैं, उनकी हिंसाका उसे त्याग नहीं होता। अथवा हिंसा दो प्रकारकी होती है—एक संकल्पी और दूसरी आरंभी। 'मै इसे मारूँगा'—ऐसा हृदयमें संकल्प करके जो किसी भी प्राणीका वध किया जाता है, वह संकल्पीहिंसा है। और आरंभ करनेसे जो हिंसा होती हैं, वह आरंभीहिंसा है। श्रावक संकल्पीहिंसाका त्याग करता है, आरंभीका नहीं; क्योंकि आरंभ किये विना उसका जीवन-व्यापार नहीं चल सकता। अतः स्थूल अर्थात् संकल्पीहिंसाका त्याग पहला अणुव्रत है। स्थूल झूठका त्याग दूसरा अणुव्रत है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न बतलाकर अन्यथा बतलाना असत्य है। किन्तु हँसी दिल्लगीमें जो अन्यथा भाषण किया जाता है, श्रावक उसका त्याग नहीं करता है। विना दी हुई वस्तुके ग्रहण करनेको चोरी कहते हैं। जिसके ग्रहण करनेसे मनुष्य चोर कहा जाता है, वह स्थूल चोरी है। श्रावक ऐसी चोरीका त्याग करता है। यह तीसरा अणुव्रत है। चौथे अणुव्रतके दो प्रकार हैः—एक स्वदारसन्तोष और दूसरा परदारनिवृत्ति। स्वदारसन्तोषव्रतीके लिए परस्त्रीसेवन और वेश्यागमन—दोनों ही स्थूल हैं, अतः वह दोनोंका त्याग करता है। किन्तु परदारनिवृत्तिका पालक परस्त्रीगमनका तो त्याग करता हैं; पर वेश्यागमनका त्याग नहीं करता, क्योंकि वेश्या किसीकी परिगृहीत स्त्री नहीं है। सर्वदा विषयोंमें प्रीति करनेका और व्रतपालन आदि क्रियाओंमें द्वेष करनेका त्याग करना पाँचवाँ अणुव्रत है। इस व्रतको इच्छापरिमाण भी कहते हैं। अर्थात् खेत, मकान वगैरहकी इच्छाका परिमाण करना कि इतने मकान-खेत, इतना सोना-चाँदी, इतना धन-धान्य वगैरह रखनेका मैं नियम करता हूँ—यह इच्छापरिमाण नामका पाँचवाँ अणुव्रत है।

यथाशक्ति रात्रिभोजनव्रतका भी पालन करना चाहिए। ये पाँच अणुव्रत हैं। सप्तशील निम्न प्रकार हैंः—

चारों दिशाओंमें तथा ऊपर-नीचे जानेका परिमाण करना कि मैं अमुक दिशाओंमें अमुक स्थानतक ही जाऊँगा—उससे आगे नहीं जाऊँगा; यह पहला दिग्व्रत है। दिग्व्रतके द्वारा परिमित देशमें प्रतिदिन जो गमना-गमनकी मर्यादकी जाती है, कि आज मैं अमुक अमुक स्थानतक जाऊँगा, उसे देशावकाशिकव्रत कहते हैं। विना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करनेको अनर्थदण्ड कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं और उसके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। प्रतिक्रमणको अथवा मन, वचन, कायसे सावद्य प्रवृत्ति त्याग करनेको सामायिक कहते हैं। चैत्यालयमें अथवा साधुओंके निकटमें जबतक बैठता है तबतक सामायिक करनेकी प्रतिज्ञा करता है कि—हे भगवन्; मैं सामायिक करता हूँ, अमुक अमुक समयतक सावद्ययोगका त्याग करता हूँ अथवा अमुक अमुक समयतक भगवान् अर्हन्तदेवके

१ "आसमयमुक्ति मुक्त पञ्चाघानामशेषभावेन। सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥"
—श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यकृत-रत्नकरण्डश्रावकाचार ॥ ९७ ॥

बिम्बकी और साधुओंको उपासना करता हूँ। अष्टमी-पौर्णमासी आदिके दिन आहारादिको पौषध कहते हैं। उसके चार भेद हैं। आहारका त्याग, शरीरके संस्कारका त्याग, ब्रह्मचर्य धारण और पापयुक्त व्यापारका त्याग। पुष्प, धूप, स्नान, अङ्गराग वगैरह जिन वस्तुओंको एक बार ही भोग सकते हैं, उन्हें उपभोग कहते हैं और वस्त्र, शय्या आदि जो वस्तुएँ बार-बार भोगनेमें आती हैं, उन्हें परिभोग कहते हैं। उनके परिणाम करनेको भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहते हैं। वह परिमाण दो प्रकारसे होता है—एक भोजनकी अपेक्षासे और दूसरा कार्यकी अपेक्षासे। भोजन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदिका परिमाण करना और मद्य, मांस, मधु अनन्तकाय वगैरहका त्यागना भोजनकी अपेक्षासे परिमाण करना है तथा आग, वन, गाड़ी-भाड़ा आदि पन्द्रह प्रकारके खरकर्मोंसे आजीविका त्याग करना कर्मकी अपेक्षासे परिमाण करना है।

सातवाँ व्रत अतिथिसंविभाग है। पौषधकी पारणाके समयमें न्यायपूर्वक अनिन्दनीय व्यापारके द्वारा उपार्जित द्रव्यसे खरीदे गये शुद्ध चावल, घी वगैरह द्रव्योंसे साधुके उद्देश्यसे न बनाये गये भोजनमें से घर आये हुए साधुओंको विधिपूर्वक जो दान दिया जाता है, उसे अतिथिसंविभागव्रत कहते हैं। पात्रग्रहणसे यह स्पष्ट है कि घरपर पधारे हुए साधुओंको ही आहारदान देना चाहिए। अपने वर्तनोंमें साधुओंकी वसतिकाओंमें ले जाकर नहीं देना चाहिए। अतिथिसंविभागव्रती श्रावक जो वस्तु साधुओंको नहीं देता, पारणाके समय वह वस्तु स्वयं भी नहीं खाता। इस प्रकार श्रावक इन पाँच अणुव्रतों और सात शीलोंका पालन करता है। तथा अपनी शक्तिके अनुसार गाजे-बाजे, स्वजन-परिवारके बड़े भारी समारोहके साथ जिससे प्रवचनकी प्रभावना हो, उस ढगसे चैत्यालयोंकी प्रतिष्ठा करता है और दीप-धूप, माला वगैरहसे जिनभगवान्‌की पूजन करता है। उसकी सदैव यही अभिलाषा रहती है कि कब साधु बनकर कषायरूपी शत्रुओंको जीतूँ। इसके सिवाय वह तीर्थङ्कर भगवान्, आचार्य, उपाध्याय वगैरह गुरु और साधुजनोंको नमस्कार करनेमें सदैव संलग्न रहता है। जब मरणकाल आता है तो शरीर और कषाय आदिको कृश करके आज्ञाविचय आदि ध्यानके द्वारा जीने-मरनेकी इच्छा आदि दोषोंसे रहित शुद्ध सल्लेखनापूर्वक मरण करता है।

इस प्रकार गृहस्थ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत—इन बारह प्रकारके श्रावक-धर्मका पालन करके तथा अन्तमें सल्लेखनाका आराधन करके देवलोकमें या तो इन्द्रपदको प्राप्त करता है या इन्द्रके ही समान सामानिक पदको प्राप्त करता है या किसी अन्य प्रभावशाली वैमानिकदेवका पद प्राप्त करता है। वहाँपर अपने पदके अनुरूप जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट सुखको भोगता है। आयुके क्षय होनेपर वहाँसे चयकर वह मनुष्यलोकमें जन्म लेता है। यहाँपर भी उसे जाति, कुल, वैभव, रूप, सौभाग्य आदि सम्पदा सम्यक्त्व आदि प्रशस्त गुण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सुखकी

---

१. "व्रतयेत् खरकर्मात्र मलान् पञ्चदश त्यजेत्। वृत्तिं वनाग्न्यनस्फोटभाटकैर्यन्त्रपीडनम्॥ २१॥
निर्लाञ्छनासतीपोषौ सरःशोषं दवप्रदाम्। विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यमङ्गिरुक्॥ २२॥
इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम्। अगण्यत्वात् प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति॥" २३॥
—पण्डित प्रवर आशाधरकृत-सागारधर्मामृत ५ वाँ. अ.

परम्पराका भोग करते हुए वह गृहस्थ आठ भवोंके अन्दर ही नियमसे मोक्षको प्राप्त करता है। अतः प्रारंभमें गृहस्थ-धर्मका भी पालन करना चाहिए और अन्तमे साधु-धर्मका पालन करना चाहिए।

इत्येवं प्रशमरतेः फलमिह स्वर्गापवर्गयोश्च शुभम्।
सम्प्राप्यतेऽनगारैरगारिभिश्चोत्तरगुणाढ्यैः ॥ ३०९ ॥

टीका—इतिशब्दः प्रकरणपरिसमाप्तिप्रदर्शनार्थः। एवमिति वर्णितेन न्यायेन। इहेति मनुष्येष्वेव बाहुल्येन स्वर्गफलम्। तिर्यग्गतौ च केषांचित् स्वर्गावाप्तिर्नान्यत्र। अपवर्गफलम्। पुनर्मनुष्येष्वेव। शुभमिति वैषयिकस्वाभाविकभेदादुभयमपि फलं शुभमिति। तदेव तदपवर्गाख्यं फलं प्राप्यतेऽनगारैः साधुभिः। अगारिभिश्च स्वर्गफलं प्राप्यते। अपवर्गफलं तु, पारम्पर्येणावाप्यते गृहाश्रमिभिरिति। कीदृशैरनगारैरगारिभिर्वा उत्तरगुणाढ्यैः प्रधानगुणयुक्तैर्मूलोत्तरगुणसम्पन्नैराढ्यैर्निरवद्याशेषसंयमानुष्ठायिभिरिति[1] ॥ ३०९॥

अर्थ—इस प्रकार मनुष्योंमें उत्तरगुणोंसे सम्पन्न मुनि और गृहस्थ प्रशमरतिके द्वारा स्वर्ग और मोक्षके शुभ फलको प्राप्त करते हैं। यहाँ 'इति' शब्द इस प्रकरणकी समाप्तिका सूचक है। तथा 'इह' पदसे मनुष्योंका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्वर्ग-फलकी प्राप्ति अधिकतया मनुष्योंको ही होती है। तिर्यग्गतिमें भी स्वर्ग-फलकी प्राप्ति होती है; परन्तु बहुत कम। तथा मोक्ष-फल तो मनुष्यगतिमें ही प्राप्त होता है। यहाँ दोनों प्रकारके फलोंका ग्रहण किया गया है—एक वैषयिक और दूसरा स्वाभाविक। वैषयिक-फलकी दृष्टिसे स्वर्ग प्रधान है और स्वाभाविक फलकी दृष्टिसे मोक्ष प्रधान है। मोक्ष-फलको निर्दोष संयमके अनुष्ठाना संयमी जन ही प्राप्त करते हैं और गृहस्थ जन स्वर्ग-फलको प्राप्त करते हैं तथा परम्परासे मोक्ष-फलको प्राप्त करते हैं। प्रशम-वैराग्यमें, रति-प्रीति होनेके कारण ही यह सब फल-प्राप्ति होती है। अत. वैराग्यमें मनको लगाना चाहिए।

उक्तो योऽर्थः प्रकरणप्रारंभात् प्रभृति स सर्व एव प्रवचने, न मया स्वमनीषिकया किञ्चित् कल्पितमत्र, प्रवचनस्य च महानुभावत्वमनयार्यया दर्शयति—

प्रवचनका माहात्म्य बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकरणमें आदिसे लेकर अन्तनक जो कुछ कहा है, वह सब प्रवचनमें विद्यमान है—अपनी बुद्धिसे कल्पित नहीं है:—

जिनशासनार्णवादाकृष्टां धर्मकथिकामिमां श्रुत्वा।
रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामुद्धृतां भक्त्या ॥ ३१० ॥

टीका—जिनशासनमर्णव इव जिनशासनार्णवः। बहुत्वादनेकाश्चर्यनिधानं च। उपमानोपमेयभावः। तस्माज्जिनशासनसागरान्निकृष्टामाक्षिप्ता जिनशासनोदधौ निहतानर्था-

---

1 'कीदृशैः' इत्यारभ्य 'निरवद्याशेषसंयमानुष्ठायिभिः' इति पर्यन्तः पाठः ब० पुस्तके नास्ति।

नुपादाय लब्ध्वा धर्मकथा कथिता। न तु विस्तारेणोदिता। संक्षिप्तार्थामिमामाकर्ण्य श्रुत्वावधार्य रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामित्यात्मन औद्धत्यं परिहरति। रत्नाकरादनेकरत्ननिधेः। तस्माद्यथा जरत्कपर्दिका मृजावती शोभना भवति, जरत्कपर्दिका तु परिपेलवा निःसारा च मयाल्पमतिना, तद्वदियं जरत्कपर्दिकास्थानीया आकृष्टा। तां जरत्कपर्दिकावदुद्धृतां भगवत्सु साधुषु भक्तिर्या प्रीतिस्तया प्रेरितेनाकृष्टामिति। आकृष्टेति प्रशमरतिः सम्बध्यते, उद्धृतेति कपर्दिका संबद्ध्यते इति ॥ ३१० ॥

निःसाराप्येषा प्रशमरतिः —

सद्भिर्गुणदोषज्ञैर्दोषानुत्सृज्य गुणलवा ग्राह्याः।
सर्वात्मना च सततं प्रशमसुखायैव यतितव्यम् ॥ ३११ ॥

टीका—सन्त साधवस्तैर्गुणदोषज्ञैर्गुणांश्च दोषांश्च अवगच्छन्ति ये ते गुणदोषज्ञास्तैः सद्भिरत्र दोषानुत्सृज्य शब्दच्छन्दोऽर्थादिकान् परित्यज्य गुणलवा ग्राह्या। लवग्रहणादल्पगुणत्वं दर्शयति। कियतो गुणान् वक्तुं शक्नोत्यस्मदादि। सर्वात्मना सर्वप्रयत्नेन। सततं सदैव। वैषयिकसुखनिरभिलाषेण प्रशमसुखार्थमेव[1] श्रुत्वा प्रयतितव्यमिति ॥ ३११ ॥

अर्थ—रत्नोंके आकर समुद्रसे निकाली गई जीर्ण कौड़ीकी तरह जिनशासनरूपी समुद्रसे भक्तिपूर्वक ली गई इस धर्मकथाको सुनकर गुण और दोषके ज्ञाता सज्जनोंको दोषोंको छोड़कर गुणके अंशोंको ग्रहण करना चाहिए। और सर्वदा सब प्रकारके प्रशम-सुखकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—जिनशासन समुद्रकी तरह गंभीर और अनेक आश्चर्योंकी खान है। उस जिनशासनरूपी समुद्रमें पड़े हुए अर्थोंको लेकर यहाँ संक्षेपमें धर्मकथा-प्रशमरतिको बताया है। समुद्रको रत्नाकर भी कहते हैं; क्योंकि उसमें रत्न भी पाये जाते हैं तथा शंख, सीप, कौड़ी जैसी तुच्छ वस्तुएँ भी पाई जाती हैं। अतः ग्रन्थकार अपने औद्धत्यको दूर करनेके लिए कहते हैं कि जिनशासनरूपी रत्नाकरसे निकाली गई होनेपर भी यह धर्मकथा रत्नके समान मूल्यवान् नहीं है, किन्तु किसी घिसी-घिसाई तुच्छ कौड़ीकी तरह निःसार है। फिर भी मैंने भक्तिवश इसका उद्धार किया है। अतः निःसार होनेपर भी इसे सुनकर गुण और दोषोंके पारखी सज्जनोंको इसमें जो दोष हों उन्हें छोड़ देना चाहिए। और जो गुणके लव हों उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए। लव, इसलिए कि हमारे जैसे अल्पमतिजन सम्पूर्ण गुणोंका कथन कर ही कैसे सकते हैं? किन्तु उन गुण-लवोंको ग्रहण करके विषय-सुखकी अभिलाषाको छोड़कर निरन्तर सब प्रकार प्रशम सुखकी प्राप्तिके लिए ही चेष्टा करते रहना चाहिए। सारांश यह है कि संसारको प्रशम-सुखकी ओर आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे ही यह प्रकरण बनाया गया है और इसमें यही एक गुण-लव है। उसे ग्रहण करके उस ओर लगना चाहिए। इतना होनेसे ही ग्रन्थकार अपने श्रमको सफल समझते हैं।

१-प्रसुखार्थमेव-ब०।

यच्चासमंजसमिह छन्दःशब्दसमयार्थतो मयाभिहितम् ।
पुत्रपराधवत्तन्मर्षयितव्यं बुधैः सर्वम् ॥ ३१२ ॥

टीका—असमञ्जसमघटमानम् । यदिह प्रशमरतौ । केनाकारेणासमञ्जसम् ? छन्दसा शब्दशास्त्रेण प्रवचनप्रसिद्धस्यार्थस्यान्यथाप्ररूपणेन । पुत्रापराधत् तत् मर्षयितव्यम् । यथा पुत्रस्य शिशोरपराधं पितामृष्यति क्षमते, तथा प्रवचनवृद्धैः[1] सर्वमशेषं क्षन्तव्यमिति ॥ ३१२ ॥

अर्थ—इस प्रशमरतिमें मैंने छन्द-शास्त्र, शब्द-शास्त्र और आगमके अर्थसे असंगत जो कुछ कहा हो, उसे विद्वानोंको पुत्रके अपराधकी तरह क्षमा करना चाहिए ।

भावार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि इस प्रकरणमें मैंने छन्द-शास्त्रके प्रतिकूल कोई रचना की हो या व्याकरण-शास्त्रके प्रतिकूल कुछ लिखा हो अथवा प्रवचनमें प्रसिद्ध किसी अर्थका अन्यथा प्ररूपण किया हो तो जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके अपराधको क्षमाकर देता है, उसी प्रकार प्रवचनके ज्ञाता वृद्धजनको भी अपने बच्चेका अपराध समझकर मुझे क्षमा करना चाहिए ।

सर्वसुखमूलबीजं सर्वार्थविनिश्चयप्रकाशकरम् ।
सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमर्हच्छासनं जयति ॥ ३१३ ॥

टीका—सर्वमेव सुखं सर्वसुखं दुःखलेशाकलङ्कितं मुक्तिसुखम् तस्य मूलमाद्यं प्रथमं बीजमर्हच्छासनम् । अथवा वैषयिकाणां सुखानां मुक्तिसुखस्य[2] च सर्वेषां सुखानां मूलबीजं जिनशानम् । सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः पञ्चास्तिकायाः ससमयाः सर्वेषु सर्वार्थेषु यो निश्चयः परिच्छेदः एवं संसारस्थितिघटना मुक्तिमार्गश्चेति तं प्रकाशयति प्रतिपादयति जैनमेव शासनम् । सर्वे च ते गुणाश्च सर्वगुणाः । सर्वगुणानां सिद्धिर्निष्पत्तिः सर्वगुणसिद्धिः । साध्यते येन धनेन तच्च धनमिदमेव प्रवचनम् । अतः सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमर्हच्छासनं द्रव्यपर्यायनयप्रपञ्चात्मकमन्यशासनन्यग्भावेन जयति ॥ ३१३ ॥

अर्थ—समस्त सुखोंका मूलबीज और सकल अर्थोंके निर्णयको प्रकट करनेवाला, सब गुणोंकी सिद्धि करनेके लिए धनकी तरह साधन स्वरूप जिनशासन जयवन्त रहता है ।

१–सद्भिर्बुधैःसफ, ब. । २–मुक्तस्य च फ. ब. ।

भावार्थ—जिनशासन इहलौकिक तथा पारलौकिक समस्त सुखोंका तथा दुःखके लेशसे भी रहित मुक्ति-सुखका मूलबीज है, उसके विना सुखका लेश भी प्राप्त नहीं हो सकता। पचास्तिकाय आदि संसारके समस्त पदार्थोंका तथा संसारके स्वरूप और मुक्तिके मार्गका प्रतिपादन भी जिनशासन ही करता है। अथ च जिस धनसे समस्त सुखोंकी प्राप्ति की जा सकती है, वह धन भी जिनशासन ही है। द्रव्य, पर्याय और नयका विवेचन करनेवाला वह जिनशासन अन्य शासनोंसे स्वतन्त्र और अद्भुतरूपमें उपस्थित होकर सदैव जयशील रहता है।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः—

श्रीहरिभद्राचार्यै रचित प्रशमरतिविवरणं किञ्चित्। परिभाव्य वृद्धटीका' सुखबोधार्थं समासेन ॥ १ ॥
अणहिलपाटकनगरे **श्रीमज्जयसिंहदेव** नृपराज्ये। बाणवसुरुद्र (११८५) सङ्ख्ये विक्रमतो वत्सरे व्रजति ॥२॥
श्रीधवलभांडशालिकपुत्रयशोनागनायकवितीर्णे। सदुपाश्रये स्थितैस्तै समर्थितं शोधित चेति ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रशमरतिप्रकरणका यह सक्षिप्त विवरण (टीका) श्रीहरिभद्राचार्यने पूर्वाचार्योंकी टीकाओंका मनन करके इस दृष्टिसे लिखा है कि जिसके पाठक इससे मर्मको सरलतासे समझ सकें। उन्होंने इसकी रचना **जयसिंहदेवके** राज्यके अन्तर्गत **अणहिलपाटकनगरमें** वि० सं० ११८५ में **श्रीधवल मांडशालिकके** पुत्र **यशोनाग नायकके** द्वारा आर्पित किये गये उपाश्रयमें की और वहींपर इसका सशोधन भी किया।

॥ इति प्रशमरतिटीका ॥

परिशिष्ट

१—अवचूरिः ।

अवचूर्णी—ॐ नमः । श्रीप्रशमरतेः--शास्त्रस्य पीठबन्धः कषायरागादिकर्मकरणार्थाः । अष्टौ च मदस्थाना-न्याचारो भावना धर्मः ॥ १ ॥ तदनुकथा जीवाद्या उपयोगो भावाः (वः) षडविध द्रव्यम् । चरणं शीलाङ्गानि च ध्यानश्रेणि[११] समुद्धाताः ॥ २ ॥ योगनिरोधः क्रमशः शिवगमनविधानमन्तफलमस्याः । द्वाविंशत्यधिकारा मुख्या इह धर्मकथिकायाम् ॥ ३ ॥ श्रीउमास्वातिवाचकः पञ्चशतप्रकरणप्रणेता प्रशमरतिप्रकरणं प्ररूपयन्नादौ मंगलमाह—नाभे० चरमो देहः कायश्चरमदा वा चरमभवदायिनी ईहा येषाम् ॥ १ ॥ महाविदेहादिभवान् । 'चः' समुच्चये । जिनागमात् किञ्चिदन्यत् प्रशमरतिप्रकरणमित्यर्थः ॥ २ ॥ अनन्तानि बहूनि अक्षराणि वा गमा मार्गाः सदृशपाठाश्च । पर्यायाः क्रियाध्यवसायरूपा भेदाः क्रमपरिवर्तिनश्च घटादिशब्दाना कुटादिनामान्तराणि वा । अर्थाः शब्दानामभिधे-यानि द्रव्यगणितादयश्च धर्मास्तिकायादयो वा । हेतवोऽपूर्वार्थोपार्जनोपायाः अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणाश्च । नयाः प्राप्तार्थरक्षणोपाया नैगमादयः । शब्दाश्चित्रभाषादयः । संस्कृतप्राकृतादयश्च । रत्नानि आमर्शौषध्यादयश्च ॥ ३ ॥ श्रुतमागमो बुद्धिरोत्पत्त्यादिका (रौत्पातिक्यादिका) मतिस्त एव विभवो धनं तेन परिहीणकः । अश्रयवानामर्य-प्राधान्यानामुञ्छको मीलनं गवेषयितु सर्वज्ञपुरप्रवेशमिच्छुः ॥ ४ ॥ चतुर्दशपूर्वविद्भिः या इति सबन्धो योज्यः । प्रथिताः प्रकाशिताः ॥ ५ ॥-विनिर्गताः श्रुतग्रन्थानुसारिण्यो वाचो विप्रुष इव परिशाटिप्रायाः आगमवचनप्राधान्या-वयवभूताः करुणेनेव संपिण्ड्य उत्सेचिकाः परिशाटिताः ॥ ६ ॥ श्रुतवाक्पुलाकिकाबहुमानसामर्थ्यढौकितया कलुष-तुच्छया प्रशमस्पृहकत्वेनानुसृता कृता विरागमार्गोत्पादिका विरागपथः पदं स्थानं यस्या वा ॥ ७ ॥ अवगीतोऽनादर-णीयोऽर्थो यस्याः सा । न वा निषेधे गंभीरप्रधानभावार्था अगीकर्तव्या ॥ ८ ॥ अत्र सतां सौजन्यविषये कारण सत्स्वभावादन्यत् कोऽपि किं वक्ष्यति अपि तु नेति । वा तस्मादर्थे । हिः यस्मादर्थे । निसर्गः स्वभावतया सुष्ठु निपुणोऽपि इति भणति कः तेनामत्सरिणा स्वभावेन कृता ॥ ९ ॥ प्रकाशता प्रकटतां । कृष्णिमानमपि बिभ्रत् शोभते निःसार यत्किंचित् ॥ १० ॥ काहलमपि अव्यक्ताक्षरं असबद्ध प्रलपितमपि अनर्थकवचनमपि प्रख्यातिम् ॥ ११ ॥ गणधरादि-भिस्तेषा ज्ञानादीना भावाना पश्चात्कीर्तनमनुकीर्तनम् ॥ १२ ॥ पूर्वसेवितमपि पुनः पुनः सेव्यते अनुयोजनीय वाक्प्रबन्धेन ॥ १३ ॥ अर्थाभिधायि पदं शास्त्रम् ॥ १४ ॥ आजीवनाकृते कर्म कृष्यादि हेतुः कारणं अभ्यसनीयः ॥ १५ ॥ बाह्यवस्तुभिः एहैकीभावेनाध्यवसायः इष्टप्राप्तौ तोषः ॥ १८ ॥ मिथ्यात्वोपहतया कलुषया दृष्ट्या विपरीतया युक्तः मल उपचितकर्मराशिः पञ्चाश्रवमलबहुलश्च अभिसन्धानं तीव्राध्यवसायः ॥ २० ॥ विनिर्णयः संक्लेशः कालुष्य विशुद्धिर्नैर्मल्यं तयोर्लक्षण परिज्ञान । संज्ञा एव कलपः ॥ २१ ॥ बन्धनं स्पष्टं बन्धमात्र दवरक बद्धसूचीकलापवत् ध्मातसूचीनां परस्परसलुलितमिव निकाचित कुट्टितसूचीकलापवत् निरन्तर बहुविधघोलङ्घान्तः ॥ २२ ॥ कर्षितो विलिखितः कृशो दीनः अनुगत आसक्तनवनवाभिलाषः क्रोधी मानीत्यादिकथनीयताम् ॥ २३ ॥ वक्तुमपि शक्तः आस्ता परिहर्तुम् ॥ २४ ॥ आप्नोतीति सर्वेष्वपि पदेषु योज्यम् ॥ २५ ॥

आत्मीयेनैव दोषेणोपहतो भवति ॥ २८ ॥ सर्वेषामपायाना स्थानस्य द्यूतादिसर्वव्यसनराजमार्गस्य सर्वसंच-रणपथस्य ग्रासीभूतः क्षणमपि स्तोककालमपि आस्ता प्रभूतकाल दुःखादन्यत् सुखमुपगच्छेदिति प्रतीतिः ॥ २९ ॥ भवे नरकादौ संसरणं तत्र दुर्गमार्गो विषमाध्वा तस्य प्रणेतारो नायका आदेशका एते कषायाः कारणभूतत्वात् ॥ ३० ॥ ममकाराहंकारयो रागद्वेषावपरपर्यायः पदद्वयस्यपर्याये बलमान्तरम् ॥ ३१ ॥ द्वन्द्व युगलं, समासः संक्षेपः ॥ ३२ ॥ मिथ्यादर्शनं तत्त्वाश्रद्धानलक्षणं, प्रमादो मद्यादिः, योगाः सत्यादयः, तन्मिथ्यात्वाविरतिप्रमादादि

युतौ रागद्वेषौ ॥ ३३ ॥ मूलप्रकृतिसम्बन्धी. ॥ ३४ ॥ तस्याः प्रकृतेर्बन्धोदययोर्विशेषोऽविनाशेनावस्थितिःस्थितिः अनुभागो रसः प्रदेशो दलसंचयः ॥ ३६ ॥ तेषु बन्धभेदेषु चतुर्षु प्रदेशबन्धो योगान्मनोवाक्कायव्यापारात् तस्य प्रदेशबन्धस्य कर्मणः ॥ ३७ ॥ वर्णकानां बन्धो दृढीकरण तस्मिन् श्लेष इव ॥ ३८ ॥ न गतिर्भग्नगतिमूलं बीजं यस्या इन्द्रियविषया निवृत्तिः ॥ ३९ ॥ दुःखकारण कर्म तया तया आदत्ते ॥ ४० ॥ कलास्त्यस्मिन्निति कलं ग्रामरागरीत्या युक्तं, रिमित घोलनासार, योषिद्विभूषण नूपुरादि, श्रोत्रेन्द्रियेऽवबद्ध हृदय येन ॥ ४१ ॥ सविकारा गतिः नयनोत्थ निरीक्षितं देहसन्निवेशः प्रेरितः ॥ ४२ ॥ स्नानमङ्गप्रक्षालनं चूर्ण वर्तिर्गात्रानुलेपिनी वर्तीनां समूहो वार्तिकं चन्दनादिभिः स्नानादिभिर्गन्धैर्भ्रमितमाक्षिप्तं मनोऽस्येति सः ॥ ४३ ॥ खण्डशर्करादिः स एव विषयो रसनायास्तस्मिन्नासक्त आत्मा यस्य । गलो लोहमयोऽङ्कुशो यत्र जाल पाशो वालादिमयः तित्तिरादिग्रहण-हेतुस्तैर्बद्धो वशीकृत. ॥ ४४ ॥ आसनं मसूरकादि, सबाधनं विश्रामणा, सुरतं मैथुनासेवा, अनुलेपन कुंकुमादि, प्रियाय श्लेषनादिः मोहितमतिः ॥ ४५ ॥ स्पर्श' शिष्टा विवेकिनः परलोकपथनिपुणास्तेषामिष्टाः दृष्टिचेष्टाः । दृष्टिः सन्मार्गोपदेशनं चेष्टाः क्रियाः दोषेष्वनियमं ग्राहितानीन्द्रियाणि ये. ॥ ४६ ॥ इन्द्रिययोग्यो विषयो भावः । येनाक्षाणीन्द्रियाणि तृप्तिं प्राप्नुवन्ति अनेकस्मिन्मार्गे प्रकर्षेण लीनानि ॥ ४८ ॥ विषयो रूपादिःपरिणामवशात् मृतकलेवरादिवशादशुभः स्यात् कचवरादिः अशुभोऽपि वर्य स्याद्धूपनादिना ॥ ४९ ॥ कारणवशेन निमित्त सामर्थ्येन यत् यत् प्रयोजनमर्थो जायते, यथा येन प्रकारेण स्यात्तथा तेनैव प्रकारेण तमर्थं शुभमशुभं चिन्तयति, यथा शत्रुघ्नं विष पितृघ्नं च ॥ ५० ॥

शब्दादिः स्वरोचनेन परितोषमाधत्ते, स्वमत्या विकल्पो द्विषादिपरिणामजनितविकल्पनं तत्राभिरता आसक्ताः ॥ ५१ ॥ कदाचिद्द्वेषवशतः समुत्पन्नरागस्य कदाचिद्रागवशात् निश्चयतः परमार्थतस्तद्रागद्वेषकारणमेव ॥ ५२ ॥ रागद्वेषकृतप्रतिघातस्य ॥ ५३ ॥ इन्द्रियव्यापारे शब्दादिप्रवर्तने भव्यमभव्यं वा करोति परिणाम रागयुतः द्वेषयुतः स आत्मनो भावः कर्मबन्धस्य .तस्य तस्य निमित्तं आत्मनो जीवस्य भवति ॥ ५४ ॥ मोहोऽज्ञान, तत्त्वार्थाश्रद्धान मिथ्यात्वं, आश्रवेभ्योऽनिवृत्तिरविरतिः रागादिभिर्विकथादिप्रमादमनःप्रभृतियोगयुतैः ॥ ५६ ॥ एतेषा दोषाणा सचयस्य जालमिव जाल दु.खहेतुत्वात् आमूलादुद्धर्तुमप्रमत्तेन शक्यम् ॥ ५८ ॥ रागद्वेषादिजालस्य मूलकारणं जीवस्येति शेषः ॥ ५९ ॥ नवकोटयो ३ हनन ३ पचन ३ क्रयणानां स्वयं करणकारणानुमतिभिः त्रिरू-पास्ताभिरुद्गमादिभिश्च शुद्ध यदुञ्छमात्र भैक्ष्य तेन यात्राधिकारात् संयमयात्रा तया निर्वाहो यस्य शुद्धतमा-हारोपधिपात्रग्रहणतत्परस्येति भावार्थ. ॥ ६० ॥ सर्वज्ञभाषितजीवादिपदार्थपरमार्थस्वरूपभावनाशीलस्य जीवाजीवाधार भूतलोकावगतस्वरूपस्य वक्ष्यमाणाष्टादशसहस्रशीलाङ्गधारणकृतप्रतिज्ञस्य ॥ ६१ ॥ दर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमेन दर्शनशुद्धिरूपमनुप्राप्तस्य धर्माध्यवसाये अध्यवसायस्य अन्योन्य स्वदर्शनपरदर्शनापेक्षयोत्तरोत्तरविशेष पश्यतो जिना-गमे ॥ ६२ ॥ प्रस्तस्य स्वहितार्थे आत्मपथ्यमोक्षप्रयोजने आभिमुख्येन रता बद्धा प्रीतिर्मतिर्यस्य ॥ ६३ ॥ अनन्तसख्याया. सूचका भवकोटयः ॥ ६४ ॥ समुदया धनधान्यादिनिचयाः । धर्मे क्षान्त्यादिके तदारोग्यादि लब्ध्वा प्राप्य हितकार्ये शास्त्राध्ययनादौ ॥ ६५ ॥ शास्त्रमिह लौकिकं । अथवा शास्त्रणामागमो गमन तल्लाभ-मिच्छता ॥ ६६ ॥ कुलमुग्रादि, वचन माधुर्यादिगुणमत्, शेषाणि प्रतीतानि, छंपञ्छन्द. प्रत्येक योज्यते ॥ ६७ ॥ आगमभतमूलनिर्णय प्रति निकषः कषपट्टसमान. परीक्षास्थानमित्यर्थः ।,वि विशेषेण नीत. प्राप्तो विनयो येन स तथा ॥ ६८ ॥ हितकाङ्क्षिणा मोक्षाभिलाषिणा शिष्येण ॥ ६९ ॥ अपथ्यसमाचरणं तदेव घर्मस्तदपनोदकर्ता गुरुमुख-मलयाचलोद्भवचन्दनरसस्पर्शः ॥ ७० ॥ शुश्रूषा श्रोतुमिच्छा यदाचार्य उपदिशति तत्सम्यक् शृणोति क्रिययोपयोग च नयति ॥ ७२ ॥ तपसोऽनशनादेर्बल सामर्थ्य सवरफलं निर्जरा कर्मपरिशाटि. ॥ ७३ ॥ योगनिरोध. शैलेशीप्राप्तिरूपः अतो विनयएव कार्यः ॥ ७४ ॥

विनयाद्यपेत विगतं मनो येषा ते । त्रुटिमात्रमणुमात्रप्राय विषयः शब्दादिस्तत्संगादजरामरवत् सिद्धवन्निरुद्विग्ना निर्भयाः ॥ ऐहिकसुखमानिनः रसलाम्पट्यं सातं सुख ऋद्धिविभवो रसा मधुरत्वादयः, एतेषु गौरव रसलाम्पट्यं तस्माद्धेतोर्वर्तमानसुखदर्शिनः अतीवानुकूलविषयोपभोगपराः ॥ ७६ ॥ जात्या अवितथा हेतवो दृष्टान्ताश्चरितकल्पितोदाहरणानि तैः प्रसिद्धं, अजरमपरापरप्रदानेऽप्यक्षीण उपनीत दीयमानं तेनैव बहुमन्यते रसायनमपि अविरुद्ध नित्यानित्ययोरेकत्र वस्तुनि सहावस्थानेऽपि विरोधरहितत्वं न कस्यापि भय करोतीत्यभयकरं क्षुद्रोपद्रवनाशि ॥ ७७ ॥ प्रकुपितपित्तधातुत्वाद्विपरीतबुद्धिस्तस्य क्षीर कटुक भवति ॥ ७८ ॥ यदपि सुदुःसहपरिषहेन्द्रियनिरोधसमवत्सतापादादौ कटुकं तथापि निश्चय पर्यन्तकाले मधुरमनेककल्याणयोगाद्रमणीयं भव्यसत्त्वानुग्रहाय गणधरादिभिरभिहित पथ्यं हित । उद्वृत्ताः स्वच्छन्दचारिणः ॥ ७९ ॥ जातिर्मातृन्वयः, कुल पितृसमुद्भव, रूपं प्रतीतं, बल शारीरः प्राणः, लाभः प्रार्थितार्थप्राप्तिः, बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिः, वाल्लभ्यकं प्रियत्व, श्रुतमागमः क्लीबा असत्त्वाः ॥ ८० ॥ भवभ्रमणे ज्ञात्वा को नाम विद्वान् जातिमदमालम्बेत् ॥ ८१ ॥ अनेकान् जातिविशेषान् जन्मोत्पादान् इन्द्रियनिर्वृत्तिरिन्द्रियनिष्पत्तिः पूर्वकारण येषाम् ॥ ८२ ॥ शीलमाचारः, शेषाणि प्रतीतानि, ननु नियमेनैव ॥ ८३ ॥ रूपबलश्रुतबुद्धिविभवादयो गुणास्तैरलङ्कृतस्य सुशीलस्य कुलमदेन प्रयोजनं कार्यं न विद्यते ॥ ८४ ॥ चयो वृद्धिरपचयो हानिस्तौ यस्य । रोगजरापाश्रयिणो रोगजराधारस्य एवं शुक्रादिसपर्कनिष्पन्ने देहे कों मदावकाशोऽस्ति ? अपि तु नास्त्येव ॥ ८५ ॥ सर्वदा सस्कर्तव्ये चर्मण्यस्तृताऽन्तता स्थगिते । कलुषं मूत्रपुरीषरुधिरमेदोमज्जस्नायुप्रभृति तेन व्याते । निश्चयेन विनाशधर्मो यस्यास्ति ॥ ८६ ॥ अतितीव्रज्वरशूलविसूचिकादिवेदनार्त्तः सन् तरुणबलोऽपि क्षणेन विगतबलत्वमुपैति । सुसंस्कारात्प्रणीताहाराभ्यवहाराद्रसायनदेवताराधनसामर्थ्याद्वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाद्वेति ॥ ८७ ॥ अनियतो भावः सत्ता यस्य कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवति विज्ञाय मरणबले प्राप्ते शरीरबलं द्रविणबलं च न क्रमते प्रतिक्रियायै ॥ ८८ ॥ क्षयोपशमाल्लाभो भवति, लाभान्तरायकर्मोदयाच्च न लभते किंचित्, नित्यानित्यौ दीनतागर्वौ ॥ ८९ ॥ परो दाता गृहस्थादिस्तस्य दानान्तरायक्षयोपशमोत्था शक्तिः स्वशक्त्यनुरूपं ददाति । दातुर्यदि चेतःप्रसन्नता भवति, साधु प्रति गुणानुरागः उपयोगः वस्त्राहारादिना ॥ ९० ॥ ग्रहणं बहूनामपि पृथक् पृथग्वदतामपि पृथक् पृथक् शब्दोपलब्धिः, उद्ग्राहणं सस्कृतगद्यपद्यशब्दार्थाभिधानं, परस्मै इति शेषः, नवकृतयोऽभिनवं स्वयमेवप्रकरणाध्ययनादिकं करोति, विचारणा सूक्ष्मेषु पदार्थेष्वात्मकर्मबन्धमोक्षादिषु युक्त्यनुसारिणीजिज्ञासादि, अर्थावधारणमाचार्यादिवचनविनिर्गतस्य शब्दार्थस्य सकृदेव ग्रहणं, न द्वित्रिवारोच्चारणादिप्रयासः, आदिशब्दाद्धारणा परिगृह्यते । बुद्धेरङ्गानि शुश्रूषादीनि तेषा विधिर्विधान आगमेन प्रतिपादनं तस्य विधेर्विकल्पास्तेषु कियत्सु अनन्तैः पर्यायैर्वृद्धास्ते क्षयोपशमजनितबुद्धिविशेषाः परस्परम नन्तैः पर्यायैर्वृद्धाः सर्वद्रव्यविषयत्वान्मतिश्रुतयोरित्येव बुद्ध्यङ्गविकल्पेष्वनन्तभेदैर्वृद्धेषु सत्सु ॥ ९१ ॥ पूर्वपुरुषा गणधरप्रभृतयश्चतुर्दशपूर्वधरादयो यावदेकादशाङ्गविदवसानाः, सिंहा इव सिंहाः, परीषहकषायकुरङ्गप्रतिहननात् तेषां विज्ञानातिशयःविज्ञानप्रकर्षः स एव सागरः समुद्रो विस्तीर्णबहुत्वात्, अनन्तस्य भाव आनन्त्यं श्रुत्वा विभाव्य साम्प्रता वार्तमानिकाः ॥ ९२ ॥ कुत्सित प्रियं भाषणं चटुकर्म, उपकारो निमित्त यस्य चटुकर्मणः निमित्तं माता पितृसबन्धादिक कृत्वा ॥ ९३ ॥ परजनप्रसन्नताजनितेन तेन स्पृश्यते ॥ ९४ ॥ श्रुतपर्याया भेदा अनन्तगुणादयोऽसख्यभवपरिच्छेदाः उपर्युपरि पश्यतः सर्वे दरिद्रमिति विदित्वा विकरणं विक्रियां कृतशेषश्रुतदाननिषेधमिति शेषः वैक्रियसिंहरूपनिर्माण ॥ ९५ ॥ संपर्कश्च ससर्ग आचार्यादिबहुश्रुतैः सह उद्यमश्च प्रोत्साहः मूलगुणा उत्तरगुणास्तेषा निष्पादक श्रुतज्ञान लब्ध्वा ॥ ९६ ॥ "ज्ञान मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः । अमृतं यस्य विषायति तस्य चिकित्सा कथं क्रियते" ॥ ९७ ॥ जात्यादिमदमत्तः शुचिपिशाचाभिधानद्विज इव दुःखभाग्भवति ॥ ९८ ॥ जात्यादीना बीज (द्विबीज) विनाशोद्यतेन आत्मोत्कर्षः परदूषणोद्घोषणं च ॥ ९९ ॥ परतिरस्कारः, भवे भवे, कोटिरानन्त्यसूचकः ॥ १०० ॥

कर्मशब्देन गोत्रमेव तद्ग्रमेव योनिविशेषाश्चतुरशीतिलक्षाः तदन्तरैः कृतविभागम् ॥ १०१ ॥ देशादीनां समृद्धिपर्यन्तानां विषमतां विलोक्य भवसंसरणे ॥ १०२ ॥ अनादृतगुणदोष एवंविधो जीवः पञ्चेन्द्रियाणां निजनिजविषयगाद्धर्यं तेन विवशो गतशुभपरिणामः रागद्वेषोदयनिर्यन्त्रितः ॥ १०३ ॥ घटितव्यं चेष्टितव्यम् ॥ १०४ ॥ तत्कथं चेष्टितव्यमित्याह—अनिष्टविषयाभिकाङ्क्षिणा भोगिना भोगासक्तेन सह वियोगो विषयाणां कथं स्यात् । वै इति प्रश्ने । आगमोऽभ्यसनीयः । अतिगाढं व्यग्रहृदयेनापि यथावद्विजायैतानपायबहुलानागमोऽभ्यसनीयः ॥ १०५ ॥ औत्सुक्यकारकाः प्रकटोल्बणस्नेहरागाः निरूपे प्रान्ते बीभत्सादिभिर्बहुलाः ॥ १०६ ॥ दुःखान्ताः ॥ १०७ ॥ शाकोऽष्टादशो यत्र तीमन मोदकाम्लकरसादि परिणतिसमये ॥ १०८ ॥ उपचारश्चाटुकर्मविनयप्रतिपत्तिः शयनादिः संभूपविंडितरम्यकानि रतिकराणि अविच्छेदकारिणः ॥ १०९ ॥ देवनारकाणां नियतकालं, अनियतकालं मनुष्यतिरश्चाम् ॥ ११० ॥ इष्टपरिणामाः सन्तोऽनिष्टपरिणामाः, अनिष्टपरिणामाः सन्तोऽभीष्टपरिणामाः । आलोचनीयः सर्वक्षेत्रावस्थाभावित्वात् । एवं चानवस्थितपरिणामविषयविरतौ अनुग्रहो गुणयोगतः, उपलक्षणत्वाद्बहुगुणः, चित्तप्रसन्नता ॥ १११ ॥ इत्थं गुणान् दोषरूपेण दोषांश्च गुणरूपेण यः पश्यति गुणदोषविपरीतोऽलब्धि प्रथमांग विलोक्य परिरक्ष्यः ॥ ११२ ॥ विधिना विशेयः ॥ ११३ ॥ शस्त्रपरिज्ञा नाम आद्याध्ययनार्थं सङ्क्षेपेणाह—मातापित्रादिः गौरवाणां ऋध्द्यादीनां षड्जीवकाययतना प्रथमेऽध्ययने गौरवः त्यागो द्वितीये द्वाविंशतिपरिषहविजयस्तृतीये दृढसम्यक्त्वं चतुर्थे ॥ ११४ ॥ संसारोद्वेगः पञ्चमे, कर्मनिर्जरोपायः षष्ठे, वैयावृत्त्योद्यमः सप्तमे, तपोविधिरष्टमे, योषितां त्यागः स्त्रीपरिहारो नवमे ॥ ११५ ॥ अंबरं वस्त्रं, भाजनं पात्रकादि तयोरेषणा तथावग्रहा देवेन्द्रादेः एते कीदृशाः शुद्धाः शुद्धिमन्तः ॥ ११६ ॥ स्थानं कायोत्सर्गरूपं, निषद्या स्वाध्यायभूमिः, त्यागः शब्दरूपयोरत्यागः क्रियाशब्दः सर्वत्र परक्रियानिषेधः, प्रयत्नतस्तपस्यतो निःप्रतिकर्मणः परो यदुपकरोति संस्करोति तदयुक्तं, अन्योऽन्यक्रिया सापि निष्प्रतिकर्मवपुषो न युज्यते ॥ ११७ ॥ साध्वाचारः पूर्वोक्ताध्ययनकथितस्वरूपः खलु निश्चयेन अयं प्रत्यक्षः ॥ ११८ ॥ भावना वासनाभ्यासः षड्जीवनिकाययतनादिका तदाचरणेन च गुप्तहृदयस्य च मूलोत्तरगुणैर्गुप्तमनस्कतदनुष्ठानव्यग्रस्य । किं भवतीत्याह—न तदस्ति कालविवरं यत्र कालच्छिद्रेऽभिभूयते प्रमादकषायविकथादिभिः ॥ ११९ ॥ स्वल्पकालेनैव विपरिणामधर्माः कुत्सितपरिणामधर्मा अन्यथाभवनस्वभावाः, मर्त्या मरणधर्मिणो मनुष्यास्तेषां ऋद्धिसमुदया धनधान्यहिरण्यस्वर्णादिविभूतिसमूहा अनित्याः संयोगाः पुत्रपत्नीप्रभृतिसंबन्धाः विप्रयोगावसानाः शोकोत्पादका भवन्ति, ततो न किंचिद्विषयाभिलाषेण ॥ १२१ ॥ भोगजनितसुखैः क्षणविनश्वरैः प्रभूतभीतिभृतैः कांक्षितैरभिलषितैः शब्दादिविषयाधीनैः किं ? न किंचित्प्रयोजनमेभिः । तस्मात्तेष्वभिलाषमपहाय नित्यमात्यन्तिकं, अभयमविद्यमानभीतिकं, आत्मस्थं स्वायत्तं प्रशमसुखं मध्यस्थस्यारक्तद्विष्टस्योपशान्तकषायस्य यच्छर्म तदेवविधं तत्रोद्यतो भव ॥ १२२ ॥ इन्द्रियग्रामस्य शब्दादिविषयस्य लब्धुमिच्छतः प्रिये कर्तव्ये यावत्प्रयासः क्रियते तावत्तस्यैवाक्षसमूहस्य निग्रहे वरतरं बहुगुणं ऋजुचित्तेन उद्यमः कृतः ॥ १२३ ॥ सरागेण मोहयुक्तेन विषयाभिलाषतः प्राप्य सुखं तस्मादनन्तकोटिगुणितं मूल्यं विनाऽनायासेन वीतरागः प्रशमसुखमाप्नोति ॥ १२४ ॥ इष्टस्या (ष्टा) वियोगकांक्षानिष्टविप्रयोगकांक्षोत्पन्नं दुःखं सरागः प्राप्नोति, न वीतरागः ॥ १२५ ॥

एतेषु हास्यादि भेदेषु निभृतः स्वस्थस्तस्य यत्सुखं, तद्रागिणा कुतः ॥ १२६ ॥ एवगुणयुक्तोऽपि केवलमनुपशान्तोऽशमितविषयकषायः तं गुणं निरुत्सुकत्वं रत्नत्रय्युपचयरूपं नाप्नोति ॥ १२७ ॥ १ ना पुरुषः चक्रवर्तिवासुदेवादिस्तस्य महेन्द्रस्य च तादृशं सुखं नास्ति यादृशं प्रशमस्थितस्य ॥ १२८ ॥ स्वजनपरजनविषयां चिन्तां दारिद्र्यधनाढ्यदौर्भाग्यसौभाग्यादिरूपां विहाय । आत्मपरिज्ञानमनादौ संसारे परिभ्रमन्नयमात्मा सुखदुःखान्यनुभवन्नपि न तृप्तः, सोऽधुना कथमेभिस्तृप्तो भवेत्तदधुना यथा संसारे बहुसंकटेऽयं न भ्रमति तथा प्रयत्नो मया कार्य इत्यात्मज्ञानचिन्तनं एषाभिरतः परकार्यविमुखो जितमदनादिसर्वदोषः सुखमास्ते स्वस्थ उपद्रवरहितस्तिष्ठति । निर्जरः निर्गताऽपेता जरा हानिः सा च प्रस्तावात्प्रशमामृतस्य यस्यासौ निर्जरः ॥ १२९ ॥ १ निर्जर इति वा कृषिवाणिज्यादिचिन्तनं

लोकवार्ता धर्मनिर्वाहपृच्छा शरीरनिर्वाहचिन्तनं शोभनक्षान्त्यादिसद्धर्मचरणवार्तार्थः एतद्द्वयममीष्टं लोकवार्ता-तच्छरीरवार्तायाः कारणम् ॥ १३० ॥ आधार आश्रयो वर्तते इति शेषः धर्मचारिणा संयमिना लोके जातमृतसूतक-निराकृतगृहगमनादि मधुमांसादि च धर्मविरुद्धम् ॥ १३१ ॥ देहः शरीर नैव अन्नपानवसनादिभिर्विना यापयितुं शक्यः तान्यन्नपानवसनादिसाधनानि सद्धर्मस्य क्षमादेरविरोधाद्धर्मविरुद्धत्यागेनानुवर्तनीयः ॥ १३२ ॥ दोषेणानुग-कारी भवति प्रत्युतापकारेण प्रवर्तने परो लोकः क्रुध्यति आत्मना ॥ १३३ ॥ पिंडैषणाध्ययनभणितो निश्चयेन कल्प्यो ग्राह्योऽकल्प्यः परिहार्यः आगमे आदानासेवनयोर्नियतवृत्तेः तेन विधिगृहीताहारेण ॥ १३४ ॥ व्रणे गंडे लेपः अक्षस्य धुरा सैवोपांग अभ्यवहरेदित्यत्रापि योज्यमसंगा मनोवाक्कायेष्वसंगाः साधवस्तेषां योग्य: क्रियानुष्ठानं तेषा भरः संघातः, स एव तन्मात्रं, तस्य यात्रा निर्वाहस्तदर्थं धर्मानुष्ठाननिर्वाहार्थमित्यर्थः। पन्नगो यथा चर्वणवर्जितमेव गिलति एव साधुरपि चिलातिपुत्रमारितधनश्रेष्ठिसुतामांसास्वादकपितृपुत्रादिवद्वा, यथा तैः शरीरस्य धारणार्थमेव तत्कृत तथा साधुरपि ॥ १३५ ॥ विशिष्टरसास्वाद अगृद्धचित्तेन साधुनेति प्रक्रमः तद्विपरीतमविद्यमानास्वादमपि द्वेषरहितेन वृको यथा सरसं विरस वा न विलोकयति, तद्वत्साधुनापि दारुप-मधृतिना दारुतुल्यसमाधिना आस्वाद्य वस्तु स्वाद्यं क्रिया ॥ १३६ ॥ कालमुष्णकालादि स्निग्धेतरादि च क्षेत्र सुभिक्षादिकं च । मात्रामल्पादिरूप सात्म्यं यद्यस्योपभुक्तं परिणतिमेति द्रव्याणा घृतगुडादीनां गुरुत्व लघुत्व। यद्वा येन द्रव्येणोपभुक्तेन गुणाना गौरवं शेषाणा लाघव चात्मनः स्यात् । भोज्य वस्तु ॥ १३७ ॥ अन्यदौपग्रहिकं दंडकादि उत्सर्गतः कल्प्यं कल्पनीयं, अपवादतो गाढालम्बनेन अकल्प्यमपि ग्राह्यं लघुतरदोषासेवनं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तं कारणं तेनोक्तम् ॥ १३८ ॥ कल्प्याकल्प्यशुद्धाशुद्धविधिज्ञः, संविग्ना ज्ञानक्रियायुक्ताः सहाया यस्य स्वभावविनीतः दूषणदूषितेऽपि रागादिरहितः ॥ १३९ ॥ धर्मोपकरणेन वस्त्रपात्रादिना धृत वपुरस्य अलेपको लोभेन न स्पृश्यते ॥ १४० ॥ अकृतगार्ध्यः धर्मोपकरणयुक्तोऽपि न स्नेहमुपगच्छति निर्ग्रंथो वक्ष्यमाणपरिग्रहरहित इति ॥ १४१ ॥ ग्रन्थोऽष्टविधं कर्म सम्यक्त्वाद्विपरीत प्राणातिपातादिभ्योऽनिवृत्तिः अशुभमनोवाक्कायाः अशठ मायारहित सम्यगुपगच्छति ॥ १४२ ॥ सव्यंजनमुपष्टम्भ वा व्यवहारे व्यापाररूपे, ज्ञानादीनामनुग्रहकारि, दोषाणा निग्रहकारि, यद्वस्तु तन्निश्चये कल्पनीय, नावशिष्टम् ॥ १४३ ॥ यद्वस्तु अन्नपानादि, दर्शनज्ञानाचाराहोरात्रा-भ्यन्तरानुष्ठेयव्यापाराणा विनाशकारि, यच्च प्रवचनकुत्साकारि मद्यमांसकन्दमूलाभोज्यगृहभिक्षाग्रहणादि तत्सर्वं कल्प्यमप्यकल्प्यम् ॥ १४४ ॥ कल्प्याकल्प्यत्वं शुद्धवस्तुष्वप्यनियतं, पुरुषाद्यपेक्षयेति शेषः, यथा विकारभाजा शुद्धमपि क्षीरादि निषिध्यते. नेतरेषा, नीरुजा भेषजं तदन्येषां कल्प्यतेऽशुद्धमपि ॥ १४५ ॥ देशोऽसाधुपरिचितक्षेत्रं, कालो दुर्भिक्षादिः, पुरुषः प्रव्रजितराजादिः, अवस्था मान्द्यादिका, एतेषामर्थेऽकल्प्यमपि कल्प्यं, उपयोगशुद्धि-परिणामान् नैवैकान्तेन कल्प्यते कल्प्यं नैवैकान्तेन न कल्प्यतेऽकल्प्यम् ॥ १४६ ॥ यतिना साधुना तदेव चिन्तनीयं भाषणीयं कायेन कर्तव्यं, यदात्मनः परेषा उभयेषां बाधक न भवति. अतीतादिसर्वकाले ॥ १४७ ॥ सर्वेषु शब्दादिसर्वेन्द्रियार्थेषु श्रोत्रादीन्द्रियगणस्य गोचरता प्राप्तेषु वैराग्यमार्गः सज्ज्ञानक्रियासेवन तस्मिन्नन्तरायका-रिषु परिसंख्यानमित्वरत्वनिःसारत्वाहितकारित्वपरिज्ञानं कार्यं ध्येयम्। केन पर कामार्थधर्मेषु प्रधानं नियतं शाश्वतं कार्यं मोक्षप्राप्तिलक्षणमिच्छताऽभिलाषिणा ॥ १४८ ॥ भावयितव्यमहर्निशं चिन्तनीयमभ्यसनीयं किं तदनित्यत्व, संसारे सर्वस्थानानामशाश्वतत्व । अशरणत्व जन्मजरामरणाभिभूतस्य नास्ति किंचिच्छरणं । एकत्वमेक एवाहं । अन्यत्वं स्वजनधनदेहादिभ्योऽन्य एवाह । अशुचित्वमाद्युत्तरकारणाशुचितामयस्य शरीरस्याशुचिभावादशुचित्वं । संसार इति माता भूत्वा भगिनीत्यादिभवभावना । आश्रवद्वाराणि विवृतानि कर्माश्रवः । आश्रवद्वारपिधानं संवरः ॥ १४९ ॥ कर्मणां क्षपणोपायो निर्जरण, लोकायामादिलोकविस्तरः शोभनोऽय धर्मस्तत्त्वतः परमार्थतश्चिन्ता धर्म-स्वाख्याततत्त्वचिन्ताः बोधेः सुदुर्लभत्व चेति प्रकटम् ॥ १५० ॥

इष्टजनसम्प्रयोगश्च ऋद्धिसंपच्च विषयसुखसंपच्च सपच्छब्दः प्रत्येकं योज्यः ॥ १५१ ॥ अभिद्रुतेऽभिभूते ॥ १५२ ॥ आकालिकहितं सदा भाविशुभाचरणं, एकेनैवात्मनाऽसहायेन स्वस्यार्थे ॥ १५३ ॥ स्वजनात् पित्रादेः, परिजनाद्दासादेः, विभवात्कनकादेः, शरीराद्देहाच्च, तेभ्यो भिन्नोऽहं, पृथक्कर्मणि यस्य नियता नक्तंदिनमालोचिका, हिर्यस्मात्, शोककलिः कलिकालस्वरूपम् ॥ १५४ ॥ कर्पूरादीना वपुःसंपर्कादशुचिकरणसामर्थ्यात् । शुक्रशोणिताद्याद्यकारणानामन्नपानाद्युत्तरकारणानामशुचित्वात् ॥ १५५ ॥ संसारभावनामाह—दुहिता सुता ॥ १५६ ॥ स सम्यग्दृष्टिरपि न विरतः प्राणातिपातात् सोऽपि, प्रमादवान् । मनोदंडाः ४ वाग्दंडाः ४ कायदंडाः ४ । तदेव पञ्चदशप्रकारदंडरुचिः ततश्चायमर्थः प्रमादवान् यो जीवस्तस्य यथैते भेदा बहवस्तथाश्रवकर्माणि आश्रवस्थानानि भवन्तीति । आश्रवविधिरुक्तस्तस्मिन्नाश्रवकर्मणि विषये तेषां भेदानां निग्रहे यतेत ॥ १५७ ॥ अनुपादाने वृत्तिर्व्यापारः । पाठान्तरे गुप्तिर्गोपनं । आत्मन्यारोपितहितः । वरदैस्तीर्थकरादिभिः ॥ १५८ ॥ विशोषणाल्लंघनात् । उपचितोऽपि पुष्टोऽपि । दोषोऽजीर्णात्मकः । तत्कर्मोपचितं बन्धादिभिः निरुद्धाश्रवद्वारो जीवः संवृत. ॥ १५९ ॥ सर्वत्र यत्र न जातं न मृतं मयेति । परमाणुप्रभृतीन्यनन्तानन्तस्कन्धपर्यवसानानि द्रव्याणि । तेषां मनोवाक्कायादिभिरुपयोगाः । न च तैस्तृप्त इति चिन्तयेत् ॥ १६० ॥ सुष्ठु निर्दोष. ख्यातः क्षमादिलक्षणधर्मे सुखपरम्परया ॥ १६१ ॥ कल्पता नीरोगता । आयुर्दीर्घायुष्क । श्रद्धा धर्मजिज्ञासा । कथकश्चाचार्यः । श्रवणं प्वाकर्णनं । एतेषु नवसु उत्तरोत्तरदुर्लभेषु सत्स्वपि । बोधिः सद्धर्मस्याख्याता । सम्यग्दर्शन सम्यग्लाभो भवति ॥ १६२ ॥ अवाप्य अज्ञानात् रागात् पत्नीपुत्राद्यासक्तेः कापथविलोकनात् कुपथदर्शनात् एकैकनयानुसारिजिनप्रणीतागमवचनैकदेशस्वयुक्तिनिरपेक्षविचारणाद्बहवो निह्नवा जज्ञिरे गौरववशात् ॥ १६३ ॥ रागप्रहाणमार्गो दुःखेनाधिगम्यः इन्द्रियादिसंपत्नः वैरिविह्वलेन विरागमार्गप्राप्तौ विजयस्तेन प्राप्तो भवति, येन सर्वविरतिरवाप्नोति ॥ १६४ ॥ गणशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नेतारः तान् कषायान् पूर्वं हत सैन्यमनायकमिति न्यायात् ॥ १६५ ॥ संचिन्त्यालोच्य उदयनिमित्त प्रादुर्भावकारण उपशान्तेर्हेतुः कारणं च कषायाणामुदयनिमित्त परिहार्यमुपशान्तिहेतुरासेवनीयः, कथं त्रिकरणशुद्धं कायवाङ्मनोनिर्दोषं, अपिरभ्युच्चये ॥ इति भावनाधिकारः ॥ १६६ ॥ शौचं संयमं प्रति निर्लेपता अदत्तादानापरिग्रहो वा । चः समुच्चये । संयमः सप्तदशभेद' । त्यागो द्रव्यभावग्रन्थत्यजनम् ॥ १६७ ॥ क्षमाप्रधानः ॥ १६८ ॥ गुर्वभ्युत्थानाद्यधीना गुणा ज्ञानादय. । यस्मिन् पुरुषे ॥ १६९ ॥ यथाचेष्टितं तथाख्याति । तस्य च शुद्धिर्नास्ति ॥ १७० ॥ द्रव्य सचेतनादि शैक्षादि सचेतनादि—"अट्ठारस पुरिसेसु वीस इत्थीसु दस नपुंसेसु । पव्वावणाअणरिहा अणहा पुण इत्थिआ चेव त्ति (अहवा विगलंगरूवाइति) ॥ १ ॥" उपकरोति ज्ञानादीनां तदप्युद्गमादिशुद्ध शुचि । तथा भक्तपानादि तदुद्गमादिदोषरहित शुचि । अन्यदशुचि । देहशुचि पुरीषाद्युत्सर्गपूर्वकं निर्लेप निर्गन्ध देहमविकृत्य प्रवृत्त । भावशौच निर्लोभमनाविधायि कार्यं कर्तव्यम् ॥ १७१ ॥ १ स्त्रीनपुंसकं वाश्रित्यैष पुनर्निषेधस्तदत्यन्तप्रतिषेधाय । आश्रवा' प्राणातिपातादयः कर्मादानहेतवस्तेभ्यो विरतीकरण, पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि तेषां निरोध' । कषायाः क्रोधादयश्चत्वारस्तेषामुदयनिरोध' । दंडा मनोवाक्कायाख्याः, अभिद्रोहाभिमानेर्ष्यादिकरण मनोदंडः, हिंस्रपुरुषानृतादिभाषणं वाग्दंडः, धावनवल्गनप्लवनादिरूपः कायदंड. । एभ्यो निवृत्तिरेव संयमः । सप्तदश भेदा भवन्ति ॥ १७२ ॥ बान्धवा' स्वजनाः, धन हिरण्यादि, पञ्चेन्द्रियविषयसुख, एतेषां त्यागात् । भयमिहलोकादि सप्तविध, विग्रह. शरीर प्रतिकर्मणा त्यागात्साधुर्मुनि त्यक्तात्मा परिहृतासंयमपरिणाम अष्टविधग्रन्थविजयप्रवृत्त. परिहृताभिमानममत्वभावोऽरक्तद्विष्टस्त्यागी ॥ १७३ ॥ न विसंवादनं यथादृष्टवस्तुभाषणं तेन योगः संबन्धः त्रिविधेन योगेन अजिह्मताऽकौटिल्यं, कायेनान्यवेषधारितया विप्रतारयति, मनसाऽसत्य प्रागालोच्य भाषते करोति वा, वचनेन सद्भूतनिह्नवासद्भूतोद्भावनं कटुकसावद्यादिभाषण । एतत्परिहाराच्चतुर्विध सत्य जिनेन्द्रवचने न त्वन्यत्र ॥१७४॥ अनशनं चतुर्थभक्तादि षण्मासान्त तपः । तथा भक्तप्रत्याख्यानेंगितमरणपादपोपगमनादि । ऊनोदरता द्वात्रिंशत्कवलेभ्यो यथाशक्ति यदाहारमूनयति । वृत्तिर्वर्तनं भिक्षा ,तस्याः संक्षेपणं दत्तिभिर्भिक्षाभिश्च परिमितग्रहणं । रसत्यागः

क्षीरदध्यादिविकृतीना यथाशक्तिपरिहारः। कायक्लेशः कायोत्सर्गोत्कटुकासनातापनादिः। संलीनः सिद्धान्तोपदेशेन इन्द्रियनोइन्द्रियमेदेन तद्भावस्तत्ता। इन्द्रियसंलीनः संहृतेन्द्रियव्यापारः कूर्मवत्। नोइन्द्रियसंलीनो निःकषायमार्तरौद्ररहित मनो धरन् परोपलक्ष्यं बाह्यं तपः प्रोक्तं जिनादिभिः ॥ १७५ ॥

प्रायश्चित्तमालोचनादिदशविधमतीचारमलप्रक्षालनार्थं। एकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानं। तत्रार्तरौद्रे व्युदसनीये, धर्म्यशुक्ले द्वे ध्यातव्ये। व्यापृतो भावो वैयावृत्त्यं आचार्यादीना दशाना भक्तपानवस्त्रादिभिरुपग्रहः शरीरशुश्रूषा चेति। विनीयते येनाष्टविध कर्म स विनयो ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारमेदात्। व्युत्सर्गोऽतिरिक्तोपकरणभक्तपानादेरुज्झनं। स्वाध्यायो वाचनादिः पञ्चविधः। अभ्यन्तरस्य मिथ्यादर्शनकषायादेराकरणात्तपोऽपि ॥ १७६ ॥ दिव्यं भवनेशव्यन्तरज्योतिष्कविमानवासिदेवीना संबन्धि तस्मात् मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिः विरतिर्नवभेदा, औदारिक मनुष्यतिर्यक्संबन्धि, तत्रापि मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च विरतिर्नवकं, तदेव ब्रह्माष्टादशभेदं भवति ॥ १७७ ॥ आत्मन्येव व्यापारोऽध्यात्म कथमयमात्मा बध्यते कथं वा मुच्यत इति तद्विदन्तीत्यध्यात्मविदस्ते मूर्छा गार्द्धयं निश्चयनयाभिप्रायेणात्मनः प्रतिविशिष्टपरिणामस्ता परिग्रहशब्दवाच्यतया कथयन्ति। यस्मादेवं तस्माद्वैराग्यमिच्छता आकिंचन्यं परो धर्मः न किंचिन्ममेति विगतमूर्छया स्थेयम् ॥ १७८ ॥ दशप्रकारक्षमादिधर्मस्यानुष्ठायिनस्तदासेविन' सदैवानवरतं शिवोपायसेविनः दृढाना वज्रमेदाना रूढाना चिरकालावस्थितिप्राप्तस्थैर्याणा घनानां बहलाना एवंविधानामपि ॥ १७९ ॥ माया लोभश्च मानः क्रोधश्च उद्धताः सावष्टंभाः प्रवला. प्रकृष्टसामर्थ्याः विनाशयति साधुरिति योगः ॥ १८० ॥ व्यतिकरः संपर्कः, विरक्तता पूर्वमहर्षिसमाचीर्णक्रियाकलापपरता, सद्भावा जीवादयः, एतानि धर्मस्थैर्यजनकानि ॥ १८१ ॥ आक्षिप्यन्ते धर्मे प्रत्यभिमुखाः प्राणिनो यया सा आक्षेपणी। विक्षिप्यन्ते परापरदैवादिदोषकथनेन प्रेर्यन्ते प्राणिनो यत्र सा विक्षेपणी। विमार्गा जैनमार्गादन्ये एकान्तमतावलम्बिनस्तेषां बाधने समर्था पदरचना यस्याः सा। श्रोता चासौ जनश्च तस्य श्रोत्रमनसोस्तयोः प्रसादजननी यथा जननी माता ॥ १८२ ॥ सम्यग्विवेच्यते नरकादिदुःखेभ्यो भय ग्राह्यते यया सा संवेजनी। निर्वेदं कामभोगेभ्यो यया सा एवमेताम् ॥ १८३ ॥ यावत्कालं, अध्यात्मचिन्तापन्नस्य, न तेनापि परदोषगुणकीर्तनव्यापारेण किंचित्प्रयोजन, तावत्कालं व्यग्रं व्यापृतम् ॥ १८४ ॥ आचारादिश्रुतपाठेऽपरेषां पाठने चाद्य मया किं कृतमित्यादि स्वात्मनि संचिन्तने ॥ १८५ ॥ शासु अनुशिष्टौ इति वाग्विधिविद्भिश्चतुर्दशपूर्वधरै.। विशेषेण नियतो निर्णीतः। देङ् त्रेङ् पालनार्थे। सर्वशब्दविदा संस्कृतप्राकृतादिशब्दविज्ञानाम् ॥ १८६ ॥ रागद्वेषव्याप्तचित्तान् शिक्षयति विपरीतमशुभ मा कुरु अनवरतं शुभमविपरीत कुरु इत्यादिना। तथा संत्रायते रक्षति सदाचारे। स्थितानिति शेष। कुतो नरकादिदुःखात् ॥ १८७ ॥ शासनस्य शिक्षणस्य सामर्थ्यं बलिष्ठतानेन संत्राणस्य पालनस्य बलेन च उभयेन सहित यत्तच्छास्त्रमुच्यते सिद्धान्तः ससारभावमनुवदता मोक्षं दर्शयता सर्वविदामेतद्वचनम् ॥ १८८ ॥ बन्धः कर्मोपादान, मोक्षः कर्माभावः ॥ १८९ ॥ एतानि विपरीपुस्तावज्जीवानाह—असंख्येयप्रदेशात्मकाः सकलोपयोगभाजः मुक्ताः सिद्धाः। संसारिणो भवस्था. लक्षणतश्चिह्नत एकेन्द्रियादयो ज्ञातव्या इति लक्षणतोऽसाधारणस्वरूपतः ॥ १९० ॥ एवमनेकप्रकाराणामेकैको विधिरेकैको मेदोऽनन्तकालवर्तित्वादनन्तपर्यायः, अनन्ता पर्याया धर्मा यस्य, अन्तर्मुहूर्तादारभ्यैकैकसमयवृद्ध्या यत्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावत् स्थितयः, अगुलासंख्येयभागादारभ्य यावत्समस्तलोकावगाह., ज्ञान वस्तुविशेषावबोधो दर्शन वस्तुसामान्यावबोध., पर्यायास्तारतम्यकृतविशेषाः ॥ १९३ ॥ उपयोगश्चेतनाज्ञानदर्शनव्यापार', साकारो विकल्परूपो ज्ञानोपयोगः, तद्विपरीतो दर्शनोपयोगः द्व्यष्टचतुर्भेद ॥ १९४ ॥ ज्ञान मत्यादि मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयोपरक्तस्वभावा अज्ञानता यान्ति ॥ १९५ ॥ औदयिक., स च जीवोपात्तकर्मणामुदयो देवनारकादिपर्यायकारी, पारिणामिको जीवभव्याभव्यत्वादिरूपस्त्रिकालतदतिरूप, उपशम. कर्मणा विपाकप्रदेशद्वयरूपोदयाभावस्तेन निर्वृत्त औपशमिकः सम्यक्त्वचारित्ररूपः, सम्यक्त्वज्ञानचारित्रादिरूपः क्षयोत्थः ॥ १९६ ॥ गतिर्नरकादि. ४। कषायाः क्रोधादयः ४। लिंगं स्त्रीपुंनपुंसकं ३। मिथ्यात्वं। अज्ञानं, असंयतत्वं, असिद्धत्व, लेश्या. ६, एते कर्मोदयादा

विर्भवन्ति । पारिणामिकौपशमिकौ पूर्वोक्तत्रिविधद्विविधौ भवतः, क्रमेण कर्मोदयनिरपेक्षसापेक्षौ च । कर्मक्षयाज्जातः क्षायिकः स नवविधः सम्यक्त्वचारित्रकेवलज्ञानकेवलदर्शनदानादिपञ्चलब्धिभेदतः । क्षायोपशमिकोऽष्टादशविधः, मत्यादिज्ञानचतुष्कमज्ञानत्रिकं चक्षुरादिदर्शनत्रिकं दानादिपञ्चलब्धयः सम्यक्त्वं चारित्रं देशविरतिश्चेति । षष्ठश्च सान्निपातिकः पूर्वोक्तभावना द्विकादिसंयोगजः स च पञ्चदशभेदो ग्राह्यः अन्य एकादशभेदरूपस्त्याज्यो विरोधित्वात् ॥ १९७ ॥ एभिरौदयिकादिभिर्भावैः, आत्मा जीवः, स्थानं, गतिः, इन्द्रियाणि, संपदः, सुखं, दुःखं, एतानि सम्प्राप्नोति । स्थीयते यत्र संसारे जघन्यादिस्थितिः स्थानमात्मनः स चात्मा समासेनाष्टविकल्पः ज्ञातव्यः ॥ १९८ ॥ द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा, वीर्यात्मा, मार्गणा परीक्षा चेति ॥ १९९ ॥ साम्प्रतमेषां स्वरूपं प्रतिपादयति—जीवानामेकाक्षादीनां सर्वेषां जीवत्वान्वयात्, अजीवानां धर्मास्तिकायादीनामजीवत्वान्वयवशात् द्रव्यात्मा स्यादिति १ । कषायाः सन्ति येषां ते कषायिणः समोहास्तेषां सकषायिणां कषायैः सहैकत्वापत्तेः कषायात्मा २ । योगा मनोवाक्कायव्यापारास्तदेकत्वपरिणत आत्मा स योगात्मा सयोगानां स्यात् ३ । उपयोगो ज्ञानदर्शनव्यापारो ज्ञेयविषयस्तत्परिणत उपयोगात्मा सर्वजीवानां न त्वजीवानाम् ४ ॥ २०० ॥

सम्यग्दर्शनसम्पन्नस्य तत्त्वार्थश्रद्धानभाजो यो ज्ञानपरिणामः स ज्ञानात्मा ५ । चक्षुरादिदर्शनपरिणतानां दर्शनात्मा सर्वजीवानां भवति ६ । प्राणातिपातादिपापस्थानेभ्यो विरतानां तदाकारपरिणतानां चारित्रात्मा ७ । वीर्यं शक्तिः प्रवर्तनं तद्भाजां सर्वेषां संसारिणां वीर्यात्मा ८ ॥ २०१ ॥ एतेऽष्टौ विकल्पाः प्रतिपादितास्तत्र द्रव्यात्मानमाशङ्कते—आत्मेति ज्ञानदर्शनस्वभावश्चेतनः प्रतीतः, सोऽजीवविषयपुद्गलादिषु कथमात्मशब्दप्रवृत्तिरित्यत्रोच्यते—उपचारो व्यवहारः स चाततीत्यात्मा भवति, व्युत्पत्तितः शब्दवाच्यः, सर्वद्रव्यविषयश्चैष न्याय इति नयविशेषेण सामान्यग्राहिणा नयेन, स्वरूपात् पररूपात् ॥ २०२ ॥ संयोगो रूपं अनेकेन भेदेन निर्देशः परीक्षणीयः, स्वतत्त्वं सहजं स्वरूपं, दृष्टमुपलब्धं, लक्षणैश्चिन्हैरनेकभेदं समस्तमात्मनः ॥ २०३ ॥ चित्तं चेयणसन्ना विन्नाणं धारणा य बुद्धि य । ईहा मई विभक्का जीवस्स उ लक्खणा एए ॥ १ ॥ उत्पत्तिविपत्तिस्थिरतालक्षणं यत्सर्वमपि तदस्ति अंगुलीवत् । एवं यन्नास्ति तदुत्पादादित्रयवन्न भवति खरशृङ्गवत् । अर्पितं विशेषितं जिनप्रवचनमुत्पन्नं । अनर्पितमविशेषितं प्राकृतजनप्रणीतं, अतीतं सप्तविकल्पवचनम् ॥ २०४ ॥ कुशूलाद्यवयवावस्थायां घटाद्यभावः । घटोऽयमुत्पन्न इति तेनाकारेण तस्य घटस्य ॥ २०५ ॥ चशब्दादतीते यस्य पदार्थस्य तेन पदार्थेन ॥ २०६ ॥ पञ्चाजीवद्रव्याणि रूपरसगन्धस्पर्शवन्ति ॥ २०७ ॥ न हि द्रव्यप्रदेशाः सन्ति, अन्ये च वर्णादयः, किं तु तमेव प्रदेशं वर्णादिपुद्गलाः सन्निहिताः स्युः ॥ २०८ ॥ अनादिपारिणामिकं पुद्गलद्रव्यं सर्वभावेषु औपशमिकादिषु वर्तन्ते ॥ २०९ ॥ विधृतपादस्थानस्थितो विधृतपादभ्राम्यमाणनराकार इति २१० तत्र लोके । अवाङ्मुखशरावाकारमधोलोकं ऊर्ध्वलोकं शरावसंपुटाकारम् ॥ २११ ॥ जम्बूद्वीपादिभेदेन वैमानिकदेवलोकाः १०, ग्रैवेयकाः ३, अनुत्तराः १, सिद्धिः १५ ॥ २१२ ॥ अवशेषं समस्तलोकासंख्येयभागादिकं । एको जीवः पृथिव्यादिको व्याप्नोति । वाशब्दात्समस्तलोकं । केवली समुद्घातगः केवली ॥ २१३ ॥ धर्मास्तिकायादयस्त्रयोऽप्यसंख्येयप्रदेशाः । जीवद्रव्यमनन्तसमयं कर्तृपर्यायशून्यानि ॥ २१४ ॥ गतिनिमित्तं स्थित्युपकारी ॥ २१५ ॥ सूक्ष्मता परिणामः स्कन्धानामेव तत्सद्भावेन ते इन्द्रियग्राह्याः साक्षात्, भेदो द्व्यादिस्कंधानां पृथग्भवनं । स्पर्शादयः पुद्गलद्रव्यस्योपकाराः । शब्दपरिणामः पुद्गलद्रव्याणामुपकारः कर्मपुद्गलानां बन्धः क्षीरनीरवत्, इन्द्रधनुरादिः ॥ २१६ ॥ विचेष्टितानि विविधव्यापारोत्क्षेपणाकुञ्चनादय उपग्रहः सौभाग्यादृष्यीकरणादिः जीवितदं क्षीरघृतादि मरणदं, विषास्त्रादि, संसारि जीवविषयाः ॥ २१७ ॥ परिणमनं परिणामः । यथा वर्धतेऽङ्कुरो हीयते वा इत्यादिकालजनित उपकारः । इदं वर्तते इदं न वर्तते वर्तनायाः, परत्वमपरत्वं कालकृतं । पञ्चाशद्वर्षात्पञ्चविंशतिवर्षोऽपरः, पञ्चवर्षाद्दशवर्षः परः । शिक्षा लिप्यादिग्रहणासेवनादिर्वा ॥ २१८ ॥ द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुण्यं, द्व्यशीतिः पापम् ॥ २१९ ॥ आगमपूर्वो मनोवाक्कायव्यापारः तस्य योगस्य विपरीतता गुप्तिर्गोपनं स्थगितास्रवद्वारः ॥ २२० ॥ संवृतात्मनस्तपसा

पूर्वार्जितस्य कर्मणः क्षयः । उपधान योगोद्वहनादि तेन नव्यकर्मप्रवेशाभावः ॥ २२१ ॥ जीवादिषु निश्चयेन परिणामः सद्भूतमिति ॥ २२२ ॥ शिक्षा जिनोदितक्रियाफलापाभ्यासः पुनः पुनः ॥ २२३ ॥ एतद्द्विप्रकारं विस्तराधिगमो विस्तरपरिच्छेदः विपरीतार्थग्राही प्रत्ययो विपर्ययः, समासतो द्वेधा ॥ २२४ ॥ आभिनिबोधिकं मतिज्ञानम् ॥ २२५ ॥

ज्ञानानां क्रमेणाष्टाविंशतिचतुर्दशषड्द्विभेदा उत्तराः । विषयो गोचरो मतिश्रुतयोः सामान्यतः सर्वद्रव्येषु-सर्वपर्यायेषु । अवधिरूपिषु । मनःपर्याय मनोगतद्रव्येषु । केवल तु सर्वद्रव्यसर्वपर्यायेषु । आदिशब्दात्क्षेत्रकाला-दिपरिग्रहः । एकस्मिन् जीवे युगपदेकादीनि कियन्ति भाव्यानि भजनीयानि । चत्वारि यावत्केवलावाप्तावपरज्ञाना-भावः ॥ २२६ ॥ मतिश्रुतावधयः ॥ २२७ ॥ समो रागद्वेषविकलस्तस्य आयो लाभस्तत्र भव सामायिकं । प्राक्तन-पर्यायच्छेद, उत्तरपर्यायस्थापनं । परिहरणं परिहारस्तेन विशुद्ध । सूक्ष्मोऽत्यन्तकिट्टीकृतः सपरायो लोभकषायः सूक्ष्म-सपरायगुणस्थानवर्तिनः अकषाय यथाख्यातम् ॥ २२८ ॥ अनेकैर्बहुप्रकारैः अनुयोगैः किं कतिविध कस्येत्यादिभिः प्रमाणैः प्रत्यक्षादिभिः समनुगम्य ज्ञेयम् ॥ २२९ ॥ एकतरस्याः सम्यग्दर्शनादिसंपद. अभावेऽपि । अपिः पूरणे । मोक्षमार्गोऽपि मुक्तिप्रापकोऽपि न सिद्धिकरः त्रिफलाव्यपदेशवत् ॥ २३० ॥ चारित्रंदर्शनज्ञानलाभे, चारित्रलाभे ॥ २३१ ॥ धर्मो दशविधः आवश्यकानि प्रतिक्रमणालोचनादीनि ॥ २३२ ॥ सम्यक्त्वादीना जघन्याद्याराधनानाम् ॥ २३३ ॥ सम्यक्त्वादिसपदां तत्परेण व्यग्रेण । तेष्वेव सम्यक्त्वादिषु । तत्परेषु साधुषु जिनेषु भक्तिरान्तरा प्रीतिः । उपग्रहस्तदुचितान्नपानशयनासनादिप्रदानरूपः समाधिः स्वास्थ्य स्वपरयोः एतेषा करणेन ॥ २३४ ॥ यत्नमेव प्रपञ्च-यति—गुणाना ज्ञानादीनां परतप्तिषु अधृष्यस्याधर्षणीयस्य । मत्सरश्चित्तस्य एव कोपः ॥ २३५ ॥ प्रशम एव निराबाधसुखं सदाचारे रतस्य साधोरिति । तस्य किं साधर्म्यं सुरासुरनरलोकेऽस्मिन् ॥ २३६ ॥ न केनापि व्यय प्रापितं बाधितम् ॥ २३७ ॥ विनिवृत्ता परस्मिन्नाशा येषाम् ॥ २३८ ॥ शब्दादीना विषयाणा परिणाममन्यथा-भवनरूप दुःखहेतुमेव च सप्रधार्य संसारे दुःखान्येव रागद्वेषात्मकानि ॥ २३९ ॥ प्रदोष प्रद्वेषं अव्यथितोऽपी-डितः ॥ २४० ॥ मौनी निरवद्यभाषी, एकाकी निष्कलहो वा, वशे स्थापितानि, परीषहाः सम्यक् सह्यन्ते, कषायाणामुदयो निरुद्धः ॥ २४१ ॥ शब्दादिसंगे निःस्पृहः, प्रशमगुणाः स्वाध्यायादयः तेषा समूहस्तेन विभू-षितोऽभिभवति देवमनुष्यादीना च ॥ २४२ ॥ विरतिः पापविरमण, ध्यान धर्मध्यानादि भावना अनित्याद्याद्याः योगा आवश्यकादिव्यापाराः, सुखेन ॥ ५४४ ॥ धर्मात् "खतीयमज्ज १०" । भूम्यादिजीवा नव अजीवा १० । करणकारणानुमतित्रयम् । मनोवचनकायत्रयम् ॥ २४५ ॥ ससारभीरुसुखप्राप्यपारस्य प्राप्तः विरक्ताया (क्षतताया) दूरानुयायिन तत्कालावस्थायामुचितं प्रकृष्टम् ॥ २४६ ॥ धर्मध्यानस्य भेदचतुष्टयमाह—सबुद्धिसंपर्कमाप्य ॥ २४७ ॥ वीतरागवचन चाज्ञायाः सर्वज्ञदत्तायाः गवेषण तस्या अर्थनिश्चयः । एभिर्हेतुभिरैहलौकिकोऽपायः पारलौकिको नरकतिर्यग्गतिभ्रमणरूपो धर्मार्थिना चिन्त्यते सोऽपायविचयः ॥ २४८ ॥ अशुभकर्मणा द्व्यशीतिविधाना, शुभ-कर्मणा द्विचत्वारिंशद्भेदाना विपाको रसः कटुकमधुरत्वादिस्तस्यानुचिन्तनार्थः, द्रव्याणां षण्णा, क्षेत्रमूर्ध्वाध-स्तिर्यग्भेदं तेषामाकारानुचिन्तनमनुगमन चिन्तनम् ॥ २४९ ॥ नित्योद्विग्नस्य संसारोपरि नित्यमुद्वेग कुर्वत. जित-कोपाहंकारस्य, कलिमल पाप जितसर्वलोभस्य ॥ २५१ ॥ विविक्तौ पृथग्भूतौ बन्धुजनशत्रुवर्गौ यस्य, समस्तुल्यो वासीचन्दनाभ्या कल्पनप्रदेहादिः च्छेदनानुलेपनादिः यस्य स तथैवंविधो देहो यस्य ॥ २५२ ॥ क्रान्तस्माभिरतः स्वकार्य एव व्याप्रियते, न बहिः प्रीतिं विदधाति, दृढमप्रमत्तस्य ॥ २५३ ॥ चित्तनैर्मल्यात् प्रमाददंडयोगैर्विशु-द्ध्यमानस्य विमुच्यमानस्य अग्र्या प्रधानभूताम् ॥ २५४ ॥ प्राक्तनकर्मक्षयकरणदक्षं, अथानन्तर घातिकर्मणा चतुर्णां क्षयैकदेशोऽसमस्तक्षयस्तद्युक्तं, ऋद्धय आमर्षौषध्यादयः, प्रवेका अवधिज्ञानादिविशेषाः, विभवास्तृणाग्रादपि कनक-वृष्टिकर्तृत्वादयः ते विद्यन्ते यत्र तत्तथा, जात भद्र कल्याणमस्य तस्य ॥ २५५ ॥

सुखविभूतिरसामृतकल्पाहारेषु अगुरुर्गौरवरहित अकृतादर इत्यर्थः । लब्धिमाकाशगमनादिका दुष्प्रापां कापुरुषैः, तस्यामामर्षौषध्यादिविभूतौ प्राप्तायामपि ॥ २५६ ॥ सर्वसुखर्द्धिश्चतुर्विधेन्द्रविभूतिः ॥ २५७ ॥ तज्जयं

तपोऽनुष्ठानजन्यातुल्यविभूतिबन्धाभिभव, यथा तीर्थकरतत्स्थानक प्राप्तस्तथाऽसावपि भवति ॥ २५८ ॥ पृथक्त्ववितर्कसविचार १ एकत्ववितर्कमविचारं २ कर्माष्टकमध्ये स्वामिनम् ॥ २५९ ॥ अथ क्षपकश्रेणिमारोहन् मोहमुन्मूलयन् प्रथम अनन्तानुबन्धिना यावज्जीवावस्थायिकषायाणा, ततो मिथ्यात्वमोह एव गहन, ततोऽपि मिश्र सम्यक्त्व च मिथ्यात्वं च सम्यग्मिथ्यात्वं, एतावता मिश्रम् ॥ २६० ॥ सम्यक्त्व क्षायोपशमिकपुञ्जरूपं, ततो द्वितीयतृतीयकषायान् ॥ २६१ ॥ हास्यरतीत्यादि उन्मूलनेऽ (लिते) ष्टाविंशतिविधेऽपि मोहे वीतरागो भवति ॥ २६२ ॥ सकल उद्घातितो ध्वस्तो मोहो येन सः, अनुपलक्ष्यो नाद्यापि स्वविषया प्रतीतिमुत्पादयितु प्रत्यलः, यथा राहुणा पूर्णचन्द्रो मुक्तोऽपि कियन्त कालमनुपलक्ष्यो भवति, तथा क्षीणमोह इति ॥ २६३ ॥ यथा ज्वालिताग्निः काष्ठादि., एव ध्यानाग्निः। अनन्तगुणं तेजो यस्य । तपोऽनशनादि । त एव हविर्घृतम् ॥ २६४ ॥ अनुप्राप्तः परिगतः, जीवानां सर्वेषा कर्ममाजा दहेत्, यदि संक्रमः स्यात् ॥ २६५॥ संक्रमः सामस्त्येन कर्मप्रवेश., अथ विभाग एकदेशोऽपि नाक्रामति ॥ २६६ ॥ शिरउद्गताया नाड्यास्क्षयात् वृक्षस्य ध्रुवो निश्चयेन भवति ॥ २६७ ॥ क्षपितकषायत्वात्, अन्तर्मुहूर्तकाल यावद्भूत्वा स्थित्वा, युगपदेककाल ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ४ अन्तरायाणा ५ क्षयमाप्य ॥ २६८ ॥ शाश्वतमनवरतमवनशीलत्वात्, अनन्त क्षयाभावात्, केनापि तस्यातिशयितुमशक्यत्वात्, अनुपममपगतोमानत्वात् अनुत्तरमविद्यमानोत्तरत्वात् निरवशेष परिपूर्णत्वेनोत्पत्तेः, सपूर्ण सकलज्ञेयग्राहित्वात्, अप्रतिहतं सदापि प्रतिघातकाभावात् ॥ २६९ ॥ कार्त्स्न्येपरिपूर्णे लोकालोके कृत्स्नवस्तुपरिच्छेदित्वात्, गुणपर्यायवद्द्रव्य, सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविन. पर्यायाः सर्वार्थे सर्वप्रकारैः ॥ २७० ॥ क्षीणघातिकर्मचतुष्कः भवोपग्राहिकर्मचतुष्कः वेदिता जघन्येन घटिकाद्वयम् ॥ २७१ ॥ तेनायुषाऽभिन्न सदृश क्षीरोदकवत् संस्थितचरमभवयोग्यमायुः केवलिना दुर्भेदमनपवर्तनीयत्वात्, तथा वेदनीयं कर्म, तदुपग्रहं तेनायुषोपगृह्यते उपष्टभ्यते तदुपग्रहमनपवर्तनीयत्वात्, आयुःकर्मणा सह वेद्यत्वात् ॥ २७२ ॥ अधिकतरम् ॥ २७३ ॥ दण्डमूर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्ज्वात्मक बाहल्यतः शरीरमान कपाट पूर्वापरलोकान्तव्यापिन समस्तनिष्कूटव्यापनाल्लोकव्यापी ॥ २७४ ॥ अन्तराणि निष्कूटगतजीवप्रदेशान् ॥२७५॥ औदारिकशरीरयापक प्रथमाष्टमसमययोर्दण्डकरणसंहारलक्षणयो. कथितोऽसौ केवली ॥ २७६ ॥ स केवली करणत्रयशुद्धयोगवान् उचितं सत्यं यतियोग्य योग व्यापार युक्त प्रवर्तयति, सयोगो मोक्ष न गच्छतीति योगनिरोधमुपैति प्राप्नोति ॥ २७७ ॥ तत्र प्रथमं मनोयोगं मनःपर्याप्तिजनितव्यापार शरीरप्रतिबद्ध मनोद्रव्यग्राहक, तद्वियोजनार्थं पञ्चेन्द्रियस्य सञ्ज्ञिनो मनःपर्याप्त्या प्रथमसमयपर्याप्तकस्य यः सर्वजघन्यमनोयोगो मनोवर्गणाग्रहणशक्तेर्व्यापारः तस्मात्स्वात्मनि असख्येयगुणहान्या प्रतिसमय निरुन्धन् सकल निरुणद्धि, मन.पर्याप्त्या रहितो भवति ॥ २७८ ॥ द्वीन्द्रियः कपर्दिकादिजीवः साधारणः सूक्ष्मनिगोदादिस्तयोः क्रमेण वाक्पर्याप्तिकायपर्याप्तिभ्यां प्रथमसमयपर्याप्तकयोर्जघन्ययोगौ क्रमेण वागुच्छ्वासरूपौ ताभ्यामसख्येयगुणहीनौ निरुणद्धि । सूक्ष्मकाययोगनिरोधे तु पनक उल्लिजीवस्तस्मादधोऽसंख्यगुणहीनः पर्याप्तिद्वयरहितो भवति ॥ २७९ ॥ सूक्ष्मकाययोगनिरोधकाले तृतीयशुक्लध्यानी भवति इति तन्निरूपयन्नाह—सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातिक ध्यायति । तदैव च शैलेशीं करोति स्वदेहत्रिभागहीनात्मप्रदेशाघनीभवति, ततः परेण शेषकालेन निरुद्धसकलयोगः व्युपरतसकलक्रियमनिवृत्ति ध्यान ध्यायन् चरमकर्मांश क्षपयति ॥ २८० ॥ चरमभवेऽन्तिममनुष्यजन्मनि, सस्थान देहोच्छ्रायप्रमाण, यस्य सिद्धिमुपजिगमिषोः तस्मात्त्रिभागहीनं तृतीयांशेन न्यून, सस्थानावगाहनापरिमाण करोति ॥ २८१ ॥ स भगवान् केवली, तस्यां शैलेश्यवस्थाया, मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्तः निरुद्धसकलयोगक्रियः, अपरिमितनिर्जरः बहुकर्मक्षपणयुक्त आत्मा यस्य सः, ससारमहासमुद्रादुत्तीर्णः पारप्राप्त एव तिष्ठति ॥ २८२ ॥ ईषत् ह्रस्वानां मनाग् ह्रस्वाक्षराणा पञ्चको ' अइउऋऌ ' रूपः तस्योद्गीर्णे प्रोच्चारणं तावन्मात्राया परिमाणतस्तत्तुल्यकालीया शैलेशी एति गच्छति सयमवीर्याप्तवलः सर्वसंवरवीर्येण प्राप्तबलः, विगताऽपगता लेश्या भावरूपा यस्य स. ॥ २८३ ॥ पूर्वरचितं प्रथममेव समुद्घातावसरेऽवस्थापित प्रकृतिशेष

गोत्रवेद्यायुषो यदवशिष्टमास्ते, तत्प्रकृतिशेषं सयमश्रेण्या अन्तर्मुहूर्तगतसमयप्रमाणाया संस्थाप्य, समये समये क्षपयन्, असख्यातगुणमुत्तरोत्तरेषु समयेषु ॥ २८४ ॥ चरमकर्मांशानुत्तरप्रकृतीः त्रयोदशसंख्याः विनिहत्यापनीय युगपदेककालम् ॥ २८५ ॥ सर्वगतियोग्यसंसारमूलहेतूनि, सर्वत्र भवनशीलानि, औदारिकादिशरीराणां यत्स्वरूपं तेन सर्वेण रहितः ॥ २८६ ॥ अवक्रश्रेणिगतिं, अविद्यमानस्पर्शां, अवक्रगत्या अप्रतिहतगतिः ॥ २८७ ॥ ज्ञानोपयोगेन वर्तमानः ततः परमुपयोगद्वय सिद्धानामिति ॥ २८८ ॥ सादिकं यस्मिन् सिद्धोऽजनि तमादिं कृत्वा, अनन्तं पुनः क्षयाभावात्, व्याबाधारहितं, केवलान्यद्वितीयानि क्षायिकानि, मुक्तः कृत्स्नकर्मक्षयात् ॥ २८९ ॥ मुक्तः सन् जीवोऽभावोऽसद्रूपः स्वलक्षणस्य ज्ञानदर्शनादेर्भावात्, स्वतोऽर्थसिद्धेः, यद्यपि छाद्मस्थिकोपयोगात्कैवल्योपयोगान्तरमुदेति, तथाप्युपयोगसाम्यान्न भिद्यते ज्ञानस्वभावत्वात्, भावान्तरसंक्रान्तेः जलस्थितलवणस्य रूपतोऽदर्शनेऽपि रसत उपलब्धिवत् ॥ २९० ॥ इहैव संसारे स न तिष्ठति, अनिबन्धात् मनुजादिभवकारणानामत्यन्तलयात्, अनाश्रयात् मुक्तस्य हि मनुजभवोऽनाश्रयः, किं तु सिद्धिरेव, संसारव्यापाराभावात् शरीरादिकारणाभावाच्च ॥ २९१ ॥ अधो न याति गुरुत्वाभावात् । अशक्योऽय भावो यत्कर्ममुक्तोऽधो यति । लोकान्तादपि परतो न याति मुक्तः, उपग्रहकारिधर्मद्रव्याभावात् । प्लवकस्तारकः यानपात्रं यथा स्थले न याति उपग्रहाभावात् ॥ २९२ ॥ योगो मनःप्रभृतिकः, प्रयोग आत्मनः क्रिया, तयोरभावान्न तिर्यग्गतिरस्ति । तथा सिद्धस्य मुक्तस्योर्ध्वमेव गतिर्भवति कियद्यावदालोकान्तम् ॥ २९३ ॥ कुम्भकारप्रभ्रामितचक्रस्य तद्व्यापाराभावेऽपि भ्रमणवत्, एरण्डफलवत्, अलाबुवत्, परमहंसवत्, ज्वलनधूमवत्, तृतीये शुक्लध्याने सूक्ष्मक्रियया प्रयोगेण ॥ २९४ ॥ घटमानः प्रवचनोक्तसकलक्रियासु प्रयत्नेन चेष्टतेऽहर्निशं क्रियासु ॥ २९६ ॥ वीर्यसंपत्साहससमृद्धिः । एतेषां संहननादीनां वैकल्यात् । कर्मणा निकाचनावस्थाप्राप्तिः । कर्मक्षयमकृत्वाऽविधाय उपरमं विनाशमेति गच्छति ॥ २९७ ॥ नवसु ग्रैवेयकेषु । 'अर्ह मह पूजायां' इति धातोर्महान्ति पूज्यानि ऋद्धिद्युतिवपूंषि यस्य ॥ २९८ ॥ विशिष्टान्वयेषु बहुपुरुषेषु गुणवत्सु सम्यक्त्वादिगुणयुतेषु ॥ २९९ ॥ उत्पत्तिमात्मलाभं प्राप्य । कुलमुग्रादि । बन्धुः पित्रादिवंशः । विभवो धनादिः । रूपं सुन्दराकारादि समतास्वभावं । बलं प्राणं । बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिका । ताभि. संपन्नः ॥ ३०० ॥

भावितोऽन्तरात्मा मनो यस्य सः । ततः पर मनुष्यलोकात् स्वर्गान्तरितः ॥ ३०१ ॥ इह मनुष्यलोके जिनागमे मनुष्यः श्रावकः निश्चयेन कृतनिश्चयः । अतिशयजाताभिधेय., दर्शनं सम्यक्त्व शीलमुत्तरगुणाः, व्रतानि प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणुव्रतानि, भावना अनित्यभावनादिका द्वादश, एभी रजित वासित मनो यस्य सः ॥३०२॥ स्थूला बादराः प्राणिनः तेभ्यो विरतिस्तेषामवधः, न पृथिव्यादिस्थावरेभ्यः । कन्यादिविषयमनृतमन्यथाभाषण । बृहच्चौर्यं यस्मिन् हृते चौर इति व्यपदिश्यते । परपरिगृहीतस्त्रीगमन । रतिर्विषयादिषु प्रीति , अरतिर्व्रतादिषूद्वेगः, ताभ्यां सदा वर्जितः । दिग्व्रतं षट्सु दिक्षु गमनपरिमाणं देशावकाशिक प्रतिदिनगमनादेर्मर्यादाकरणं । अनर्थदंडः शरीरादीनां प्रयोजन विना पापोपदेशादि ॥३०३॥ सामायिक द्विविधं त्रिविधेन योगेन सावद्ययोगप्रत्याख्यानं प्रतिक्रमणं च । पौषध सत्याहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपचतुर्विधोऽष्टम्यादिषु विशेषेण तं करोति । उपभोगोऽन्नपानपुष्पधूपस्नानागरागादिः । परिभोगो वस्त्रालंकारांगनाशयनासनसदनादिस्तयो परिमाण, यत्र व्रते कृत्वा विधाय न्यायागतमर्गार्हितव्यवहारेणोपात्त साधूना देयवस्तु कल्प्य साधूनामनुद्दिश्य कृतं । विधिनेति निष्पन्नपाकः सर्वोऽपि सत्कारपूर्वकम् ॥ ३०४ ॥ चैत्यानि जिनबिंबानि, आयतनानि तेषामेवागाराणि, प्रस्थापना तेषामेव प्रकृष्टमहाविभूत्या वादित्रगीतनृत्यतालानुचरस्वजनपरिवारादिकया प्रतिष्ठा । एतानि कृत्वा विधाय शक्तितः स्वसामर्थ्यानुसारेण प्रवचनप्रोद्भावना स्याच्चया पूजा सपर्या ॥ ३०५ ॥ प्रशमे कषायादिजये रति. प्रीतिस्तस्या नित्यं सदाकाल तृषितः साभिलाषः । जिनेऽर्हत्सु, गुरुष्वाचार्यादिषु, सत्साधुषु, वन्दनाभिरतो नमस्कारेण प्रीतः । काले स्वायुश्छेदासन्ने । सलेखना कषायाद्यल्पीकृततनः क्रियां । योगेन शुभध्यानेन सुविशुद्धामाराधनाभिमुखीकृत्य ॥ ३०६ ॥ प्राप्तो लब्धं कल्पेषु अधिपतित्वं वा सामानि-

क्त्वमन्यद्वा सामान्यदेवत्वं विमानवासविशिष्टमवाप्य तत्र स्थानानुरूप सुखम् ॥ ३०७ ॥ अर्यदेशजातिकुलविभव-रूपसौभग्यादिका सम्यक्त्वादिगुणसंपद च ॥ ३०८ ॥ मनुष्येपु ॥ ३०९ ॥ कविरात्मन औद्धत्य परिहरति–धर्म-कथिका द्विविधधर्मप्रतिपादिका इमा प्रशमरतिं रत्नाकरादिव जीर्णकपर्दिकामिव 'प्रशमप्रीत्या ॥ ३१० ॥ सर्वात्म-नाऽशेषप्रकारै. सततमनवरत, यत्नः कार्यः ॥३११॥ इह प्रशमरतिप्रकरणेऽसमनसमसंगत, छन्दो रचनाविशेषः, शब्दः सस्कृतादिभेदभिन्नः, समय. सिद्धान्तः, तस्यार्थोऽभिधेय मर्षयितव्य क्षन्तव्यम् ॥ ३१२ ॥ ऐहिकामुष्मिकसुखमूलकारण सर्वभावाना विनिश्चयो निर्णयस्तस्य प्रकटनकर क्षान्त्यादिरुवर्गुणसिद्धिसाधने धनमिव जयमनुभवति ॥ ३१३ ॥

परिशिष्ट

२–प्रशमरतिप्रकरणकी कारिकाओंकी अनुक्रमणिका।

प्रशमरतिप्रकरणम्

परिशिष्ट ३ संस्कृत टीकामें उद्धृत पद्योंकी अनुक्रमणिका ।